भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त

डा. कृष्णदेव शर्मा

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त

[विभिन्न भारतीय काव्य-सम्प्रदायों, काव्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-रूपों का विशद विवेचन-विश्लेषण]

डॉ० कृष्णदेव शर्मा, एम. ए., पी-एच. डी.
रामलाल आनन्द कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

●इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय काव्यशास्त्र से सम्बन्धित प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण पक्ष और उनसे सम्बन्धित अधुनातन चिन्तन सहज ही समाविष्ट हो गया है। यद्यपि काव्यशास्त्र के ये सभी पक्ष, बल्कि यूँ कहें कि स्वयं काव्यशास्त्र ही एक शास्त्र होने के नाते शास्त्रीय दुरूहता, यत्किंचित नीरसता के दोषों से आक्रान्त होता है तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ में इन सभी कठिन और दुरूह विषयों को यथासम्भव सरल और बोधगम्य शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है और आशा है कि इसी एक-मात्र कारण से प्रस्तुत विवेचन अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकेगा।

●'भारतीय काव्यशास्त्र' नाम्नी यह पुस्तक किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करती है, वरन् इसमें भारतीय मनीषियों, आचार्यों, विद्वानों और आलोचकों के मतों का सार एक ही स्थान पर सरलतम रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। यह इस पुस्तक की अपनी विशिष्टता है। अतः लेखक उन सभी भारतीय मनीषियों, आचार्यों, विद्वानों और आलोचकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है, जिनका प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में हाथ रहा है।

●ज्ञान-सागर अगाध है और मेरा ज्ञान उसकी एक बूँद के सदृश भी नहीं है, अतः भूल होना सम्भव है। जो अधिकारी विद्वान् मेरी त्रुटियों को बतलाने की अनुकम्पा करेंगे, मैं उनका हृदय से आभारी होऊँगा और पुस्तक के अगले संस्करण में उन्हें सुधारने की चेष्टा करूँगा।

●यदि यह अकिंचन प्रयास काव्यशास्त्र के जटिल प्रश्नों को बोधगम्य शैली में प्रस्तुत कर सका है, तो निश्चय ही यह इसकी सफलता होगी।

73, गौतम नगर,
नई दिल्ली–49

—कृष्णदेव शर्मा

विषय-सूची

1

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा

आधुनिक युग में जिन अर्थों में काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र का प्रयोग किया जाता है आरम्भ में उसके लिए क्रियाकल्प, काव्यलक्षण आदि का प्रयोग किया जाता था। क्रियाकल्प अथवा काव्यलक्षण के अन्तर्गत काव्यरचना के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित नियमों, सिद्धान्तों आदि का विवेचन किया जाता रहा है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि भारतीय चिन्तन में काव्यसृजन और काव्यशास्त्र दोम वंथा पृथक अवधारणाएँ रही हैं। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत भारतीय विद्वानों ने काव्य से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का विस्तार से विवेचन किया है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यशास्त्र और काव्यसृजन दो सर्वथा स्वतन्त्र क्रियाएँ रही हैं और काव्य-शास्त्र के लिए आरम्भ में क्रियाकल्प, साहित्यविधा, अलंकारशास्त्र आदि कई नामों का प्रयोग किया जाता रहा है। काव्यशास्त्र में वर्णित चौसठ कलाओं में उल्लिखित 'क्रियाकल्प' इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

संस्कृत काव्यशास्त्र—भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा वस्तुतः संस्कृत के काव्यशास्त्रीय चिन्तन की ही परम्परा है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अतिरिक्त हिन्दी में भी काव्यशास्त्रीय चिन्तन की एक सुदीर्घ परम्परा उपलब्ध है। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य अधिकांशतः काव्यशास्त्रीय विवेचन ही है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत विवेचन का आधार मुख्यतः कवि, काव्य और प्रमाता का त्रिकोण रहा है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इन्हीं तीनों तत्त्वों की परिधि में काव्य के व्यापक क्षेत्र का विवेचन किया है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में, "काव्य हेतु, काव्यस्वरूप एवं काव्यप्रयोजन के अन्तर्गत काव्यसृजन की प्रेरणा एवं प्रक्रिया से लेकर उसके आस्वादन-उपभोग तक से सम्बद्ध प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है। रस, ध्वनि, अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति के सन्दर्भ में काव्य के प्राणतत्त्व की खोज एवं काव्यास्वाद के स्वरूप का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। दृश्यकाव्य के विवेचन में संस्कृत काव्यशास्त्री ने रंगमंच की सज्जा से लेकर प्रेक्षक के मनोविज्ञान तक का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया है।"

भारतीय काव्यशास्त्र के आरम्भ का प्रश्न अब विवादपूर्ण नहीं रहा है। यद्यपि कई विद्वान विद्या तथा ज्ञान के अन्य स्रोतों की भाँति ही काव्यशास्त्र का मूल

भी वैदिक वाङ्मय में ढूंढ़ते हैं तथापि यह प्रायः सर्वमान्य हो चुका है कि भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ कम से कम वैदिक वाङ्मय से नहीं माना जा सकता। यह सच है कि प्राचीन काव्यशास्त्र में कहीं-कहीं उपमा आदि काव्यशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु यह भी उतना ही सच है कि वैसे प्रयोग विशुद्ध रूप से व्याकरण सम्बन्धी प्रयोग ही हैं। भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आदि ग्रन्थ वस्तुतः भरतमुनि द्वारा विरचित नाट्यशास्त्र ही है। भरतमुनि का समय ईसापूर्व दूसरी शताब्दी माना जाता है किन्तु ईसा की छठी शताब्दी के मध्य तक उनका 'नाट्यशास्त्र' भारतीय काव्यशास्त्र का प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में समादृत रहा। यद्यपि स्वयं भरतमुनि ने यह स्वीकार किया है कि उनसे पूर्व भी काव्यशास्त्रीय चिन्तन का छिटपुट विवेचन उपलब्ध है तथापि एक सुव्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही भारतीय काव्यशास्त्र की प्रथम मौलिक रचना माना जाता है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में केवल नाटक का ही नहीं अपितु नाट्य सम्बन्धी अन्य कलाओं (संगीत, नृत्य आदि) का भी विस्तार से विवेचन किया है। भरत के नाट्यशास्त्र की एक अन्यतम विशेषता यह है कि उन्होंने रस-सिद्धान्त और अलंकार-वाद दोनों मुख्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के लिए उपयुक्त आधारभूमि का निर्माण किया। भरत के पश्चात् रस और अलंकार की जो एक सुदृढ़ और सुदीर्घ परम्परा दीखती है, उसके मूल में निस्सन्देह भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही है।

भरत के पश्चात् लगभग पाँच शताब्दियों तक कोई महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ सामने नहीं आया। ईसा की छठी शताब्दी में पुनः अलंकार की महत्ता प्रतिष्ठित हुई और छठी से नवीं शताब्दी तक अलंकार की एकछत्र सत्ता बनी रही। इस युग के अलंकारवादी काव्यशास्त्रियों में भामह, दण्डी, उद्भट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी काव्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अलंकार की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की और भरत के रसवाद को केवल नाट्य में ही स्वीकृति प्रदान की गई। निस्सन्देह इन अलंकारवादी आचार्यों की मूल दृष्टि देहवादी थी और इन्होंने काव्य की आत्मा 'रस' को उसके बाह्य अलंकारों में समाविष्ट कर दिया। दूसरे शब्दों में, इन देहवादी आचार्यों ने रस को अलंकार की व्यापक परिधि में समेट लिया। इन अलंकारवादी आचार्यों ने पूरे तीन सौ वर्ष तक अलंकार-सम्प्रदाय का पक्षपोषण किया। इस दृष्टि से भामह सबसे पहले अलंकारवादी आचार्य माने जाते हैं। भामह ने अपने काव्यशास्त्रीय चिन्तन में दो महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं— पहली तो यह कि उन्होंने काव्यगुणों का अपेक्षतया अधिक वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण भेद-निरूपण प्रस्तुत किया और दूसरी यह कि उन्होंने काव्य के सभी अलंकारों में वक्रोक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया। भामह के पश्चात् दण्डी ने भी काव्य के विभिन्न अवयवों का विस्तार से विवेचन किया और यह निर्विवाद है कि इनका समूचा चिन्तन भामह से पूरी तरह प्रभावित है। दण्डी के पश्चात् भामह की इस परम्परा में उद्भट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उद्भट की एक महत्त्वपूर्ण

विशेषता यह है कि उन्होंने रसवत् अलंकारों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। रसवत् अलंकारों की प्रकल्पना तो मूलतः भामह की थी किन्तु उसके वैज्ञानिक विवेचन का श्रेय उद्भट को ही दिया जा सकता है। उद्भट की अन्य उपलब्धि यह थी कि उन्होंने उपनागरिका आदि वृत्तियों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया।

अलंकारों के मूल तत्त्वों का विश्लेषण करने वाले काव्यकास्त्रियों में रुद्रट का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। रुद्रट ने कई अलंकारों का विस्तार से विवेचन किया है और कतिपय नए अलंकारों की प्रकल्पना भी प्रस्तुत की है। रुद्रट की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्रेयस नामक रस की प्रकल्पना है जो कि परम्परागत नौ रसों से हट कर की गई है। रुद्रट के पश्चात् लगभग 600 वर्षों तक अलंकारों के भेद निरूपण, नए-नए नामकरण आदि की दिशा में ही कार्य होता रहा। अलंकार-सम्प्रदाय से सम्बन्धित मौलिक चिन्तन की धारा रुद्रट के साथ ही समाप्त समझनी चाहिए। अलंकार-सिद्धान्त की इस सुदीर्घ और सुदृढ़ परम्परा को सुरक्षित बनाए रखने में रुय्यक, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, जयदेव आदि अलंकारवादी आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छठी से नवीं शताब्दी तक का युग अलंकार-सम्प्रदाय का शैशव काल था। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में जिस रसवादी दृष्टिकोण की स्थापना की थी और जो अलंकारवादियों के अलंकारों की दमक में मन्द पड़ गया था, नवीं शताब्दी के अन्त तक पुनः जीवित हो उठा। भट्टलोल्लट, शंकुक आदि ने भरत के बहुचर्चित रस-सूत्र की नई-नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं और इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में रस की पुनः प्रतिष्ठा हो गई। इसी युग में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में एक और महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। नवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया। यद्यपि वामन से पूर्व भी रीति का विवेचन हुआ है किन्तु उसे काव्य की आत्मा का गौरवपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य वामन को ही दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि भामह और दण्डी ने भी रीति का उल्लेख किया है किन्तु "रीति को विशिष्ट अर्थ प्रदान करते हुए रीति-सिद्धान्त की विधिवत् स्थापना का श्रेय वामन को ही प्राप्त है। वामन काव्य-सौन्दर्य के विधायक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशेष प्रकार की पद-रचना को रीति मानते हैं और यह रीति ही उनके अनुसार काव्य का प्राणतत्त्व है। वामन ने अपने ग्रन्थ के प्रथम अधिकरण में काव्यात्मा के रूप में रीति की प्रतिष्ठा कर उसके भेदोपभेदों का सविस्तार विवेचन किया है।"

संस्कृत काव्यशास्त्र की एक गौरवपूर्ण उपलब्धि ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना है। नवीं शताब्दी के मध्य में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की और काव्य की आत्मा सम्बन्धी सभी पूर्ववर्ती अवधारणाओं को अमान्य घोषित किया। दसवीं शताब्दी के मध्यकाल में भट्टनायक ने भरत-सूत्र की व्याख्या की। दसवीं शताब्दी के ही उत्तरार्द्ध में अभिनवगुप्त ने पुनः रस की महत्ता के प्रति आग्रह

व्यक्त किया। अभिनवगुप्त की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने भरत-सूत्र के पूर्ववर्ती व्याख्याताओं के मतों की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण और विशद विवेचना की तथा आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' की टीका भी प्रस्तुत की। इसी युग में धनंजय, भोजराज, महिमभट्ट तथा क्षेमेन्द्र आदि काव्यशास्त्रियों ने भी भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन सभी काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से काव्य के विभिन्न अवयवों का विवेचन-विश्लेषण किया। धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में 'नाट्यशास्त्र' सम्बन्धी मौलिक चिन्तन का परिचय दिया और भोजराज ने 'सरस्वतीकंठाभरण' तथा 'शृंगारप्रकाश' में काव्य-दोष, गुण, रस, अलंकार, भाव आदि विषयों का विवेचन किया। भोजराज की एक अन्यतम उपलब्धि यह है कि उन्होंने शृंगार को ही एकमात्र रस घोषित किया। क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की विधिवत स्थापना की। कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक अत्यन्त व्यापक आधार प्रदान किया और काव्य के सभी तत्त्वों का समाहार वक्रोक्ति में कर दिया। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा का गौरवपूर्ण स्थान दे दिया और इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना हो गई। वक्रोक्ति का आशय असाधारण वर्णन शैली से है। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर—अपनी भावगत सुकुमारता से काव्य में चमत्कार-सृष्टि कर देता है। कुन्तक के मत से काव्य-सृजन मूलत: एक कवि-व्यापार है और कवि अपनी प्रतिभा के बल पर प्रसिद्ध कथन-शैली से हट कर चारुतर वर्णन-शैली का प्रयोग करता है। काव्य के प्रसंग में कलावादी मूल्यों की स्थापना का श्रेय भी कुन्तक को दिया जाता है क्योंकि उन्होंने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में काव्य का सम्बन्ध कवि-प्रतिभा से जोड़ा है। कुन्तक ने अपने बहुचर्चित ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति के स्वरूप-निर्धारण में सर्वथा मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है।

कुन्तक के पश्चात् वक्रोक्ति की महत्ता घट गई और उसे मात्र एक अलंकार का ही स्थान प्राप्त हुआ। कुन्तक ने वक्रोक्ति को जो सर्वोपरि स्थान दिया था, परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उसका खण्डन किया और परिणामत: वक्रोक्ति की गणना एक अलंकार के रूप में होने लगी। संस्कृत काव्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास यहीं समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात तो प्रत्यक्षत: अथवा परोक्षत: ध्वनि-सिद्धान्त का ही पक्षपोषण होता रहा। इस सम्बन्ध में रुय्यक, जयदेव से लेकर मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ तक के काव्याचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक का युग मुख्यत: रस की प्रतिष्ठा का युग ही रहा। इस युग में अनेक काव्यशास्त्रियों ने रस-सिद्धान्त का पक्षपोषण किया। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रियों, उनकी कृतियों और उनकी मुख्य स्थापनाओं का सार निम्न तालिका में दिया गया है :

			मूल स्थापनाएँ
1. दूसरी शताब्दी	भरतमुनि	नाट्यशास्त्र	(क) नाट्य के विभिन्न पक्षों का विवेचन। (ख) 'रस' को समस्त ललित कलाओं के प्राणतत्त्व के रूप में मान्यता। (ग) अलंकारों, काव्य-गुणों-दोषों आदि का विवेचन।
2. सातवीं शताब्दी	भामह	काव्यालंकार	(क) अलंकारवाद की सुस्पष्ट और वैज्ञानिक मीमांसा। (ख) काव्य-शरीर, अलंकार, दोष, न्याय-निर्णय आदि का विवेचन। (ग) वक्रोक्ति को सभी अलंकारों के मूल के रूप में मान्यता।
3. आठवीं शताब्दी का आरम्भ	दण्डी	काव्यादर्श	(क) काव्यलक्षण, काव्यभेद, रीति, गुण, अलंकार, यमक आदि का विवेचन। (ख) काव्य-दोषों का निरूपण।
4. आठवीं शताब्दी का मध्य	वामन	काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति	(क) रीति-सिद्धान्त की स्थापना। (ख) दोषदर्शन, गुण-विवेचन, अलंकार-विवेचन।
5. आठवीं शताब्दी का अन्त	उद्‌भट	काव्यालंकार संग्रह	(क) उपनागरिका आदि वृत्तियों का निरूपण। (ख) रसवत् अलंकार का विशद एवं वैज्ञानिक विवेचन।
6. नवीं शताब्दी का आरम्भ	लोल्लट	नाट्यशास्त्र की टीका (अप्राप्य)	(क) भरत के रस-सूत्र की व्याख्या। (ख) रसशास्त्र की विवेचन पद्धति में दार्शनिक आधार।
7. नवीं शताब्दी का प्रथम चरण	शंकुक	नाट्यशास्त्र की टीका (अप्राप्य)	भरत-सूत्र की व्याख्या।
8. नवीं शताब्दी का प्रथम चरण	रुद्रट	काव्यालंकार	(क) अलंकारवाद की स्थापना। (ख) अलंकार-सिद्धान्त के मूल तत्त्वों का निर्धारण।

समय	आचार्य	ग्रन्थ	मूल स्थापनाएँ
9. नवीं शताब्दी का मध्ययुग	आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक	(क) ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा। (ख) ध्वनि के भेदोपभेदों, प्रयोजन का सविस्तार वर्णन।
10. नवीं शताब्दी का अन्तिम चरण	व्यास	अग्निपुराण	(क) उक्ति-चमत्कार को महत्ता दी गई। (ख) विभिन्न मतों का समन्वय किया गया। (ग) रस को काव्य की आत्मा का स्थान दिया गया।
11. दसवीं शताब्दी का मध्यकाल	राजशेखर	काव्य मीमांसा	(क) काव्यशास्त्र के विविध पक्षों का उद्घाटन। (ख) कवि, काव्य के स्वरूप, काव्य-भेद आदि का विवेचन।
12. दसवीं शताब्दी का मध्यकाल	भट्टनायक	हृदयदर्पण (अप्राप्य)	द्वैताधृत भोगवाद की स्थापना।
13. दसवीं शताब्दी	धनंजय	दशरूपक	(क) नाट्यालोचन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। (ख) रस-सिद्धान्त का पक्षपोषण।
14. ग्यारहवीं शताब्दी का आरम्भ	भोज	सरस्वतीकंठाभरण तथा श्रृंगारप्रकाश	(क) काव्य-दोषों, गुणों, अलंकार, रस, भाव, सन्धि तथा वृत्तियों का विवेचन। (ख) अलंकार-सामग्री का विवेचन।
15. ग्यारहवीं शताब्दी का आरम्भ	कुन्तक	वक्रोक्ति-जीवित	(क) वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना। (ख) काव्य के प्रायः सभी तत्त्वों को वक्रोक्ति के व्यापक परिवेश में अन्तर्भुक्त करके वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करना।
16. ग्यारहवीं शताब्दी का आरम्भ	अभिनवगुप्त	ध्वन्यालोक लोचन तथा अभिनव भारती	(क) नाट्यशास्त्र की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गई। (ख) भरत-सूत्र के व्याख्याताओं के अभिमतों का खण्डन करके रसानुभूति को अद्वैतप्रेरित अभिव्यक्तिवाद का दार्शनिक आधार प्रदान किया।

				(ग) ध्वनि की अत्यन्त गम्भीर मीमांसा प्रस्तुत की ।
17.	ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध	क्षेमेन्द्र	औचित्य विचारचर्चा तथा कविकंठाभरण	(क) औचित्य-सिद्धान्त की स्थापना की गई । (ख) औचित्य को काव्य का सर्वस्व सिद्ध किया गया ।
18:	ग्यारहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग	महिमभट्ट	व्यक्ति विवेक	ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करके ध्वनि को अनुमान में अन्तर्भुक्त किया ।
19.	ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल	मम्मट	काव्यप्रकाश	(क) काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यभेद, शब्द-शक्ति तथा रसस्वरूप का विशद वर्णन । (ख) अनुमानवाद, अभिधावाद तथा लक्षणवाद का प्रबल खण्डन किया गया ।
20.	बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध	रुय्यक	अलंकारसर्वस्व, साहित्यमीमांसा, सहृदयलीला, व्यक्ति-विवेक व्याख्यान, काव्यप्रकाश संकेत	(क) अलंकारवाद का पक्षपोषण । (ख) अलंकार-वर्गीकरण की दिशा में मौलिकता का परिचय ।
21.	बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण	हेमचन्द्र	काव्यानुशासन	(क) अलंकारवाद का पक्षपोषण । (ख) प्रायः समस्त काव्यांगों की चर्चा । (ग) ध्वनि के प्रति सहानुभूति के भाव का प्रदर्शन ।
22.	बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण	रामचन्द्र-गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	(क) नाटक के सन्दर्भ में रस का विवेचन । (ख) रस का स्वरूप सुख-दुःखात्मक माना गया । (ग) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाट्य-विवेचन ग्रन्थ ।
23.	तेरहवीं शताब्दी का आरम्भ	जयदेव	चन्द्रालोक	(क) अलंकार-सिद्धान्त का पक्षपोषण । (ख) वृत्ति, रस तथा अलंकारयुक्त वाणी को काव्य स्वीकार किया ।

	समय	आचार्य	ग्रन्थ	मूल स्थापनाएँ
24.	तेरहवीं शताब्दी का मध्य	शारदातनय	भावप्रकाशन	रससामग्री का अत्यन्त विस्तृत, गहन और सूक्ष्म विवेचन।
25.	तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी	विद्याधर	प्रतापरुद्र यशोभूषण	(क) अलंकार-सिद्धान्त का पक्षपोषण। (ख) अलंकार-वर्गीकरण को वैज्ञानिक रूप दिया गया।
26.	तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी	विद्याधर	एकावली	ध्वनि-सिद्धान्त का पक्षपोषण।
27.	तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी	भानुदत्त	रसतरंगिणी तथा रसमंजरी	रस-सिद्धान्त का समर्थन।
28.	चौदहवीं शताब्दी	विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	(क) रस-सम्प्रदाय का पक्षपोषण। (ख) व्यापक सन्दर्भ में रस के स्वरूप का विश्लेषण। (ग) काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण विषयों का सविस्तार विवेचन।
29.	सोलहवीं शताब्दी मध्यकाल	रूपगोस्वामी	उज्ज्वल नीलमणि हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु तथा नाट्य-चन्द्रिका	रस-सम्प्रदाय का पक्षपोक्षण।
30.	सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध	कविकर्णपूर	अलंकार कौस्तुभ	रस-सम्प्रदाय का पक्षपोषण।
31.	सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध	अप्पयदीक्षित	कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा	अलंकार-सम्प्रदाय का पक्षपोषण।
32.	सत्रहवीं शताब्दी का आरम्भ	जगन्नाथ	रसगंगाधर	(क) ध्वनि-सिद्धान्त का समर्थन। (ख) ध्वनि-सिद्धान्त का समर्थन करने पर भी रस की उपेक्षा नहीं की गई। (ग) ध्वनि का भेद-निरूपण तथा रस-ध्वनि को सर्वोपरि स्थान

हिन्दी काव्यशास्त्र—संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्पराओं के आधार पर ही हिन्दी में भी काव्यशास्त्रीय चिन्तन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। हिन्दी में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आरम्भ रीतिकालीन साहित्य से माना जाता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी काव्यशास्त्र को मुख्यतः तीन चरणों में बाँटा जा सकता है—(1) आरम्भ युग, (2) विकास युग (रीतिकाल), (3) उत्कर्ष युग (आधुनिक काल)। आरम्भ युग का आशय रीतिकालीन साहित्य से पहले के काव्यशास्त्रीय चिन्तन से है। हिन्दी में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आरम्भिक उपलब्ध ग्रन्थ कृपाराम द्वारा विरचित 'हिततरंगिणी' है जिसका समय विक्रमी संवत 1598 माना गया है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन की इस परम्परा का वास्तविक विकास रीतिकालीन साहित्य में देखा जा सकता है। आधुनिक काल में काव्याचार्यों ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन की समन्वित आधारभूमि पर एक स्वतन्त्र साहित्यशास्त्र का प्रणयन किया है।

आरम्भ युग—इस सम्बन्ध में विद्वानों में पूर्ण मतैक्य है कि हिन्दी में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आरम्भ रीतिकाल से पूर्व ही हो चुका था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पुण्ड तथा पुष्य नामक कवियों का उल्लेख किया है (विक्रमी संवत् 770) जिन्होंने काव्य सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया है। इन कवियों की कोई भी प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं है अतः उन्हें केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही दिया जा सकता है। कई विद्वानों ने सिद्धशान्ति (1000 ईस्वी), हेमचन्द्र सूरी (1082 से 1179 ईस्वी) आदि विद्वानों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने हिन्दी में काव्यशास्त्रीय चिन्तन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वस्तुतः इन सभी विद्वानों का महत्त्व केवल ऐतिहासिक अनुक्रम की दृष्टि से ही देखा जा सकता है क्योंकि इनका मूल विषय काव्यशास्त्र नहीं था।

अधुनातम शोध के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी में काव्यशास्त्र का पहला मौलिक, उपलब्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ कृपाराम द्वारा विरचित 'हिततरंगिणी' है। डा० भगीरथ मिश्र, डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा डा० नगेन्द्र आदि विद्वानों ने भी एकमत से कृपाराम की हिततरंगिणी को हिन्दी का प्रथम प्रामाणिक रीति-ग्रन्थ स्वीकार किया है। हिततरंगिणी की रचना विक्रमी संवत् 1598 में हुई थी और इसमें मुख्यतः नायिका-भेद पर ही विचार किया गया है। यह ग्रन्थ अपने आप में एक साधारण कोटि का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है और इसमें विषय-विवेचन की अन्तरंगता, मौलिकता के दर्शन नहीं होते। निःसन्देह ऐतिहासिक दृष्टि से हिततरंगिणी को हिन्दी के प्रथम मौलिक ग्रन्थ को स्थान दिया जा सकता है किन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। कृपाराम के पश्चात् हिन्दी में ऐसे कई कवि-आचार्यों के नाम उल्लेख्य हैं जिन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अपना योगदान दिया है। इस दृष्टि से सूरदास द्वारा विरचित 'साहित्य लहरी', गोपा द्वारा विरचित 'रामचन्द्र भूषण' तथा 'रामचन्द्राभरण' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। सूरदास ने 'साहित्य लहरी' में (संवत् 1607) नायिकाओं, अलंकारों आदि का सविस्तार वर्णन किया है और गोपा

के 'रामचन्द्र भूषण', 'रामचन्द्राभरण' आदि विशुद्ध रूप से अलंकार ग्रन्थ हैं। गोपा के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में विवाद है, कुछ तो उनका समय संवत् 1615 मानते हैं तथा कतिपय विद्वानों के अनुसार उनका समय संवत् 1773 है।

गोपा के पश्चात् हिन्दी काव्यशास्त्रीय परम्परा में रस-विवेचन का युग आरम्भ होता है और इस दृष्टि से मोहनलाल मिश्र (संवत् 1616), नन्ददास (संवत् 1600 लगभग), करनेस, बलभद्र मिश्र (1640 संवत्), रहीम आदि विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मोहनलाल मिश्र ने अपने 'श्रृंगार सागर' में श्रृंगार रस के साथ-साथ नायिका-भेद पर भी सविस्तार विचार किया है। नन्ददास ने 'रूपमंजरी', 'विरहमंजरी' और 'रसमंजरी' नामक तीन लक्ष्य ग्रन्थों की रचना की जिनमें रस-मंजरी का विशेष महत्त्व है। करनेस ने अपने 'श्रुतिभूषण' और 'भाषाभूषण' ग्रन्थों में अलंकारों का ही निरूपण किया है। बलभद्र मिश्र ने पुन: 'नखशिख' और 'रसविलास' नामक ग्रन्थों में श्रृंगार रस का विस्तृत विवेचन किया है। रहीम ने 'बरवैनायिका-भेद' में नायिका-भेद निरूपण किया है। स्पष्टतः इस युग के कवि-आचार्यों ने अपनी समूची प्रतिभा का प्रयोग श्रृंगार रस और नायिका-भेद विवेचन में ही किया। इन सभी के विवेचन में मौलिकता, स्वच्छता और वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव है और इसका कारण स्पष्टतः यही है कि इन कवि-आचार्यों का उद्देश्य काव्यशास्त्र के गम्भीर विषयों का विवेचन करना नहीं अपितु संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा को हिन्दी में प्रस्तुत करके आचार्यत्व का गौरव प्राप्त करना था। स्वभावतः इनके कथित काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में छिछलापन दीखता है।

विकास युग (रीतिकाल)—हिन्दी काव्यशास्त्र में मौलिकता के प्रथम दर्शन रीतिकालीन कवि-आचार्यों में होते हैं। रीतिकाल से पहले हिन्दी के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में जो छिटपुट प्रयास हुए भी थे, वे निश्चित रूप से हिन्दी काव्यशास्त्र के शैशवकाल के परिचायक कहे जा सकते हैं। काव्यशास्त्र के गम्भीर प्रश्नों पर गम्भीर और मौलिक चिन्तन की परम्परा का वास्तविक विकास रीतिकाल में ही हुआ है और इस दृष्टि से सर्वप्रथम आचार्य केशव का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य केशव में हिन्दी काव्यशास्त्र को प्रवर्तक कवि-आचार्य के दर्शन हुए। केशव एक अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न कवि-आचार्य थे और उन्होंने 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' नामक ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया है। केशव का समय विक्रमी संवत् की सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से मध्य तक माना जाता है। हिन्दी काव्यशास्त्र में आचार्य केशव के महत्त्वपूर्ण योगदान का उल्लेख करते हुए एक विद्वान आलोचक कहते हैं कि "केशवदास के आचार्यत्व का आधार रस एवं नायिका-भेद-निरूपण तथा अलंकार-विवेचन है, किन्तु उनका अधिकांश विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र का रूपान्तरण मात्र है—अलंकार विवेचन तथा नायिका-भेद-निरूपण में उन्होंने जहाँ कहीं यत्किंचित मौलिक उद्भावनाएँ की भी हैं, उनको कालान्तर में मान्यता प्राप्त न हो सकी। फिर भी, केशव बहुप्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, इसमें सन्देह नहीं। संस्कृत के ध्वनिपूर्व और ध्वनि-परवर्ती काल की काव्यशास्त्रीय परम्पराओं को हिन्दी में लाने तथा हिन्दी-

काव्यशास्त्र में व्यवस्थित और क्रमबद्ध विवेचन की नींव डालने का श्रेय निश्चित रूप से उन्हीं को दिया जाना चाहिए।"

रीतिकालीन कवि-आचार्यों में आचार्य केशव के पश्चात् चिन्तामणि त्रिपाठी का नाम उल्लेख्य है जिन्होंने हिन्दी में पहली बार काव्य के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों का सविस्तार विवेचन किया है। चिन्तामणि ने कई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की यथा काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कविकुलकल्पतरु, रसमंजरी। उन काव्यशा त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त चिन्तामणि ने 'पिंगल' नामक एक छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ का भी प्रण न किया। चिन्तामणि का जन्म विक्रमी संवत् 1666 में हुआ था और हिन्दी में काव्य के सर्वांग निरूपण करने वाले आचार्यों में चिन्तामणि प्रथम माने जाते हैं। चिन्तामणि के पश्चात् कुलपति मिश्र (विक्रमी संवत् 1727) ने 'रस रहस्य' की रचना करके मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धान्तों की तलस्पर्शी और सुस्पष्ट व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इसी युग में तोषकवि और महाराजा जसवन्त के नाम भी उल्लेखनीय हैं किन्तु इनका विवेचन भी साधारण कोटि का बन पड़ा है। इसी युग में मतिराम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने 'रसराज', 'ललितललाम', 'अलंकारपंच-शिका', 'साहित्यसार', 'लक्षण श्रृंगार' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। मतिराम ने अधिकांशतः श्रृंगार रस और नायिकाभेद का विवेचन ही किया है। तथापि 'अलंकार पंचाशिका' में मतिराम ने अलंकार-निरूपण भी किया है।

अठारहवीं शताब्दी में महाकवि देव ने पुनः काव्य के विभिन्न तत्त्वों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। देव द्वारा विरचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'शब्द रसायन', 'भावविलास', 'भवानी विलास' तथा 'काव्य रसायन'। इन सभी ग्रन्थों में देव ने यद्यपि काव्य के सर्वांग विवेचन का श्रेय लेने का प्रयास किया है किन्तु सचाई यह है कि उनका विवेचन मुख्यतः श्रृंगार रस और नायिका-भेद-निरूपण की परम्परागत परिधि का अतिक्रमण नहीं कर सका है। इन्हीं के समकालीन कवि-आचार्यों में सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' नामक ग्रन्थ में काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है। भिखारी-दास के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'काव्यनिर्णय', 'रस सारांश' तथा 'श्रृंगार निर्णय' आदि। प्रतापसाहि विशुद्ध रूप से ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक आचार्य हैं किन्तु 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने नायक-नायिका-भेद-निरूपण के साथ-साथ ध्वनि, अलंकार आदि का विवेचन भी किया है।

इसी युग के अन्य कवि-आचार्यों में सुरति मिश्र, कुमार मणिभट्ट, श्रीपति, रसलीन, उदयनाथ, रतनकवि, करनकवि तथा रसिक गोविन्द आदि के नाम उल्लेख्य हैं। इन कवि-आचार्यों ने अधिकांशतः संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर ही अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण किया है अतः स्वभावतः इनका विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्रियों के विवेचन से पूर्णतः प्रभावित है। तथापि इन कवि-आचार्यों के विवेचन में जहाँ-तहाँ यत्किंचित मौलिकता के भी दर्शन होते हैं।

इस युग की अन्तिम कड़ी के रूप में पद्माकर का नाम लिया जा सकता है। पद्माकर ने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' नामक दो महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार पद्माकर के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में यत्किंचित मौलिकता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के अधिकांश कवि-आचार्यों ने आचार्यत्व-पद की प्राप्ति के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की किन्तु वास्तविकता यह है कि कतिपय आचार्यों को छोड़कर, रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का छायानुवादमात्र रह गये हैं। काव्य-विषयों के विवेचन में मौलिकता, वैज्ञानिकता आदि के दर्शन केवल कुछ ही आचार्यों की कृतियों में होते हैं। इस दृष्टि से आचार्य केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि आदि कवि-आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उत्कर्ष काल (आधुनिक युग)—हिन्दी काव्यशास्त्रीय चिन्तन का उत्कर्ष वस्तुतः आधुनिक युग की ही अन्यतम उपलब्धि है। आधुनिक युग के साहित्य-मनीषियों ने बदलते हुए युग की अपेक्षाओं के अनुरूप साहित्य सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से आधुनिक काल के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को तीन प्रमुख चरणों में बाँटा जा सकता है—शुक्ल-पूर्व युग, शुक्ल-युग, शुक्लोत्तर युग। इन विभिन्न चरणों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) शुक्ल-पूर्व युग—शुक्ल-पूर्व युग का आशय भारतेन्दु-युग से है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' नामक अपने निबन्ध में विभिन्न नाट्य-तत्त्वों पर विचार किया है। इसी युग में सन् 1893 में कविराजा मुरारिदीन ने 'जसवन्तभूषण' नामक ग्रन्थ में काव्य के विभिन्न अंगों-प्रत्यंगों का विवेचन किया है। इसके पश्चात् आधुनिक युग के अनेक काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है। इस दृष्टि से जगन्नाथ प्रसाद 'भानुकवि', बिहारीलाल भट्ट, लाला भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, सीताराम शास्त्री, अर्जुनदास केड़िया तथा महाकवि हरिऔध आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों ने काव्यशास्त्रीय प्रश्नों पर परम्परागत विवेचन से तनिक हट कर विचार किया है और इस कारण इनके ग्रन्थों में स्वभावतः अधिक वैज्ञानिकता और मौलिकता का परिचय मिलता है।

आधुनिक युग के रस-विवेचन की दृष्टि से अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'रस-कलस' (सन् 1931) नामक ग्रन्थ का विशिष्ट महत्त्व है। इन्हीं के समकालीन डा० रामशंकर शुक्ल रसाल ने 'अलंकारपीयूष' में अलंकार-सम्प्रदाय पर सविस्तार विचार किया है। सन् 1940 में मिश्रबन्धुओं ने 'साहित्यपारिजात' में अपनी साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं, सिद्धान्तों का सुविस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। इसी क्रम में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदी जी ने 'रसज्ञरंजन', 'आलोचनांजलि', 'साहित्यालाप' तथा 'साहित्यसन्दर्भ' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और काव्य के सर्वांग का निरूपण किया।

(ख) **शुक्ल-युग**—हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। आचार्य शुक्ल ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन को पहली बार पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र, मनोविज्ञान, व्यावहारिक आलोचन आदि का संस्पर्श दिया। हिन्दी काव्यशास्त्र में शुक्ल की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ निम्नानुसार हैं :

(1) रस-सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिकता का संस्पर्श देना।

(2) साधारणीकरण सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या।

(3) व्यावहारिक आलोचना के प्रति सहानुभूति।

शुक्ल युग में डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य पद्‌मसिंह शर्मा, पं० रामदहिन मिश्र, पं० बलदेव उपाध्याय आदि विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा विरचित 'साहित्यालोचन' हिन्दी काव्यशास्त्र की एक अन्यतम उपलब्धि है जिसमें लेखक ने काव्य के सर्वांग का अत्यन्त विस्तृत और गम्भीर विवेचन किया है। पं० पद्‌मसिंह शर्मा ने हिन्दी साहित्यशास्त्र में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। पं० रामदहिन मिश्र ने काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन-विश्लेषण में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय दृष्टि का परिचय दिया है। पं० बलदेव उपाध्याय ने संस्कृत के महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की अत्यन्त प्रामाणिक और तलस्पर्शी व्याख्या प्रस्तुत की है।

शुक्ल-युग के छायावादी कवियों ने भी प्रासंगिक रूप से काव्यांगों का विवेचन किया है। इस दृष्टि से जयशंकर प्रसाद (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध), निराला (प्रबन्ध पद्‌म, प्रबन्ध प्रतिमा और चाबुक), सुमित्रानन्दन पन्त (पल्लव का प्रवेश, छायावादी काव्य का पुनर्मूल्यांकन), महादेवी वर्मा (दीपशिखा की भूमिका और महादेवी का विवेचनात्मक गद्य) का योगदान अभूतपूर्व कहा जा सकता है। वे चारों विद्वान विशुद्ध रूप से कवि होते हुए भी सजग और प्रतिभा सम्पन्न विचारक भी थे। कवि होने के नाते इन्हें स्वभावतः काव्य के अन्तरंग को पूरी पहचान थी अतः उनकी दृष्टि भी सर्वथा मौलिक और प्रौढ़ बन पड़ी थी। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि "इस युग के समीक्षकों, विशेषतः शुक्ल जी ने परवर्ती हिन्दी-काव्यशास्त्र के स्वरूप-निर्धारण और उसे वास्तविक अभिनव दिशा की ओर प्रवृत्त करने में अभूतपूर्व योग दिया। पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र के संश्लिष्ट रूप की आधारभूमि पर हिन्दी के जिस स्वतन्त्र काव्यशास्त्र का विकास आगे चल कर हुआ उसकी नींव भी वस्तुतः इसी युग में पड़ी।"

(ग) **शुक्लोत्तर-युग**—शुक्ल-युग के पाश्चात्य साहित्य और जीवन में एक निश्चित मोड़ आया। इसका परिणाम यह हुआ कि शुक्लोत्तर युग का साहित्य कल्पना के स्थान पर यथार्थ का, भाव के स्थान पर अर्थ का, अतीन्द्रियता के स्थान पर मांसलता का पुजारी हो गया। स्वभावतः समूची साहित्यधारा काम और अर्थ की परिधि में सिमट गई। प्रगतिवादी आलोचना और फ्रायड आदि मनोविश्लेषकों से प्रभावित मनोविश्लेषणवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों को नया और सशक्त स्वर मिल

गया। जहाँ तक सैद्धान्तिक आलोचना का प्रश्न है, शुक्लोत्तर युग में, वह आलोचना-पद्धति पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हो गई। परिणाम यह हुआ कि इस युग का आलोचनात्मक साहित्य, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का संश्लिष्ट आधार भूमि पर अवस्थित हुआ। इसी स्थिति का एक अन्य शुभ परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दी के अपने स्वतन्त्र काव्यशास्त्र के निर्माण की सम्भावनाएँ स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि हिन्दी काव्यशास्त्र को डा० गुलाब राय, डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र आदि सरीखे हिन्दी के सर्वाधिक सशक्त और समर्थ आलोचक देने का श्रेय इसी शुक्लोत्तर युग को दिया जा सकता है। डा० गुलाब राय ने 'नवरस', 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन'—इन तीन ग्रन्थों में साहित्य के सर्वांग का अत्यन्त मौलिक और गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। डा० लक्ष्मीनारायण सुधाँशु ने हिन्दी काव्यशास्त्र को भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की संश्लिष्ट आधारभूमि प्रदान की और आलोचना को दार्शनिकता एवं मनोवैज्ञानिकता का संस्पर्श दिया। डा० सुधाँशु ने स्पष्टतः हिन्दी के काव्यशास्त्र को व्यापक आधारभूमि पर अवस्थित किया। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'काव्य में अभिव्यंजनावाद', 'काव्य के सिद्धान्त'। हिन्दी साहित्य में सौष्ठववादी आलोचना के प्रवर्त्तक समीक्षक के रूप में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने भी अपनी आलोचनात्मक अवधारणाओं को भारतीय एवं पाश्चात्य मतों की संश्लिष्ट आधार भूमि प्रदान की। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'आधुनिक साहित्य', 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि। ऐतिहासिक आलोचना के सन्दर्भ में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डा० द्विवेदी ने साहित्य के मूल्यांकन में मानवीय संवेदनाओं और समष्टिगत जनजीवन की व्यापक भाव-भूमि का आश्रय लेकर साहित्य और जीवन के परस्पर सम्बन्ध के जटिल प्रश्नों का समाधान खोजने का प्रयास किया है। डा० द्विवेदी की महत्त्वपूर्ण साहित्यशास्त्रीय अवधारणाएँ 'विचार और वितर्क', 'अशोक के फूल', 'साहित्य का मर्म' तथा 'कालिदास की लालित्य योजना' आदि ग्रन्थों में संग्रहीत हैं। डा० नगेन्द्र ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय परम्पराओं की संश्लिष्ट आधार-भूमि पर रस-सिद्धान्त की युगानुरूप अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की। शुक्लोत्तर युग में हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य में डा० नगेन्द्र का अभूतपूर्व योगदान है। उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र के जटिल प्रश्नों पर नितान्त अभिनव दृष्टि से विचार किया और इसके साथ ही पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की अत्यन्त सारगर्भित व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। डा० नगेन्द्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'रीतिकाव्य की भूमिका', 'रस-सिद्धान्त', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति', 'आलोचक की आस्था', 'आस्था के चरण' आदि।

2

अलंकार-सिद्धान्त

अलंकार-सम्प्रदाय—भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की आत्मा को लेकर बहुत विचार-विमर्श हुआ है। इस प्रसंग में वामन का नाम सर्वोपरि है और उनके बाद के काव्यशास्त्रियों ने तो अपने-अपने ढंग से काव्य की आत्मा का विवेचन किया है। जिस काव्यशास्त्री को काव्य का जो अंग अधिक महत्त्वपूर्ण लगा, उसने उसी को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया है और इस प्रकार 11वीं शताब्दी से लेकर तीन-चार सौ वर्षों तक यही क्रम चलता रहा। रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सिद्धान्त, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय आदि विभिन्न सम्प्रदाय और सिद्धान्तों का जन्म इन्हीं तीन-चार सौ वर्षों में हुआ था। इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य ही उल्लेख-नीय है कि अलंकार-सम्प्रदाय का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होते हुए भी ऐसा कोई काव्यशास्त्री नहीं हुआ है जिसने अलंकार को काव्य की आत्मा घोषित किया हो। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में, "अलंकार को काव्य की आत्मा कहने वाला सम्भवतः कोई आचार्य नहीं है। आगे चलकर जब काव्यात्मभूत समस्त तत्त्वों का आकलन किया जाने लगा तब अलंकार के महत्त्व को देखते हुए विवेचकों ने इसे भी एक सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार कर लिया।"

तथापि यह निर्विवाद है कि अलंकार-सम्प्रदाय काव्यशास्त्रीय अन्य समस्त सिद्धान्तों, सम्प्रदायों में सर्वाधिक चर्चित रहा है और एक समय ऐसा भी था जबकि काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र का पर्यायवाची माना जाता था। समूचे काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अलंकारों की महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि आरम्भ में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण, अलंकारशास्त्र के नाम पर किया जाता था। इस दृष्टि से भामह द्वारा विरचित 'काव्यालंकार' वामन का 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' तथा रुद्रट का 'काव्यालंकार' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय काव्य-शास्त्र सम्बन्धी चिन्तन में अलंकार-सम्प्रदाय की महत्ता बराबर बनी रही है। डा० त्रिपाठी के शब्दों में, "आशय यह है कि अलंकार सम्प्रदाय को चाहे किसी एक आचार्य ने आत्मा के रूप में मान्यता दी हो या न दी हो इतना तो निश्चय है कि काव्य में इसकी अनिवार्यता स्वीकार करने वाले अनेक आचार्य हुए हैं और इसकी महत्ता से

तो कभी किसी को मतभेद हुआ ही नहीं। यह साम्प्रदायिक सर्वाधिक प्राचीन है और साथ ही सर्वाधिक व्यापक भी।''

अलंकारों का उल्लेख सर्वप्रथम निघण्टु और निरुक्त में मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों में वेदों को लेकर उपमा आदि अलंकारों की व्याख्या-विश्लेषण आदि किया गया है। इसके पश्चात् व्याकरणाचार्य पाणिनी ने अपने ढंग से उपमा और उसके विविध अंगों यथा उपमान, वाचक शब्द आदि का विवेचन किया है। इस प्रकार पाणिनी के समय तक उपमा अलंकार पूर्णतः विकसित हो चुका था। जहाँ तक भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों के विधिवत विवेचन का प्रश्न है, आचार्य भरत ने सर्वप्रथम चार अलंकारों का उल्लेख किया है और ये चार अलंकार थे—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। भरत ने भी इन अलंकारों की कोई परिभाषाएँ प्रस्तुत नहीं की हैं और कदाचित् इसी कारण उन्होंने काव्य के प्रसंग में 36 काव्यभूषणों में अलंकारों का उल्लेख तक नहीं किया। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख है कि आचार्य भरत एक नाट्यशास्त्री थे और—इसलिए उनके समक्ष अलंकारों की परिभाषा देना आवश्यक नहीं था। काव्यशास्त्रीय आदि ग्रन्थों के परिवीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र—दोनों पृथक-पृथक शास्त्र होते थे। नाट्यशास्त्र में रस की प्रमुखता थी तो काव्यशास्त्र में अलंकारों की। नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के प्रसंग में भरत ने इन काव्यालंकारों का विवेचन किया है। भरत ने इसी प्रसंग में उपमा के पाँच भेद किये हैं—प्रशंसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी उपमा तथा किंचित सदृशा उपमा। रूपक और दीपक के भेदों-उपभेदों की कोई चर्चा नहीं की गई है। यमक के दसों भेदों का सविस्तार विश्लेषण किया गया है। इस क्रम में, भरत के पश्चात् भामह का नाम उल्लेखनीय है। भामह ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी—

'वक्राभिधेयशब्दोवितरिष्टा वाचामलंकृतिः।'

अर्थात् शब्द-अर्थ की वक्रता या वैचित्र्य को अलंकार कहा जाता है। भामह ने ही सर्वप्रथम काव्य-क्षेत्र में वक्रता को लेकर अलंकारों को काव्य का प्राण सिद्ध किया है। इस प्रकार भामह से ही अलंकार सम्प्रदाय का व्यवस्थित विकास देखा जा सकता है।

अलंकार की उत्पत्ति—अलंकार की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई गई है—'अलंकरोतीत्यलंकारः' तथा 'अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करे उसे अलंकार कहते हैं अथवा जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए उसे अलंकार कहते हैं। उप पद अलम् के साथ 'कृ' धातु लगा कर संज्ञा रूप में अथवा करण अर्थ मेंथञ् प्रत्यय लगा कर उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्तियाँ की गई हैं। 'अलम्' एक अव्यय शब्द है जिसका अर्थ है योग्य, पर्याप्त आदि और इस प्रकार अलंकार शब्द का आशय ऐसे तत्त्व से हुआ जो पर्याप्त अथवा योग्य आदि बना दे। अतः अलंकार के इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुसार अलंकार काव्य अथवा सौन्दर्य को परिपूर्णता तक पहुँचाते हैं।

दूसरे शब्दों में, अलंकार सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करते हैं, उसे अपने आप में परिपूर्णता तक पहुँचाते हैं। तथापि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों के समक्ष अलंकार का यह शाब्दिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ अजाना था। उन्होंने अलंकार को व्यापक अर्थों में ग्रहण किया। इन प्राचीन काव्यशास्त्रियों के मतानुसार काव्य के ऐसे सभी तत्त्व, जो उसे रमणीयता प्रदान करते हैं अथवा रमणीयता का अभिवर्धन करते हैं, अलंकार कहे जायेंगे। यह तो निर्विवाद है कि व्यवहार में शब्दों का प्रयोग केवल अर्थ-प्रत्यायन के लिए ही किया जाता है और इस कारण इसके विपरीत काव्य में शब्दों का प्रयोग एक नए और रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए किया जाता है। लोक-व्यवहार में शब्दों के प्रयोग का प्रयोजन अथवा साध्य अर्थ-प्रत्यायन होता है तो काव्य में शब्द-प्रयोग का प्रयोजन रमणीयार्थ अथवा अर्थ-चमत्कार की उत्पत्ति करना होता है। अतः प्राचीन काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में 'जो तत्त्व काव्य को लोक और शास्त्र के क्षेत्र से ऊपर उठाकर चमत्कार सम्पादन और रमणीयता के अनुभावन में कारण हों वे सब अलंकार शब्द से अभिहित किये जाने के अधिकारी हैं चाहे वे लक्षण हों, गुण हों या स्वयं रस ही क्यों न हों।" कदाचित् इसी कारण कतिपय काव्याचार्यों ने इसको भी अलंकार के व्यापक अर्थों में ग्रहण किया है।

अलंकार समुदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट के नाम उल्लेखनीय हैं। इन काव्यशास्त्रियों ने काव्य में अलंकारों के अनिवार्य महत्त्व का पक्ष स्थापित किया है। इनके अतिरिक्त वामन ने भी अलंकारों को लेकर गम्भीर चिन्तन का परिचय दिया है। जैसा कि पहले निवेदन किया जा चुका है, भामह ने अलंकारों की कोई विधिवत परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है, तथापि भामह ने काव्य में अलंकारों की महत्ता अवश्य स्वीकार की है और अलंकारपूर्ण भाषा की खुली प्रशंसा की है—

'अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्
अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।'

भामह ने इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी कही कि काव्यत्व न केवल शब्दों की व्युत्पत्ति में होता है और न अकेले अर्थालंकारों में ही। भामह के मत से काव्यत्व उभयनिष्ठ अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों में होता है। दूसरे शब्दों में, भामह ने शब्दालंकार और अर्थालंकार—दोनों को काव्यत्व का अभिवर्धक स्वीकार किया। इस प्रकार भामह ने अलंकारों का विस्तार से विवेचन किया है और यहाँ तक स्वीकार किया है कि रस का व्यापक धर्म भी अन्ततः अलंकारों के अधीन ही आता है। इस क्रम में भामह के पश्चात् दण्डी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।'

दण्डी के मतानुसार अलंकार काव्य का शोभाकारक धर्म होता है, अर्थात् अलंकार का धर्म काव्य की शोभा का अभिवर्धन करना है। धर्म एक सहज गुण की तरह

होता है और जब हम अलंकार के धर्म की बात करते हैं तो हमारा आशय अलंकारों के सहज गुणों से होता है। दण्डी के मत से अलंकारों के बिना काव्य की स्थिति ही नहीं हो सकती। इसी प्रसंग में दण्डी ने यह भी कहा है कि सन्धि और उसके अंग, वृत्ति और उसके अंग, और लक्षण आदि भी अलंकारों के अन्तर्गत आते हैं—

'यच्च संध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यर्वाणितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः।'

इस प्रकार दण्डी ने ऐसे सभी तत्त्वों को अलंकार का स्थान दे दिया है जो कि काव्यत्व सम्पादन की दृष्टि से उपादेय कहे जा सकते हैं। अतः भामह की तुलना में दण्डी ने अलंकारों को अधिक विस्तृत आधार प्रदान किया। दण्डी की इस परिभाषा ने अलंकारों को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

आचार्य वामन ने अलंकारों का दोहरा विवेचन प्रस्तुत किया और उनके इस विवेचन का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि अलंकार का सुदृढ़ आसन हिल गया और आचार्य वामन के बाद पहली बार अलंकारों को काव्य का अस्थिर धर्म मानने की बात सामने आयी। आचार्य वामन ने मुख्यतः दो बातें कहीं—पहली तो यह है कि काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है, दूसरी यह कि काव्य के शोभाकारक धर्म गुण होते हैं और उस शोभा का अभिवर्द्धन करने वाले अलंकार होते हैं। वामन के शब्दों में—'काव्यंग्राह्यमलंकारात्' अर्थात् काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य हैं और 'सौन्दर्यमलंकारः' अर्थात् अलंकार सौन्दर्य मात्र है। इस प्रकार वामन ने एक ओर तो अलंकारों के कारण काव्य की ग्राह्यता सिद्ध की और दूसरी ओर गुणों को काव्य का नित्य धर्म और अलंकारों को अन्तिम धर्म स्वीकार किया।

अलंकारवादी काव्यशास्त्रियों में उद्‌भट का नाम भी उल्लेखनीय है। उद्‌भट सच्चे अर्थों में भामह के अनुयायी थे। अलंकार की जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं, वे वस्तुतः भामह की एतद्‌विषयक स्थापनाओं का विकसित रूप ही कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि उद्‌भट ने भामह द्वारा प्रस्तुत चिन्तन को और अधिक सुदृढ़ और व्यापक आधार प्रदान किया। अतः उद्‌भट को अलंकार सम्प्रदाय के सर्वाधिक आदरणीय आचार्य का स्थान प्राप्त हुआ है। जहाँ तक रुद्रट का प्रश्न है, उन्होंने अपने काव्यालंकार में ऐसा कुछ नहीं कहा जिससे कि उन्हें स्पष्टतः किसी स्वतन्त्र सम्प्रदाय के अधीन रखा जा सकता तथापि उन्होंने बाद में चलकर अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है और कदाचित् इसी कारण उन्हें भी अलंकारवादी आचार्य माना जाता है। इस प्रकार अलंकार को काव्य के क्षेत्र में दूसरा स्थान दिलाने वाले काव्यशास्त्रियों में वामन के पश्चात् रुद्रट का नाम उल्लेखनीय है।

महिमभट्ट ने अलंकार को नये शब्दों में बाँधने का प्रयास किया : 'चारुत्व-मलंकार' तथा 'शब्दार्थयोविच्छित्तिरलंकारः' अर्थात् अलंकार का आशय चारुत्व से है और शब्दार्थ की विच्छित्ति को भी अलंकार कहा जाता है। आचार्य भोज ने

भी रस, रीति और गुणों की स्थिति अलंकारों के अन्तर्गत ही मानी है। आचार्य भोज ने एक बार फिर अलंकारों की प्रमुखता सिद्ध की और कदाचित् इसी कारण वाग्भट्ट ने कहा कि—

'दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।'
स्त्रीरूपमिवर्योभातितं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम्।

अर्थात् यदि काव्य दोषों से मुक्त है और गुणों से युक्त है, तो भी अलंकारों के अभाव में वचन चमत्कृत नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, वाग्भट्ट ने अलंकार को काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया। इसी प्रसंग में केशवमिश्र का नाम भी उल्लेख्य है, जिन्होंने कहा कि "अलंकार शोभा के लिए हैं"। जयदेव ने अलंकारों की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार अग्नि की स्थिति उष्णता के बिना सम्भव नहीं है उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की स्थिति भी सम्भव नहीं हो सकती। इसके पश्चात् आचार्य मम्मट ने अलंकारों की अनिवार्यता की बात का खण्डन करते हुए कहा कि काव्य में अलंकार हों अथवा न भी हों—दोनों स्थितियाँ काव्य की शोभा के लिए समान रूप से अनुकूल हैं। अर्थात् अलंकारों के बिना काव्य की रचना ही सम्भव नहीं है—यह एक निराधार स्थापना है। मम्मट ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया कि अलंकार काव्य के नित्य धर्म नहीं हो सकते। इसी क्रम में जयदेव के विचार भी उल्लेख्य हैं। जयदेव के अनुसार, अलंकारों की स्थिति हारादिवत् होती है। फिर भी जयदेव ने अलंकारों को समुचित आदर दिया और कहा कि काव्य वही होता है जिसकी भाषा-वृत्ति, रस तथा अलंकारों से युक्त होती है। उपर्युक्त समस्त विवेचन और परिभाषाओं आदि से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है और शब्द तथा अर्थ को उपादेय बनाने वाले आन्तरिक तथा बाह्य—सभी तत्त्व अलंकार के व्यापक अर्थ में समाहित हो जाते हैं।

इतने अधिक व्यापक और विस्तृत आधार से युक्त अलंकार स्वयं अपनी ही सीमाओं में बँधा हुआ है। अलंकार शब्द का रूढ़ अर्थ बाह्य आभूषणों के रूप में माना जाने लगा है और यह निर्विवाद है कि बाह्य आभूषण शरीर का रूप नहीं ले सकते तो इन्हें आत्मा का रूप देना तो और भी दुःसाध्य है। आभूषण तो आभूषण ही रह सकता है, न शरीर का रूप ले सकता है, न आत्मा का। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त आदि काव्याचार्यों ने इस आधारभूत तथ्य को पहचाना और इसी कारण इन्होंने अलंकारों की सीमा को लेकर स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है। उन काव्यशास्त्रियों की स्पष्ट मान्यता यही है कि अलंकार केवल रसोपकर्षण के साधन होते हैं और स्वभावतः इनका समावेश भी अत्यन्त सहज, स्वाभाविक और निःचेष्ट ढंग से होना चाहिए। अभिनवगुप्त के अनुसार, "कोई निपुण रमणी कितनी ही निपुणता से केसर का लेप करे किन्तु शरीर के रंग से उसका रंग बिल्कुल मिल जाना सर्वथा कठिन है। इसी प्रकार यदि कोई अच्छा कवि कितनी ही निपुणता से

अलंकारों की योजना करे किन्तु वे शब्द और अर्थ के समान काव्य से शरीर बन सके, यह भी बहुत ही कठिन है फिर वे आत्मा रूप तो हो ही नहीं सकते ।" अभिनवगुप्त के इस मत के अनुसार अलंकार अपने मूल रूप में बाह्य होते हैं, अतः काव्य में वे ऊपर से जोड़े हुए लगते हैं और ऐसी स्थितियाँ अत्यल्प होती हैं जबकि वे काव्य की भाषा में इतने गहरे मिल गये हों कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता प्रायशः लुप्त हो गयी हो। इसके साथ ही एक अन्य आशंका यह भी जुड़ी हुई है कि यदि इन अलकारों के प्रयोग में अपेक्षित कौशल का अभाव रह गया तो समूचा काव्य-सौन्दर्य ही बिखर जायेगा। अलंकारों के निपुणतापूर्ण प्रयोग के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन कहता है कि "जिस अलंकार की विवक्षा रसांग के रूप में ही हो, कभी अंग के रूप में न हो, जिस अलंकार को अवश्यकतानुसार ग्रहण भी किया जा सके और छोड़ा भी जा सके, जिस अलंकार को परिपूर्णता तक पहुँचाने की कवि चेष्टा प्रतीत न हो रही हो अर्थात् जहाँ कवि का उद्देश्य रस हो अलंकार न हो, यदि अलंकार पूर्णता तक पहुँच गया हो तो प्रयत्न करके जिस अलंकार को अंग बना दिया जाये ऐसा ही रूपक इत्यादि अलंकार रसपोषक होता है और वही अलंकार भी कहा जाता है।" आनन्दवर्द्धन ने अलंकारों के प्रयोग में सहजता और स्वाभाविकता पर सर्वाधिक बल दिया है। कविता के सृजन के समय कवि का उद्देश्य अलंकारों का प्रयोग करना नहीं होता अपितु अपने भीतर की बात कहना होता है। कविता की समाप्ति के पश्चात् ही उसे यह पता लग पाता है कि उसमें अमुक-अमुक अलंकारों का समावेश हो गया है।

उपर्युक्त विवेचन से दो मुख्य बातें सामने आती हैं—एक तो यह कि अलंकार की सत्ता बाह्य होती है और दूसरी यह कि अलंकार काव्य में सभी चारुता को जन्म दे सकते हैं जबकि उनका प्रयोग सहज और स्वाभाविक हुआ हो। अभिनवगुप्त ने काव्य में अलंकारों के स्थान को लेकर विस्तार से विचार-विमर्श किया है। उनके मतानुसार काव्य की आत्मा रस होता है और यदि किसी काव्य में रस ही नहीं है तो अकेले अलंकार ही उसे काव्य बनाने में समर्थ नहीं हो सकते। भोजराज के शब्दों में, "अपांगों के दीर्घ होने पर ही दोनों नेत्रों को अंजन की शोभा आभूषित कर सकती है और विशाल होने पर ही स्तनों को हारयष्टि अन्वित कर सकती है।" इसी प्रकार अलंकार काव्य में रसोत्कर्ष तो कर सकते हैं किन्तु काव्य उत्पन्न नहीं कर सकते। मूल बात यह है काव्य-सृजन के समय रसभाव आदि को तात्पर्य रूप में स्वीकार किया जाये और अलंकारों को रसपोषक रूप में माना जाये। वस्तुतः अलंकार वही होता है जो कि उपादान रूप में प्रयुक्त होकर काव्यसौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है। यदि रस भी मुख्य रसान्तर की सौन्दर्य वृद्धि करता है तो उसे भी अलंकार कहा जाता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने रसवत् आदि अलंकारों की स्थिति इसी आधार पर मानी है। निष्कर्षतः कहा जाता है कि ध्वनिवादियों ने अलंकारों को काव्य के प्रमुख तत्त्व के स्थान पर केवल पोषक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों तक अलंकार के विधायकत्व तथा साधन

स्वरूप—दोनों लक्षण बराबर चलते रहे। काव्यशास्त्रियों का एक वर्ग अलंकारों के विधायकत्व की प्रतिष्ठा किये था तो दूसरा वर्ग उसे केवल साधन स्वरूप ही मानता रहा। रीतिकालीन आचार्यों में केशव ने एक बार फिर अलंकारों की अनिवार्यता सिद्ध की और कहा—'भूषन बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त।' आचार्य देव की गणना भी इसी परम्परा के काव्याचार्यों में की जा सकती है। इन दोनों काव्याचार्यों के मतानुसार सरस काव्य में भी अलंकारों की अनियार्य स्थिति रहती है। इसके विपरीत काव्याचार्यों का एक अन्य वर्ग भी रहा है जिसने अलंकारों को साधन रूप अथवा पोषक तत्त्व के रूप में ही माना है। इस वर्ग के काव्याचार्यों में चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास तथा रसिक गोविन्द आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्पष्टतः इस वर्ग के काव्याचार्यों की मान्यताएँ मम्मट तथा विश्वनाथ के एतद्‌विषयक चिन्तन से पूरी तरह प्रभावित हैं।

शब्द-शक्तियाँ और अलंकार—इस क्रम में सर्वप्रथम अभिधा और अलंकारों पर विचार किया जाना आवश्यक है। शब्दालंकारों का मूल आधार अभिधा शब्द-शक्ति ही होती है। वर्णों, पदों अथवा शब्दों की आवृत्ति ही शब्दालकार की कारयित्री शक्ति है। वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास अलंकार का नाम ले लेती है और यही अनुप्रास लयात्मकता का प्राण होता है। यमक, चित्रालंकार तथा प्रहेलिका आदि शब्दालंकारों का चमत्कार मूलतः अभिधा शब्द-शक्ति का ही चमत्कार है। इसी प्रकार वीप्सा और पुनरुक्तवदाभास आदि शब्दालंकार अभिधा से ही जीवन प्राप्त करते हैं। यही नहीं, किसी-किसी अर्थालंकार का आधार भी अभिधा होती है। उदाहरण के लिए उपमा अलंकार को लिया जा सकता है। एक वाक्य है—'उसका मुख चन्द्रमा जैसा है'—इस वाक्य का व्यंग्यार्थ यही है कि उसका मुख अत्यन्त सुन्दर और शोभा से युक्त है, किन्तु इस व्यंग्यार्थ की उपलब्धि तभी हो सकती है जबकि उपयुक्त वाक्य का अभिधार्थ अथवा वाच्यार्थ स्पष्ट हो। जब तक मुख चन्द्रमा का वास्तविक अर्थ (अभिधार्थ) स्पष्ट नहीं होता तब तक यह वाक्य अर्थहीन है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में—"उपमा चाहे किसी अवस्था में व्यंग्य हो जाये, चाहे व्यंजनाश्रित हो जाये परन्तु उसका सम्बन्ध मूलतः अभिधा से है। उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द पहले अभिधा के बल पर टिके हैं, व्यंजना के आश्रित बाद में है। अभिधा के आधार पर ही लक्षणा व्यंजना का प्रासाद टिका है।"

इस क्रम में अभिधा और अलंकार के पश्चात् लक्षणा और अलंकार पर विचार किया जा सकता है। लक्षणा शब्द-शक्ति के भेदों-उपभेदों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य के क्षेत्र में निरूढ़ा लक्षणा का कोई भी उपयोग नहीं होता। गौणी सारोपा और सध्यवसाना अपेक्षतया अधिक प्रमुख भेद होते हैं। रूपक अलंकार का सम्बन्ध गौणी सारोपा से और सध्यवसाना का सम्बन्ध अतिशयोक्ति अलंकार से होता है। इसी प्रकार हेतु अलंकार का आधार शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा सध्यवसाना हैं। आचार्य दण्डी, विश्वनाथ, वामन आदि ने अपने-अपने ढंग से अलकारों का निरू-

मण किया है और लक्षणा के साथ उनका सम्बन्ध भी स्पष्ट किया है। आचार्य दण्डी की तो मान्यता यह है कि लक्षणा अपने आप में अलंकार ही है।

काव्य के क्षेत्र में व्यंजना शब्द-शक्ति का सर्वाधिक प्रभाव होता है। काव्य का समूचा चमत्कार ही व्यंग्यार्थ का होता है। भामह आदि काव्यशास्त्रियों ने भी व्यंग्यार्थ की महत्ता स्वीकार की है, तथापि उन्होंने व्यंजना की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की है। इन काव्यशास्त्रियों ने व्यंजना को पर्यायोक्ति आदि अलंकारों में समाविष्ट कर दिया है। विद्वानों के एक अन्य वर्ग के अनुसार भामह, दण्डी, रुद्रट आदि काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यंग्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है और इस कारण वे ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः भामह, दण्डी आदि के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा बना लेना उनके समग्र चिन्तन के प्रति अन्याय करना होगा। अनुभवसिद्ध अर्थ को कौन अस्वीकार कर सकता है और जब अनुभवसिद्ध अर्थ की सत्ता मानने में किसी को कोई संकोच नहीं है तो भामह, दण्डी जैसे काव्यशास्त्री प्रतीयमान जैसे अर्थ को कैसे नकार सकते थे। सचाई यह है कि उन्होंने भले ही ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य आदि जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया फिर भी उनका आशय ध्वनि की सत्ता नकारना कभी नहीं रहा होगा। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारों और व्यंजना का सम्बन्ध अवश्य है—यह सम्बन्ध किसी भी प्रकार का हो सकता है, "चाहे (अलंकारों को) व्यंजना या ध्वनि में अन्तर्भूत किया जाये या अलंकारों में व्यंजना को माना जाये; परन्तु व्यंजना का महत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध होने पर भी अलंकारों का महत्त्वाभाव प्रमाणित नहीं होता।" कदाचित् इसी कारण ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के तीन भेद स्वीकार किये हैं—वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि। इसी प्रकार व्यंजनाशक्ति के माध्यम से प्राप्त व्यंग्यार्थ भी तीन प्रकार का हो सकता है—वस्तु रूप, अलंकार रूप और रसध्वनि रूप।

गुण तथा अलंकार—काव्य में गुण और अलंकार दोनों की ही स्थिति बनी रहती है, अन्तर केवल यही है कि गुण तो काव्य का स्थायी धर्म होते हैं और अलंकार काव्य का अनित्य धर्म होते हैं। काव्य में जो चमत्कार दीख पड़ता है वह गुण और अलंकार का समेकित प्रभाव होता है। इस सम्बन्ध में वामन ने विस्तार से विचार किया है और उन्होंने ही सर्वप्रथम गुण और अलंकार का भेद विवेचन किया है। वामन ने कहा था कि काव्य अलंकार से ग्राह्य होता है और सौन्दर्य ही अलंकार होता है। इस प्रकार वामन के अनुसार काव्य की शोभा का मूल कारण गुण होते हैं और इस काव्य-शोभा का अभिवर्द्धन करने वाले कारण अलंकार होते हैं। अतः काव्य में गुणों का स्थान नित्य धर्म के रूप में होता है और अलंकार काव्य के अनित्य धर्म कहलाते हैं। वामन के इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि काव्य अलंकारों के अभाव में तो हो सकता है किन्तु उसमें गुणों की स्थिति अनिवार्य होती है। गुणों के अभाव में काव्य की स्थिति हो ही नहीं सकती।

गुणों और अलंकारों को लेकर ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने भी विवेचन किया

है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार—गुण रस के अंगी रूप होते हैं और अलंकार अं। अर्थात् शब्दार्थ में निहित होते हैं। इस प्रकार गुणों का स्थान प्रधानभूत अर्थात् रस के अंगी रूप का होता है और अलंकारों का स्थान अंग-रूप होता है। गुण और अलंकार के इस भेद का विश्लेषण करते हुए आनन्दवर्द्धन ने दो प्रकार के चारुत्व का भी उल्लेख किया है। उसके मतानुसार गुण और अलंकार के भेद का आधार यही चारुत्व होता है। आनन्दवर्द्धन ने दो प्रकार के चारुत्व की बात कही है—स्वरूपमात्रनिष्ठ तथा संघटनाश्रित और ये दोनों प्रकार के चारुत्व अलंकारों के भेद का भी आधार कहे जा सकते हैं। शब्दालंकारों से स्वरूपमात्रनिष्ठ चारुत्व उत्पन्न होता है तो अर्थालंकारों से संघटनाश्रित चारुत्व की उत्पत्ति होती है।

तथापि कतिपय काव्यशास्त्री गुणों और अलंकारों में किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में उद्भट का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। उद्भट के अनुसार गुणों और अलंकारों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। उनके मतानुसार व्यवहार में भले ही आभूषण और शरीर आदि का पार्थक्य भासित होता है किन्तु तत्त्वतः शरीर की सम्पूर्ण शोभा से अलंकारों, आभूषणों आदि की कान्ति को पृथक् नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में मम्मट के विचार भी उल्लेखनीय हैं। मम्मट ने वामन एवं उद्भट की मान्यताओं से अलग हटकर एक नयी बात कही। मम्मट ने गुण को रस का उत्कर्ष करने वाला तत्त्व और अलंकार को रस का उपकारी तत्त्व स्वीकार किया है। मम्मट ने यह भी कहा कि यदि किसी काव्य में रस नहीं है तो वहाँ अलंकार केवल उक्ति का चमत्कार ही रह जायेगा और कई बार ऐसी भी स्थिति होती है जबकि रस के होते हुए भी अलंकार उपकारी नहीं रह पाते।

गुण और अलंकार के सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि दोनों शब्दार्थ के धर्म हैं और रस के परिपाक में दोनों का अपना-अपना योगदान रहता है। गुण और अलंकार दोनों मिलकर ही काव्य की शोभा में अभिवृद्धि करते हैं। इस सम्बन्ध में कई विद्वानों ने यह आपत्ति उठायी है कि ऐसी स्थिति में गुणों को नित्य धर्म और अलंकारों को अनित्य धर्म कहना न्यायोचित नहीं होगा। विद्वानों के इस वर्ग ने अलंकारों को भी गुणों की-सी गौरवपूर्ण स्थिति प्रदान करने का पक्षपोषण किया है। अन्यथा भी अलंकारों का महत्त्व कम नहीं होता। मनुष्य भावों की अभिव्यक्ति साधारण बोल-चाल की भाषा में भी करता है और आलंकारिक परिवेश से युक्त काव्य में भी। अलंकारों से युक्त होने के कारण ही काव्य, काव्य की संज्ञा पाता है तो फिर अलंकारों को कम महत्त्व क्यों दिया जाय। एक बात और भी है, यदि किसी काव्य में अलंकारों को अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में समाविष्ट किया जाता है तो यह निश्चित है कि उनके काव्य का कोई अहित अथवा अशोभा नहीं हो सकती बल्कि उनके कारण काव्य की शोभा बढ़ेगी ही। अतः काव्य में अलंकारों को भी समान महत्त्व दिया जाना चाहिए।

रीति तथा अलंकार—रीति और अलंकार के परस्पर सम्बन्धों को लेकर

सर्वप्रथम दण्डी ने विचार किया है। दण्डी ने गौड़ी रीति का वर्णन करते हुए वस्तुतः अलंकारों का ही विवेचन किया है, भले ही उनका यह सम्पूर्ण विवेचन गुणों के प्रसंग में हुआ हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य दण्डी के समय तक 'रीति' को अलंकार के अन्तर्गत ही माना जाता था। मम्मट ने भी अनुप्रास नामक शब्दालंकार का वर्णन करते हुए रीति की बात कही है। मम्मट के मतानुसार काव्य में वृत्ति नित्य धर्म की तरह होती है और इसके अभाव में काव्य में रस, गुण तथा अलंकार आदि अर्थहीन होते हैं। इसके विपरीत अलंकार काव्य के बहिरंग तत्त्व की भाँति होते हैं और उनके अभाव में भी काव्य की स्थिति सम्भव हो सकती है। विश्वनाथ ने भी अलंकारों को केवल रस के उपकारक तत्त्व ही स्वीकार किया और रीति को रस-उपकर्मी माना और एक बार फिर रीति और अलंकारों को समान आदर प्राप्त हो गया।

रीति और अलंकार से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दण्डी के युग तक अलंकारों को केवल काव्य शोभाकारक तत्त्व माना जाता था और रीति और वृत्ति आदि को अलंकारों के अन्तर्गत ही माना जाता था। बाद में वामन के समय में स्थिति कुछ बदली और रीति को लेकर और अधिक व्यापक विवेचन-विश्लेषण किया गया, फिर भी अलंकारों की उपेक्षा नहीं की गयी। रीति और अलंकार का भेद स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "'रीति' ऐसी रचना है जो अपनी वर्णयोजना, समस्तपदों के प्रयोग, उचित अर्थवान शब्दों के गुम्फन तथा भावों एवं विचारों के क्रम बन्धन से मनःप्रसाद करती है, अलंकार रचना में परिस्फुट सौन्दर्यदायक तत्त्व हैं।"

दोष और अलंकार—काव्यशास्त्रियों ने काव्य-दोषों पर विस्तार से विचार किया है और इन दोषों की संख्या कम और अधिक होती रही है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विवेकानुसार काव्य-दोषों का विवेचन किया है। आनन्दवर्द्धन से पूर्व काव्य-दोषों का विस्तृत विवेचन हुआ था। भामह से पूर्व अलंकारों की प्रधानता मान ली गयी थी तथापि अलंकारों के प्रयोग में औचित्य का ध्यान दिया जाना अपेक्षित था। भामह ने अपने से पूर्व के मेधावी आचार्य द्वारा निर्धारित दोषों का उल्लेख किया है। अलंकारों और विशेष रूप से उपमा अलंकार के प्रयोग में निम्नलिखित दोषों से बचने का सुझाव दिया गया था—(क) हीनता, (ख) असम्भव, (ग) लिंगभेद, (घ) वचन भेद, (ङ) विपर्यय, (च) उपमानाधिक्य तथा (छ) उपमान सादृश्य आदि। अलंकारों के प्रयोग में काव्यशास्त्रियों ने अन्य कई दोषों का भी उल्लेख किया है और इस सम्बन्ध में दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। दण्डी ने चार प्रकार के दोष गिनाये हैं—लिंगभेद, वचनभेद, हीनता और अधिकता।

वक्रोक्ति और अलंकार—वक्रोक्ति के सम्बन्ध में सबसे पहले भामह ने विचार किया था और उनकी स्पष्ट मान्यता यह थी कि सभी अलंकारों का मूल आधार

वक्रोक्ति होता है। भामह के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयता होता है और निस्सन्देह अलंकारों में अतिशयता पहली शर्त होती है। दण्डी ने भामह के मत का खण्डन किया और उन्होंने स्वभावोक्ति को सभी अलंकारों का मूल आधार स्वीकार किया। यद्यपि दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर स्वभावोक्ति को आद्य-अलंकृति माना, फिर भी उन्होंने वक्रोक्ति का खुलकर विरोध नहीं किया। इस प्रकार काव्य स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति—दो मुख्य क्षेत्रों में बँट गया। भोज ने काव्य के इस द्विविध रूप के स्थान पर त्रिविध रूप की स्थापना की और वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति के अतिरिक्त रसोक्ति की सत्ता भी स्वीकार की गयी। फिर भी भोज ने इन तीनों अलंकारों में वक्रोक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया। भोज के पश्चात् ध्वनिवादी आचार्यों ने रस-सम्प्रदाय को सर्वाधिक महत्त्व दिया और इस प्रकार वक्रोक्ति की चर्चा केवल अलंकार रूप में ही की जाने लगी। भामह ने वक्रोक्ति को जो आद्य-अलंकृति का स्थान दिया था, वह अपहृत हो गया और इसके साथ ही वक्रोक्ति का विवेचन एक सामान्य अलंकार की भाँति किया जाने लगा।

अलंकार के रूप में भी वक्रोक्ति की चर्चा सर्वप्रथम भामह ने की थी। भामह ने कहा—

न नितान्तादिमात्रेणजायते चारुता गिराम।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचमालंकृतिः।

उपर्युक्त पंक्तियों में अभिधेय का आशय अर्थालंकार से और शब्द का आशय शब्दालंकार से है। भामह के उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि अलंकार के रूप में वक्रोक्ति वाणियों अर्थात् काव्य के रूपों में भी वांछित है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के जनक कुन्तक के वक्रोक्ति-विवेचन पर भामह के उक्त कथन का भरा-पूरा प्रभाव देखा जा सकता है बल्कि सचाई तो यह है कि कुन्तक ने भामह के विवेचन को ही व्यापक एवं विस्तृत आधार प्रदान किया है। कुन्तक के शब्दों में—

'शब्दार्थों सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितो काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।'

अर्थात् काव्य-मर्मज्ञों को आनन्दित करने वाली वक्रतायुक्त तथा कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ अपने सहित रूप में काव्य कहलाते हैं।

एक सम्प्रदाय के रूप में कुन्तक ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को जन्म दिया। अपने इस सिद्धान्त में उनकी मूल धारणा यही रही है कि काव्य में वक्रोक्ति अलंकार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है, शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य होते हैं और उन दोनों का अलंकार केवल वक्रोक्ति अलंकार ही होता है। कदाचित् इसी कारण वक्रोक्ति अलंकार की गणना शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों रूपों में होती है। कुन्तक के मतानुसार वक्रोक्ति कोई साधारण अलंकार नहीं है अपितु वह एक अपूर्व और विचित्र अलकार होता है। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार-सम्प्रदाय के साथ वक्रोक्ति का बहुत पुराना और अटूट सम्बन्ध रहा है।

औचित्य और अलंकार—भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त की स्थापना की और यद्यपि उनके समय में रस, ध्वनि, अलंकार आदि को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त था, फिर भी क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त ने काव्य के इन सभी तत्त्वों को प्रभावित किया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का विवेचन (किसी न किसी रूप में) भरत से लेकर क्षेमेन्द्र के समय तक होता रहा है, उसी प्रकार औचित्य भी भरत आदि काव्य-शास्त्रियों का विवेच्य विषय रहा है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने तो काव्य के सभी तत्त्वों के मूल में औचित्य सिद्धान्त का प्रसार देखा है। क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त से पूर्व अनेक काव्यशास्त्रियों ने औचित्य पर विचार किया है और औचित्य सम्बन्धी चिन्तन की परम्परा के अवलोकन से यह भी स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम अलंकारों के प्रयोग को लेकर ही औचित्य का प्रश्न उठा था। भामह, दण्डी, लोल्लट, हेमचन्द्र आदि कई काव्यशास्त्रियों ने अलंकारों के प्रयोग में औचित्य सम्बन्धी मत प्रकट किये। रुद्रट ने तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अलंकारों के उचित प्रयोग की बात कही है। उसी प्रकार लोल्लट ने कहा कि यमक और चित्रबन्ध जैसे अलंकार महाकाव्योचित गरिमा के अनुरूप नहीं होते।

बाद में चलकर औचित्य मतावलम्बियों ने औचित्य का आधार रस को माना और कहा कि काव्य में रस निष्पत्ति के लिए अलंकारों के प्रयोग में औचित्य अर्थात् विवेकबुद्धि का आश्रय लेना चाहिए। इसी क्रम में ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन के विचार उल्लेखनीय हैं। आनन्दवर्द्धन ने अलंकारों के प्रयोग में ग्रहीत मुक्त-विधान का पक्ष पोषण किया। ग्रहीत-मुक्त-विधान का आशय यह है कि अलंकारों का प्रयोग इतना सहज और स्वाभाविक हो कि पाठक अलंकारों की ओर नहीं अपितु उनसे उत्पन्न रसोत्कर्ष की ओर आकृष्ट हो, अर्थात् पाठक को ऐसा न लगे कि अलंकारों का प्रयोग किया गया है अपितु उसे ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि वह पूरे काव्य का आनन्द ले रहा है। पूरे काव्य में अलंकार इस तरह घुल-मिल जाने चाहिए कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता रहे ही नहीं। अलंकारों के प्रयोग के औचित्य को लेकर अभिनवगुप्त ने भी विस्तार से विचार किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार निर्जीव शरीर पर आभूषणों की शोभा नहीं रह जाती क्योंकि आत्मा के अभाव में शरीर का कोई अस्तित्व नहीं होता। निष्प्राण ठठरी पर अपरिमित आभूषणों के लादने से भी उसमें प्राण नहीं फूके जा सकते, फिर उसकी शोभा की अभिवृद्धि करने की बात करना तो नितान्त अर्थहीन होगा। क्षेमेन्द्र ने भी यह मत व्यक्त किया कि अलंकारों का प्रयोग तभी सराहनीय और शोभाकारक कहा जा सकता है, जबकि प्रयोगकर्ता ने औचित्य का पूर्ण निर्वाह किया हो। क्षेमेन्द्र के शब्दों में, "अलंकारों का अलंकारत्व ही तब माना जायेगा जबकि उनका प्रयोग औचित्य से हो, अन्यथा किसी फूहड़ द्वारा पहने गये अलंकारों की भाँति वे 'अलंकार' न होकर वैरूप्य के ही कारण बनेंगे। अर्थों की उक्ति प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलंकार विन्यास होने से वैसे ही चमत्कृत होती है जैसे

पीनस्तनों पर स्थित हार से हरिण-लोचना सुन्दरी। रसपोषक होने से ही अलंकार का अलंकारत्व औचित्य प्राप्त करता है।''

रीतिकालीन काव्याचार्यों की शास्त्रीय दृष्टि औचित्य और अलंकारों के बीच किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को नहीं पकड़ सकी। तथापि काव्य में शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग की बात स्वतःसिद्ध है, यह एक संयोग ही है कि रीतिकालीन आचार्यों ने इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को अपने चिन्तन का विषय नहीं बनाया। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों की भाँति ही औचित्य का प्रश्न भरत से लेकर क्षेमेन्द्र आदि काव्याचार्यों तक विवेचना का विषय रहा है और इस प्रकार अलंकारों के प्रयोग के साथ औचित्य किसी न किसी रूप में जुड़ा अवश्य रहा है।

अलंकारों से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अलंकारों की स्थिति उनकी अनिवार्यता अथवा अनित्यता, उनके साधन अथवा साध्य रूप को लेकर कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं। इन कथित महत्त्वपूर्ण तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए अलंकार सम्प्रदाय की मान्यताएँ और अधिक स्पष्ट हो सकेंगी। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि काव्य में अलंकार का स्थान साध्य रूप में नहीं, साधन रूप में होता है। अलंकारों का प्रयोग स्वयं में कवि का साध्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अलंकार केवल शब्द अथवा अर्थ के ही नहीं अपितु रसभावादि अलंकार्य के भी उत्कर्ष में सहायक होते हैं। तीसरी बात यह है कि काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं होती अर्थात् अलंकार काव्य का नित्य धर्म नहीं होते। यद्यपि अलंकार प्रायशः काव्य में विद्यमान रहते हैं, फिर भी वे काव्य के अनिवार्य तत्त्व नहीं हैं अर्थात् उनके बिना भी काव्य की रचना की जा सकती है। चौथी बात यह है कि काव्य का मूलाधार रस तथा भावादि होते हैं और उनके अभाव में अलंकारों का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। केवल अलंकार उक्ति-वैचित्र्य ही हो सकते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। पाँचवीं बात यह है कि अलंकारों का प्रयोग स्थिति और स्थान के औचित्य के आधार पर होना चाहिए। यदि अलंकारों के प्रयोग में औचित्य का ध्यान नहीं रखा गया तो वे शोभा के उपकारक न होकर वैरूप्य के जनक होंगे। छठी और अन्तिम बात यह है कि अलंकार अभिव्यक्ति का एक विशेष ढंग होते हैं।

काव्य में अलंकारों का स्थान—अलंकार के सम्बन्ध में यह निर्विवाद है कि उक्ति चमत्कार को ही अलंकार कहते हैं। किसी भी बात को अनूठे ढंग से कहने के लिए अलंकारों का आश्रय लिया जाता है। इसी के साथ काव्य में अलंकारों के स्थान से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्न जुड़ा हुआ है और उस प्रश्न को भी अधिक बोधगम्य बनाने के लिए दो भागों में बाँटा जा सकता है—(i) क्या प्रत्येक उक्ति चमत्कार को काव्य कहा जा सकता है ? तथा (ii) क्या काव्य में उक्ति-चमत्कार होना अनिवार्य है भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से इन प्रश्नों के उत्तर दिये हैं और अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन काव्यशास्त्रियों को दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता

है—एक तो अलंकारवादी आचार्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है क्योंकि ये सारे आचार्य अलंकार को काव्य का नित्य-धर्म मानकर चलते हैं। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, रुद्रट तथा उद्भट आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। रसवादी आचार्यों में ऐसे सभी काव्यशास्त्रियों को परिगणित किया जा सकता है जो कि यह मानकर चलते हैं कि अलंकार काव्य का नित्यधर्म नहीं और अलंकार रसभाव तथा वर्ण्य-विषय के उत्कर्ष में सहायक तत्त्व होते हैं। इन रसवादी काव्य-शास्त्रियों में मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा क्षेमेन्द्र आदि काव्याचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं।

जहाँ तक प्रश्न के पहले भाग का सम्बन्ध है, अलंकारवादी तो यह कहते हैं कि प्रत्येक उक्ति-चमत्कार ही काव्य होता है जबकि रसवादी आचार्यों के मतानुसार कोरा उक्ति-चमत्कार अथवा अलंकारों के प्रयोग करने मात्र के उद्देश्य से प्रयुक्त अलंकार काव्य नहीं कहला सकते। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों ने ही नहीं अपितु आधुनिक युग के आलोचक प्रवर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कहा है कि "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।" कहना न होगा कि उक्त परिभाषा में 'कभी-कभी' का प्रयोग अलंकारों की अनित्यता का ही परिचायक है। इसके विपरीत अलंकारवादी आचार्य अलंकारों से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य मानते थे। उनके मतानुसार अलंकारों के बिना काव्य की स्थिति सम्भव ही नहीं है। वस्तुतः अलंकारवादियों की यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण थी क्योंकि यदि सभी प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य काव्य कहलाने का अधिकारी होता तो चित्रकाव्य अथवा प्रहेलिकाएँ भी काव्य की श्रेणी में सहज ही परिगणित कर ली जातीं। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, "ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियों को सुलझाने से सम्बन्ध रखता है या केवल कल्पना विधान के आश्रित हैं, काव्यपद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्रकाव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमें भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है, प्राचीन आचार्यों ने काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है, अर्थात् श्रोता के मन में हल्की से हल्की भी भावतरंग उत्पन्न नहीं करता वहाँ हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति सम्भव नहीं है : सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता जिसमें भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक विधान मात्र है वह बौद्धिक आनन्द ही होगा, उसमें ऐन्द्रिता का रस नहीं होगा।" कतिपय विद्वान् रसवादी आचार्यों की उक्त मान्यता से सहमत नहीं हैं और उनका मुख्य तर्क यह है कि यदि किसी बौद्धिक ग्रन्थि के खुल

जाने से विस्मय का भाव उत्पन्न होता है तो यह कहना कहाँ तक तर्कसंगत है कि विस्मय के भाव से आनन्द की अनुभूति नहीं होती। काव्य में जिसे अद्भुत रस कहा गया है, क्या वह भी इन्हीं विस्मयादि भावों का परिपाक नहीं है।

वस्तुतः रसवादी आचार्यों के मतानुसार वही रचना काव्य कहलाने की अधिकारिणी होती है जो कि विभावादि से पुष्ट हो और रसयुक्त भी हो। यदि रसवादियों की इस मान्यता पर भी विचार किया जाये तो इसे भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसी अनेक काव्य-रचनाएँ सहज सुलभ हैं जिनमें विभावादि से पुष्ट रसानुभूति तो नहीं होती किन्तु अभिव्यक्ति इतनी चमत्कारपूर्ण और अनूठी होती है कि उन्हें काव्य की श्रेणी से बहिष्कृत भी नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए सन्त कवि कबीर की निम्न पंक्तियाँ देखिये :

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है,
बाहर भीतर पानी।
टूट्यो कुम्भ जल जलहि समाना,
यह तथ्य कह्यौ ज्ञानी।'

निस्सन्देह कबीर की इन पंक्तियों में विभावादि से पुष्ट रसानुभूति के दर्शन नहीं होते किन्तु इनके काव्यात्मक आनन्द, अभिव्यक्ति के अनूठेपन को तो नकारा नहीं जा सकता।

इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि अलंकारों की अनिवार्यता अनित्यता के प्रश्न का समाधान बहुत कठिन भी नहीं है और इसका मुख्य श्रेय अलंकारवादियों की उदारता को दिया जाना चाहिए। अलंकारवादी तो यहाँ तक मानते हैं कि जिन काव्यों में उपमादि अलंकार न होकर स्वभावोक्ति हो या रस-भाव की स्थिति हो, वहाँ उन्हें भी अलंकार शब्द की व्यापक परिधि में सहज ही समेटा जा सकता है। वस्तुतः अलंकार को एक व्यापक सौन्दर्य तत्त्व मान लेने के पश्चात् ऐसी कोई समस्या ही नहीं रह जायेगी क्योंकि काव्य में सौन्दर्य की उपस्थिति तो होगी ही—भले ही वह किसी भी रूप में हो। इस स्थल पर तो रसवादी आचार्य भी सहमत होंगे कि भले ही अलंकार के बिना काव्य की स्थिति सम्भव हो सकती है किन्तु सर्वथा सौन्दर्यविहीन काव्य तो सम्भव ही नहीं हो सकता। निस्सन्देह यही वह बिन्दु है जहाँ काव्य में 'अलंकारों' के स्थान से सम्बन्धित प्रश्न का समाधान उभरता हुआ दीखता है। यदि अलंकार को व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया जाये और उसे एक सौन्दर्यतत्त्व मान लिया जाये तो काव्य में उसकी अनिवार्यता के प्रति रसवादियों को भी सम्भवतः कोई आपत्ति नहीं होगी। अतः इस विवेचन के आधार पर एक समाधानात्मक दृष्टिकोण यह हो सकता है कि काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक तो है ही।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि रसवादी आचार्यों ने अलंकारों को रस, भावादि के उत्कर्ष का सहायक तत्त्व माना है और यह भी माना है कि काव्य में

अलंकार प्रायः विद्यमान रहते हैं। रसवाद के प्रबल समर्थक आचार्य शुक्ल भी काव्य में सीधी और अभिधात्मक अभिव्यक्ति की निन्दा करते हैं और क्या अभिधात्मक अभिव्यक्ति की निन्दा परोक्षतः अलंकरण की स्वीकृति नहीं है ? वस्तुतः जब आचार्य शुक्ल अलंकार की परिभाषा देते समय 'कभी-कभी' का प्रयोग करते हैं तो उनका संकेत सम्भवतः गद्य साहित्य के प्रति है क्योंकि गद्य साहित्य बिना अलंकृत के भी पाठकों को मन्त्रमुग्ध कर सकता है। अतः अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं माना जा सकता, फिर भी उसकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की जा सकती क्योंकि भावरस, आदि साहित्य के इतने समर्थ तत्त्व हैं कि वे अलंकारों के बिना भी सहृदय पाठक को भाव-विभोर कर सकते हैं। सूरदास के अत्यन्त प्रसिद्ध पद 'मैया मैं नहीं माखन खायो' अथवा 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' इस दृष्टि से अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। इन पदों में सीधी-सादी बात कही गयी है किन्तु कथारस, भावरस आदि के कारण ये सीधे सरल से पद आज के प्रबुद्ध पाठक को भी सहज ही झकझोर देते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अलंकार काव्य के अनिवार्य तत्त्व न होते हुए भी परमावश्यक तो हैं ही।

इसी से जुड़ा हुआ एक अन्य प्रश्न यह है कि अलंकार काव्य का बहिरंग तत्त्व है अथवा अन्तरंग। कतिपय रसवादी आचार्यों ने अलंकार को बहिरंग तत्त्व नहीं माना है। रसवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन के शब्दों में—

'शरीरकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गता।'

तथा

तस्मान्न तेषां बहिरंगत्व रसाभिव्यक्तौ।'

अर्थात् अलंकार विशेष प्रकार की वचन-शैलियाँ होती हैं और वे शरीररूप होती हैं किन्तु ध्वनि अथवा रसध्वनि के सहायक बने होने के कारण ये आत्मारूप बन जाते हैं। अतः आनन्दवर्द्धन के अनुसार अलंकारों को नितान्त बहिरंग तत्त्व नहीं माना जा सकता। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार ये अलंकार न तो बाह्यारोपित होते हैं और न वे स्वतन्त्र रूप से अन्तरंग ही होते हैं। वस्तुतः वे काव्य के अन्तरंग तत्त्वों, यथा रस, भाव, वर्ण्यवस्तु आदि के अन्तरंग साधनों की तरह हैं जो कि उनमें इतने अधिक घुलमिल जाते हैं कि वे न तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही बना रख पाते हैं न उनकी उपस्थिति ही उपेक्षणीय होती है। इसी प्रसंग में रसवादी भोजराज का विवेचन भी उल्लेखनीय है। भोजराज के अनुसार, अलंकार आभूषणों की तरह होते हैं और वे तीन प्रकार के होते हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर। इन तीन प्रकारों की व्याख्या करते हुए भोजराज कहता है कि बाह्य आभूषण तो वे होते हैं जो शरीर पर यथेच्छा धारण किये जा सकते हैं और उतारे भी जा सकते हैं जैसे कि हार आदि। आभ्यन्तर आभूषण वे होते हैं जो शरीर के अंगों के साथ जुड़े अथवा चिपके रहते हैं जैसे कि कर्णाभूषण आदि। बाह्याभ्यन्तर आभूषण ऐसे होते हैं जो

शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों से सम्बन्धित होते हैं जैसे कि अंगराग आदि का लेप आदि । भोजराज के शब्दों में—

'अलंकारश्च त्रिधा—बाह्याः आभ्यन्तराः बाह्याभ्यांतराश्च । तेषु बाह्याः वस्त्र-माल्य-विभूषणादयः । आभ्यन्तराः—दन्तपरिकर्म नखच्छेद अलक कल्पनादयः । बाह्याभ्यन्तराः—स्नान, धूप (विलेपनादयः) ।'

यदि विभिन्न प्रकार की अलंकार श्रेणियों पर विचार किया जाये तो भोजराज का यह वर्गीकरण सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होगा । निस्सन्देह कई शब्दालंकारों को (यथा अनुप्रास आदि) बाह्य अलंकारों की श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि ऐसे अलकार केवल उक्ति चमत्कार ही उत्पन्न कर सकते हैं । इस श्रेणी के अलंकारों से भावोत्कर्ष में तनिक भी सहायता नहीं मिलती और उनका आनन्द पढ़ने-सुनने अथवा लिखने-सुनाने तक ही सीमित रहता है । दूसरे शब्दों में, ऐसे बाह्यालंकार केवल शब्दों का चमत्कार ही होता है । उदाहरण के लिए एक दोहा देखिये—

'तो पर वारों उरबसी, सुनि राधिके सुजान ।
तू मोहन के उरबसी, ह्वे उरबसी समान ।।'

इस दोहे में कवि ने 'उरबसी' का प्रयोग करके यमक अलंकार का चमत्कार प्रदर्शित किया है । निस्सन्देह इस प्रकार के प्रयोग से कवि की आचार्यत्व वृत्ति का ही परिचय मिलता है, भावोत्कर्ष के नाम पर 'उरबसी' का यह प्रयोग अधिक महत्त्व नहीं रखता ।

आभ्यन्तर अलंकार की श्रेणी में ऐसे अलंकार परिगणित किये जा सकते हैं जो कि काव्य के भीतर इतना गहरा घुल गया हो कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही जाता रहा हो । इस प्रकार के अलंकार रस-भावादि के साथ मिलकर उन्हीं का एक अंग बन जाते हैं । उदाहरण के लिए, तुलसी की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'देखी विपुल विकल वैदेही । निमिष विहात कलप सम तेही ।।
तृषित वारि बिनु जो तनु त्यागा । मुए करइ का सुधा तड़ागा ।।
का बरषा जब कृषी सुखाने । समय चुके पुनि का पछिताने ।।
अस जिय जानि जानकी देखी । प्रभु पुलके लखि प्रीति विसेषो ।।

अलंकारों की तीसरी श्रेणी में ऐसे अलंकारों को परिगणित किया जा सकता है जो कि काव्य के बाह्य तथा अन्तरंग—दोनों के उपकारक हों । काव्य के बाह्य का आशय काव्य के कलापक्ष अथवा शैली पक्ष से होता है और काव्य के अन्तरंग का अभिप्राय काव्य के भावपक्ष अथवा रसादि से होता है । इस प्रकार के अलंकारों को भोजराज की भाषा में बाह्याभ्यन्तर अलंकार कहा जायेगा । इस प्रकार के अलंकारों के उदाहरण के रूप में सूरदास का निम्न पद द्रष्टव्य है—

'अब मोहि मीजत क्यों न उबारो ।
दीनबन्धु करुनामय स्वामी जन के दुख निवारो ।।

ममता घटा, मोह की बूँदें, सरिता मैन अपारो।
बूड़त कतहु थाह नहीं पावत गुरु जन ओट अधारो॥
गरजन क्रोध लोभ को मारो सूझत कहुँ न उधारो।
तृसना तड़ित चमकि छिन ही छिन अहनिसि यह तन जारो॥'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भोजराज द्वारा किया गया वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल होते हुए भी युक्तियुक्त है।

अलंकार और अलंकार्य—अलंकारों के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार काव्य के अन्तरंग तत्वों अर्थात् रस, भावादि का उपकारी होता है। इस आधार पर अलंकार और अलंकार्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है—अलंकार्य तो भाव, रस तथा वर्ण्य विषय आदि होते हैं और उस अलंकार्य का उत्कर्ष करने वाले अलंकार होते हैं। इस आधार पर अलंकार और अलंकार्य की दो पृथक् और स्वतन्त्र सत्ताएँ मानी जा सकती हैं; किन्तु व्यवहार में, इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, अलंकार और अलंकार्य का यह कथित भेद केवल तात्त्विक है, व्यावहारिक नहीं। वस्तुतः ये दोनों तत्त्वतः अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे के साथ इतने गहरे जुड़े होते हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अलंकार और अलंकार्य के इस अभेद की स्थिति कोई नयी बात नहीं है। दण्डी, वामन आदि ने समस्त काव्य-सौन्दर्य को अलंकार के अन्तर्गत माना है—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।' (दण्डी)
'सौन्दर्यमलंकारः।' (वामन)

इन प्राचीन काव्यशास्त्रियों के अनुसार काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का कारण अलंकार होते हैं। भामह ने कहा है कि जहाँ प्रस्तुत अर्थ में कोई चमत्कार अथवा सौन्दर्य नहीं है (जो कि अलंकारों के प्रयोग से सम्भव हो सकता था) वहाँ काव्य हो ही नहीं सकता। भामह के शब्दों में—

'गतोऽस्तम को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं ?—वार्तामेनां प्रचक्षते।'

अर्थात् सूर्यास्त हो गया, चन्द्रोदय हो गया, पक्षी अपने-अपने नीड़ों को वापस जा रहे हैं—भला यह भी कोई काव्य हो सकता है, इसको तो वार्ता ही कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि शब्द-अर्थ के मुख्यतः दो रूप हो सकते हैं—एक तो उसका मूल अथवा प्राकृत रूप और दूसरा उसका अलंकृत रूप। शब्द-अर्थ अपने प्रकृत रूप में काव्य नहीं हो सकता और शब्द-अर्थ का अलंकृत रूप अपने समग्र रूप में काव्य कहलायेगा। अलंकारवादी उसी काव्य को अलंकार मानते हैं और ऐसे काव्य में अलंकार तथा अलंकार्य के बीच पूर्ण अभेद की स्थिति होती है। रसवादी आनन्दवर्द्धन के अनुसार, अलंकार और अलंकार्य दो परस्पर भिन्न

सत्ताएँ हैं। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार अलंकार्य रस होता है और अलंकार की सार्थकता उस रस का उत्कर्ष करने में है। मम्मट और विश्वनाथ ने भी अलंकार और अलंकार्य का भेद स्वीकार किया है। अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट करते हुए ये कहते हैं कि "हारादि आभूषण जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से शरीर को सुशोभित करते हुए मूलतः आत्मा का उत्कर्ष करते हैं उसी प्रकार अलंकार प्रत्यक्षतः शब्द-अर्थ को भूषित करते हुए मूल रूप में रस का उपकार करते हैं।"

अलंकार और अलंकार्य के अभेद की स्थिति सिद्ध करते हुए पाश्चात्य काव्यशास्त्री और अभिव्यंजनावाद के जनक क्रोचे कहते हैं: "कला मूलतः सहजानुभूति तथा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान है, और सहजानुभूति अभिव्यंजना से अभिन्न है, जो अभिव्यंजना से मूर्त नहीं होती वह सहजानुभूति न होकर संवेदन या प्रकृत विकार मात्र है। अपने पूर्व रूप में वस्तु यन्त्रवत् है, निष्क्रिय है, मानवात्मा उसका अनुभव तो करती है परन्तु सृजन नहीं करती। सहजानुभूति से अभिन्न होने के कारण अभिव्यंजना अखण्ड है—रीति, अलंकार आदि में उसका विभाजन नहीं हो सकता।.............. यहाँ यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का नियोजन किस प्रकार किया जा सकता है? बाहर से? तब तो वह उक्ति से सदैव पृथक् रहेगा। भीतर से? ऐसी दशा में या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक बन जायेगा, या फिर उसका अंग बन कर अलंकार ही न रह जायेगा। तब तो वह उक्ति का ही एक अभिन्न अंग बन जायेगा।" इस प्रकार क्रोचे ने अलंकार और अलंकार्य के बीच अभेद की स्थिति मानी है।

क्रोचे की इस मान्यता का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो सकेगा कि क्रोचे की दृष्टि मूलतः तात्त्विक रही है और कदाचित् इसी कारण उन्होंने अलंकार और अलंकार्य में अभेद की स्थिति सिद्ध की है। वस्तुस्थिति यह है कि "अलंकार और अलंकार्य में व्यावहारिक भेद तो रहेगा ही। दोनों का अटूट सम्बन्ध तो अवश्य है पर ऐसा अभेद नहीं कि अलंकार और अलंकार्य की पृथक्-पृथक् विवेचना का ही प्रश्न पैदा न हो। अतः न तो अलंकार अलंकार्य से सर्वथा पृथक् बाह्य तत्त्व है और न ही वह अलंकार्य में लीन होकर अपना अस्तित्व खो देने वाला आभ्यन्तर तत्त्व है। वास्तव में वह अलंकार्य का ऐसा अभ्यान्तर तत्त्व या साधन है जो उससे अटूट सम्बन्ध रखता है।"

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार—मनुष्य स्वभाव से भी सौन्दर्य का पुजारी होता है और सौन्दर्य के पूर्ण निखार के लिए अलंकरण की अपेक्षा रहती है। प्रकृति के सुरम्य दृश्यों, हृदय के उन्मुक्त विलासों में सौन्दर्य खोजने वाला मनुष्य केवल सुन्दरता देखकर ही तृप्त नहीं हो जाता अपितु वह स्वयं भी सुन्दर दीखना चाहता है। उसके अन्तर्मन में सदैव यही कामना रहती है कि दूसरे लोग उसकी सुन्दरता की सराहना करें। सुन्दरता एक व्यापक अवधारणा है। सुन्दरता का अर्थ केवल शारीरिक सौन्दर्य

नहीं होता। अपितु उसके भीतर मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य सिमट आता है। अपनी बात को सुन्दर ढंग से कहना, अपने अंतमन के सौंदर्य को प्रकाशित करना—यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और अलंकार के पीछे यही मानवीय प्रवृत्ति अथवा मनोविज्ञान कार्यरत होता है। कवि अथवा लेखक के पास भी हमारी आपकी-सी अनुलुतियाँ होती हैं और वह उन अनुभूतियों को अधिकाधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है और इसी प्रक्रिया में अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अलंकरण की प्रवृत्ति मानव स्वभाव है और यही इसका मनोवैज्ञानिक आधार है।

इसी के साथ जुड़ा हुआ एक प्रश्न अलंकारों के प्रयोग से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में अलंकारों का प्रयोग सहज, स्वाभाविक होता है अथवा सायास। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि सौंदर्य का सर्वोत्कृष्ट रूप जीवन का सम्पूर्ण सौंदर्य—सहजता और स्वाभाविकता में छिपा होता है। अलंकारों का प्रयोग जितना सहज होगा, उनका प्रभाव उतना ही गहरा होगा। जो अलंकार प्रयत्नज प्रकट होते हैं, वे काव्य के अन्तरंग में घुलमिल नहीं पाते और इस कारण वे बाह्यारोपित प्रतीत होते हैं। अतः अलंकारों का वही प्रयोग सफल कहा जा सकता है जिसमें वे कवि के स्वतः स्फूर्त भावों के साथ, सुशीला नारी की तरह बँधे चले आते हैं।

भाव की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम भाषा होती है और अलंकार भी वस्तुतः भावों की अभिव्यक्ति के ही साधन होते हैं, अलंकार का जन्म अनुभूति की तीव्रता में होता है। जिन महत्त्वपूर्ण क्षणों में काव्य का सृजन होता है, उनमें कवि एक प्रकार के उन्मादन की स्थिति में होता है और उसके अन्तर्मन में उमड़ते हुए भाव अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठते हैं। भाव का उमड़ना, भाषा में बँधता चला जाता है और इसी क्रम में अलंकार का जन्म होता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि अलंकार किसी विशिष्ट भाव से नहीं जुड़े होते हैं बल्कि उनके पीछे भाव सामान्य कार्यरत होते हैं। सभी मानवीय भावों में उद्दीपन होता है और वही उद्दीपन अलंकारों को जन्म देता है। कदाचित् इसी कारण अलंकार किसी भी प्रकार के भाव को अभिव्यक्ति दे सकते हैं।

इस सम्बन्ध में यह निर्विवाद है कि अलंकारों के मूल में मन की उड़ान अथवा कल्पना होती है जो कि मन के आवेगों, भावों को अभिव्यक्ति के समय सहानक सिद्ध होती है। वही कल्पना उपमान-योजना तैयार करती है अथवा अतिशब विरोध अथवा वक्रता कुछ भी कर देती है। यह समूचा कार्य विशुद्ध रूप से मन की कल्पना का है। भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल आधार सिद्ध किया है और इसी प्रकार दण्डी ने श्लेष को तथा वामन ने औपम्य को अलंकारों का मूल आधार माना है। उन सभी अलंकारों के मूल में मन की कल्पना का विस्तार देखा जा सकता है।

अलंकारों के मूल में अतिशयत्व की प्रक्रिया विद्यमान रहती है और इसी अतिशयता को शास्त्रीय भाषा में स्पष्ठता, अतिशयोक्ति, चमत्कार-वक्रोक्ति आदि

कुछ भी कहा जा सकता है। अतिशयता का अर्थ सामान्य को असामान्य और असामान्य को सामान्य कहना है और निस्सन्देह इस प्रक्रिया में मानवमन का विस्तार परिलक्षित होता है। यही नहीं, समूचे अलंकार सम्प्रदाय के पीछे मानव मन के इसी विस्तार के दर्शन किये जा सकते हैं। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में : "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मन के विस्तार को ही अलंकार मात्र की मूल प्रक्रिया माना जाना चाहिए। अत्युक्ति इसी विस्तार की सीमाहीन सीमा है। संगति में यही विस्तार अपने आपको एक विशिष्ट सापेक्षिकता में अन्वित करता है, विरोध और गोपन में यही विस्तार एक अवरोधमूलक प्रक्रिया ग्रहण करता है।" मन का यह विस्तार भी दो प्रकार का होता है—ऋजु विस्तार और अवरोधमूलक। ऋजु विस्तार मन की अनुकूल दिशा में होता है जबकि अवरोधमूलक विस्तार प्रतिकूल दिशा में होता है।

अलंकारों की संख्या—अलंकारों की संख्या को लेकर भारतीय काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त विचार हुआ है और सभी ने अपने-अपने विवेकानुसार अलंकारों की संख्या निर्धारित की है। तथापि अधिकांश काव्यशास्त्री अभिनवगुप्त के इस कथन से सहमत हैं कि "सौन्दर्य को अलंकार कहते हैं" और इस आधार पर ऐसे सभी काव्य-तत्त्व जो काव्य की शोभा, सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करते हैं अलंकार की परिभाषा में आ जाते हैं। साहित्य की निरन्तर विकासमान धारा के कारण नये-नये अलंकार आते रहे हैं और इस प्रकार अलंकारों की संख्या कम-अधिक होती रही है। कदाचित् इसी कारण ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने वर्तमान और भावी—सभी अलंकारों को अपनी मान्यता प्रदान की है।

अलंकारों की संख्या के सम्बन्ध में सबसे पहले भरतमुनि का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने केवल चार अलंकार ही माने हैं। इन चार अलंकारों के अतिरिक्त भरतमुनि के काव्य के 36 लक्षण भी प्रस्तुत किये गये हैं और निस्सन्देह उन काव्य लक्षणों में भी कई अलंकारों का समावेश हो गया है। भरतमुनि के पश्चात् भामह ने अलंकारों की संख्या 38 निर्धारित की। अलंकारवादी काव्यशास्त्री दण्डी के मतानुसार अलंकारों की संख्या केवल 36 ही रह गयी। दण्डी ने इन 36 अलंकारों के और भी कई भेद-उपभेद आदि गिनाये हैं और इस प्रकार दण्डी द्वारा प्रतिपादित अलंकारों की संख्या बढ़ गयी है। उद्भट ने इस सम्बन्ध में भामह का अनुसरण किया है किन्तु फिर भी इन्होंने अलकारां की संख्या 41 निर्धारित की है। वामन ने अलंकारों की संख्या केवल 33 ही बतायी है। रुद्रट ने कुल 55 अलंकार गिनाये हैं जिसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार—दोनों सम्मिलित हैं। रुद्रट के मतानुसार शब्दालंकारों की संख्या 5 और अर्थालंकारों की संख्या 50 है। इसी प्रकार रसवादी भोज ने 24 शब्दालंकारों के अतिरिक्त 24 अर्थालंकार भी गिनाये हैं। मम्मट ने शब्दालंकारों की संख्या 8 और अर्थालंकारों की संख्या 62 बतायी है और इस प्रकार मम्मट के मतानुसार अलंकारों की सम्पूर्ण संख्या 70 हो गयी। मम्मट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों की संख्या 84 बतायी और वाग्भट्ट ने अलंकारों की कुल संख्या 39 निर्धारित

की जिसमें से शब्दालंकारों की संख्या 4 और अर्थालंकारों की संख्या 35 बतायी। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने शब्दालंकारों की संख्या 6 और अर्थालंकारों की संख्या 29 निर्धारित्त की और जयदेव ने 8 शब्दालंकार तथा 82 अर्थालंकार बताये। विश्वनाथ ने अलंकारों की संख्या 90 निर्धारित की जबकि अप्पय दीक्षित के अनुसार यह संख्या बढ़कर 125 तक हो गयी। इस प्रकार अलंकारों की संख्या घटती-बढ़ती रही है।

अलंकारों का वर्गीकरण—भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भामह का नाम पहला है। भामह ने अलंकारों को स्थूलतः दो वर्गों में बाँटा है—शब्दालंकार और अर्थालँकार। वस्तुतः अलंकारों का प्रारम्भिक वर्गीकरण यही है और यह भी सच है कि विद्वानों में इस वर्गीकरण पर अत्यधिक विवाद रहा है। यद्यपि यह स्थूल वर्गीकरण सीधा और सरल होने के साथ-साथ आधारभूत ढंग का वर्गीकरण रहा है फिर भी विद्वानों में इस पर पर्याप्त मतविभिन्नता है। इस सम्बन्ध में और आगे विवेचन करने से पहले शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का व्युत्पत्यर्थ समझ लेना आवश्यक है। आचार्य भोज ने सर्वप्रथम अलंकार के इन दो भेदों की व्याख्या प्रस्तुत की और कहा कि शब्दों का अलंकरण करने वाले शब्दालंकार होते हैं और अर्थ का अलंकरण करने वाले अर्थालंकार होते हैं जैसे कि स्वभावोक्ति आदि। अलंकारों के इन दो प्रकारों के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार भी बहुचर्चित है और वह है उभयालंकार। अन्यथा भी काव्य में तीन तत्त्वों की स्थिति मानी गयी है—शब्द, अर्थ और शब्दार्थ और इन तीनों तत्त्वों के अलंकरण के लिए क्रमशः शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार की अपेक्षा रहती है। मम्मट ने इस विभाजन का आधार अन्वय्व्यतिरेक माना है—'इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन योविभाग: सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।'

शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के सापेक्ष महत्त्व का प्रश्न भी विद्वानों के चिन्तन का विषय रहा है। दण्डी ने शब्दालंकारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया और उन्होंने केवल यमक और अनुप्रास—इन्हीं दो शब्दालकारों का विवेचन किया है। भामह की दृष्टि समन्वयवादी रही है और उसने दोनों प्रकार के अलंकारों को समान आदर दिया है। इसी प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने भी शब्दालंकारों का समुचित आदर नहीं दिया। 'आनन्दवर्द्धन ने यमक शब्दालंकार की निस्सारता सिद्ध करते हुए कहा है कि 'काव्य में अलंकारों का प्रयोग अप्रयत्नज होना चाहिए किन्तु यमक आदि अलंकारों के प्रयोग में विशिष्ट शब्दों को ढूंढ़ना पड़ता है। कुन्तक के शब्दों में, यमक एक सर्वथा शोभाशून्य अलंकार है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जब कभी शब्दालंकार और अर्थालंकारों के सापेक्ष महत्त्व का प्रश्न उपस्थित हुआ है अर्थालंकारों को अपेक्षतया अधिक आदर मिला है और शब्दालंकारों को कम। तथापि विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो दोनों प्रकार के अलंकारों को समान महत्त्व और आदर देते हैं। इस वर्ग के विद्वानों के मतानुसार—उभावेती अलंकार्यौ' अर्थात् शब्द और अर्थ—दोनों ही अलंकार्य हैं। तथापि इतना निर्विवाद है कि शब्दालंकारों का क्षेत्र

काव्य के केवल बाह्य अथवा शरीर रूप तक सीमित होता है। काव्य के अन्तरंग में जाने के लिए अर्थालंकारों की अपेक्षा रहती है। यदि शब्दालकार काव्य की रूप-सज्जा का अभिवर्द्धन करते है तो अर्थालंकार उसकी आत्मा का अलंकरण करते हैं। शब्दालंकार और अर्थालंकार के सापेक्ष महत्व का प्रश्न उसी तरह कम है जैसे कि शरीर और आत्मा से किसका महत्त्व अधिक है। इस प्रकार के प्रश्न का सहज उत्तर यही होगा कि शरीर आत्मा के अभाव में अर्थहीन है। निर्जीव शरीर को सजाना हास्यास्पद ही कहा जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों के समक्ष मूल समस्या अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों के वर्गीकरण की थी। शब्दालंकारों की स्थिति में अधिक दुविधा नहीं रही है और इसके कई कारण हैं जैसे कि शब्दालंकारों की संख्या अत्यल्प होती है, अर्थालंकारों की तुलना में उनका स्थान गौण होता है, उनका मुख्य कार्य केवल काव्य-शरीर की शोभा का अभिवर्द्धन करना है। अतः स्वभावतः अर्थालंकारों के वर्गीकरण की दिशा में काव्यशास्त्री सदैव प्रयत्नशील रहे।

अलंकारों का सर्वाधिक प्रचलित और समर्थित वर्गीकरण शब्द, अर्थ और उभयालंकार रूप में हुआ है। भोजराज ने भी अलंकारों के यही तीन वर्ग स्वीकार किये हैं और उन्होंने इन तीन वर्गों को क्रमशः बाह्यालंकार, आभ्यन्तर अलंकार और बाह्याभ्यान्तर अलंकार अथवा उभयालंकार की संज्ञाएँ दी हैं। भोजराज के अनुसार शब्दालकार अपने आप में बाह्यालंकार होते हैं जैसे कि जाति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, गुम्फना, शय्या, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर आदि। भोजराज ने अर्थालंकारों को आभ्यन्तर अलकार कहा है और ऐसे अलंकारों में जाति, विभावना, हेतु, सूक्ष्म, उत्तर, सम्भव, अन्योन्य परिवृत्ति निदर्शना, भ्रान्ति, मीलित, स्मृति आदि उल्लेख्य हैं। बाह्याभ्यन्तर अथवा उभयालंकारों में भोजराज ने उपमा, रूपक, अपन्हुति, समाधि, उक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्योगिता, उल्लेख, सहोक्ति, अर्थान्तरन्यास, परिकर, दीपक, क्रम आदि अलंकारों की गणना की है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि भोजराज ने जिन अलंकारों की गणना उभयालंकारों के अन्तर्गत की है, उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने उन्हीं अलकारों को अर्थालकार माना है।

अर्थालंकारों का वर्गीकरण—अनेक काव्यशास्त्रियों ने अर्थालंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इस काव्यशास्त्रियों में उद्भट, रुद्रट तथा रुय्यक आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम आचार्य उद्भट द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण पर विचार किया जा सकता है। आचार्य उद्भट ने वस्तुतः भामह द्वारा प्रतिपादित आधारभूत वर्गीकरण और अधिक स्पष्ट किया है। आचार्य उद्भट ने अलंकारों को मुख्यतः छः वर्गों में विभाजित किया है। पहले वर्ग के अलकारों में पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा तथा

प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकार रखे गये हैं। अलंयारों के दूसरे वर्ग में अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति तथा समासोक्ति आदि अलंकार परिगणित किये जाते हैं। तीसरे वर्ग के अलंकारों में उत्प्रेक्षा, यथासंख्य तथा स्वभावोक्ति अलंकार आते हैं। चौथे वर्ग में रसवत्, पर्यायोक्त उदात्त, श्लेष, प्रेयस्, समाहित तथा ऊर्जस्व आदि नलंकारों का समावेश किया जा सकता है। पाँचवें वर्ग में विशेषोक्ति, अपन्हुति, तुल्योगिता, विरोस, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, निदर्शना, उपमेयोपमा, परिवृत्त, संकर तथा सहोक्ति आदि अलंकारों की गणना की जा सकती है और छठे वर्ग में भाविक, संसृष्टि, हेतु, सन्देह, अनन्वय तथा काव्यदृष्टान्त आदि अलकार परिगणित किये जा सकते हैं। इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि उद्भट ने पहले वर्ग में शब्दालंकारों के साथ उपमामूलक अलंकार रखे हैं और दूसरे वर्ग में उपमामूलक अलंकारों के अतिरिक्त विरोधमूलक तथा आक्षेपमूलक अलंकारों को स्थान दिया है। तीसरे वर्ग के अलंकारों में किसी भी प्रकार के समान आधार के दर्शन नहीं होते। चौथे वर्ग में रसभावादि अलंकारों के अतिरिक्त उदात्त और पर्यायोक्ति अलंकार रखे गये हैं। पाँचवें वर्ग में विरोधमूलक, उपमामूलक और साथ ही उभयालंकारों को भी रखा गया है और छठे वर्ग में वस्तुपरक, सादृश्यमूलक और उदाहरणमूलक अलंकार रखे गये हैं। यद्यपि अलंकारों का यह वर्गीकरण नितान्त वैज्ञानिक अथवा सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता तथापि इतना अवश्य है कि उद्भट ने पहली बार अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण की दिशा में एक निष्ठावान प्रयास तो किया। उद्भट से पूर्व अलंकारों को स्थूलत. शब्द, अर्थ और शब्दार्थ के आधार पर वर्गीकृत किया जाता था। उद्भट ने सर्वप्रथन अर्थालंकारों का एक क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित वर्गीकरण प्रस्तुत किया और अर्थालंकारों को वर्गगत प्रवृत्तियों के आधार पर देखने-समझाने की दृष्टि का सूत्रपात हुआ।

रुद्रट का वर्गीकरण—उद्भट के पश्चात् रुद्रट ने अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया और रुद्रट का अलंकार-वर्गीकरण भी अलंकारों की वर्गगत प्रवृत्तियों के आधार पर हुआ है। रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार मुख्य वर्गों में बाँटा है—

अर्थस्यालंकार वास्तवौपम्यमतिशयः श्लेषः।
ऐषामेव विशेषा अन्य तु भवन्ति नि.शेषा।

अर्थात् अर्थालंकार के चार वर्ग हुए—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वास्तव के अन्तर्गत रुद्रट ने कई अलंकारों को परिगणित किया है जैसे कि यथासंख्य भावपर्याय, सहोक्ति, समुच्चय, जाति, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, हेतु परिसंख्या, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तरसार, सूक्ष्मलेश, अवसर, मीलित तथा एकावली आदि। वास्तव के अन्तर्गत वस्तु का स्वरूप-कथन होता है और उपर्युक्त सभी अलंकारों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

औपम्य के अन्तर्गत एक प्रकार की अप्रस्तुत-योजना होती है। औपम्य-वृत्ति का मूलाधार ही अप्रस्तुत-योजना होती है। रुद्रट ने औपम्य के अन्तर्गत उपमा

उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, रूपक, संशय, अपन्हुति, प्रतीप, मतोत्तर, अन्योक्ति, उभयन्यास, आक्षेप, भ्रान्तिमान, दृष्टान्त पूर्व, सहोक्ति समुच्चय, प्रत्यनीक, साम्य और स्मरण आदि अलंकारों को रखा है। अतिशय में लोकातिक्रान्तता का भाव आता है। इस वर्ग में पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना आदि अलंकारों की गणना की गयी है जिनमें अतिशयता का भाव विद्यमान रहता है। अलंकारों का चौथा वर्ग है श्लेष। श्लेष का आशय अनेकार्थकता से होता है और इस कारण रुद्रट ने इस वर्ग के अन्तर्गत अविशेष, वक्र, व्याजोक्ति, विरोध, अधिक, तत्त्व, विरोधाभास, असम्भव और अवयव आदि दस अलंकार रखे हैं। इसके अतिरिक्त रुद्रट ने कई अलंकारों को उनकी प्रवृत्तियों के अनुरूप एकाधिक वर्गों में भी रखा है जैसे कि उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तव के अतिरिक्त औपम्य वर्ग के अधीन भी आता है। उसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार औपम्य के अतिरिक्त अतिशय वर्ग के अन्तर्गत भी आता है। विरोध और अधिक अतिशय वर्ग में आते हैं और साथ ही श्लेष वर्ग में भी आते हैं।

रुद्रट का उपर्युक्त अलंकार-वर्गीकरण वस्तुत: अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण की दिशा में एक और प्रयास है। रुद्रट ने औपम्य और अतिशय—इन दो वर्गों को वस्तुत: एक वैज्ञानिक और युक्तियुक्त आधार प्रदान किया। निस्संदेह उनका 'वास्तव' वर्ग सर्वथा निर्दोष तथा वैज्ञानिक नहीं बन पाया क्योंकि वस्तुकथन तो औपम्यादि अलंकारों में होता है; इसी प्रकार श्लेष-वर्ग की अवधारणा भी किंचित व्यापक आधार पर ही ग्राह्य हो सकती है। अत: रुद्रट का यह अलंकार-वर्गीकरण सर्वथा निर्दोष और निर्भ्रान्ति न होते हुए भी इस समूचे प्रयास में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

रुय्यक का वर्गीकरण—अलंकार-वर्गीकरण के क्रम में उद्भट और रुद्रट के पश्चात् रुय्यक का नाम उल्लेखनीय है। रुय्यक के अलंकार-वर्गीकरण का आधार रचना-शैली है। रुय्यक ने समस्त अलंकारों को पांच मुख्य वर्गों में बाँटा है और वे पाँच वर्ग निम्नानुसार हैं--

(क) **सादृश्यगर्भ**—इस वर्ग के अन्तर्गत 88 अलंकार रखे गये हैं और इस वर्ग का मूलाधार साधर्म्य है। रुय्यक ने इस साधर्म्य के भी तीन प्रकार बताये हैं—भेदोपभेद-तुल्य प्रधान, अभेद प्रधान तथा गम्यमानौपम्य। यहीं नहीं, साधर्म्य की यह विशेषता कहीं तो वाच्य होती है और कहीं प्रतीयमान। भेदोपभेद-तुल्य प्रधान वर्ग में ऐसे अलंकार आते हैं जिनमें उपमेय और उपमान के साधर्म्य में भेद की स्थिति नहीं होती, अर्थात् दोनों में तुल्य साधर्म्य की स्थिति होती है। ऐसे अलंकारों में रुय्यक ने चार अलंकारों की गणना की है अर्थात् उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण। अभेद प्रधान वर्ग के अन्तर्गत उपमेय और उपमान के साधर्म्य में अभेद की स्थिति रहती है और यह अभेद की स्थिति भी दो प्रकार की होती है—आरोपमूलक और अध्यवसायमूलक। इसी आधार पर अभेद प्रधान अलंकारों (जिनकी संख्या 8 है) में से छ: अलंकार आरोपमूलक और दो अलंकार अध्यवसायमूलक कहे गये हैं।

आरोपमूलक अलंकारों में परिणाम, उल्लेख, अपन्हुति, रूपक, सन्देह और भ्रान्ति आदि अलंकार आते हैं तथा अध्यवसायमूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति—दो अलंकार आते हैं। गम्यमानौपम्य वर्ग के अन्तर्गत ऐसे अलंकार आते हैं जिनमें औपम्य का भाव प्रतीयमान अथवा व्यंग्य रूप में विद्यमान रहता है। इन अलंकारों में औपम्य वाच्य रूप में कभी भी नहीं होता। रुय्यक ने इस वर्ग में 16 अलंकारों की गणना की है और वे हैं—दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, तुल्योगिता, पर्यायोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, सहोक्ति व्यतिरेक, निदर्शना, व्याजस्तुति, परिकर, अर्थान्तिरन्यास, विनोक्ति तथा आक्षेप।

(ख) **विरोधगर्भ अलंकार**—इस वर्ग के अलंकारों का मूलाधार परस्पर विरोधात्मक होता है। रुय्यक ने इस वर्ग में 12 अलंकार रखे हैं—यथा विशेषोक्ति, विभावना, विरोध, सम, विशेष, अन्योन्य, अधिक, विचित्र, व्याघात अतिशयोक्ति, असंगति और विषम। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि रुय्यक ने अतिशयोक्ति अलंकार की गणना इस वर्ग के अतिरिक्त सादृश्यगर्भवर्ग में भी की है। निस्सन्देह अतिशयोक्ति अलंकार की गणना सादृश्यगर्भवर्ग में ही की जानी अधिक उपयुक्त थी क्योंकि अध्यवसान की मूलभूत स्थिति इस अलंकार में बनी रहती है।

(ग) **शृंखला बन्धोपचिता अलंकार**—इस वर्ग के अन्तर्गत रुय्यक ने ऐसे अलंकारों की गणना की जिनमें एक पद अथवा वाक्य दूसरे पद अथवा वाक्य के साथ शृंखला की भाँति बँधा रहता है। इस वर्ग के अलंकारों में एकावली, कारणमाला, सार और मालादीपक—इन चार अलंकारों की गणना की जाती है।

(घ **न्यायमूलक अलंकार**—इस वर्ग के अलंकारों में रुय्यक ने लोक में प्रचलित न्यायवृत्ति को दृष्टिगत रखते हुए अलंकारों का भेदनिरूपण किया है। रुय्यक ने इस वर्ग में 17 अलंकार गिनाये हैं और इन सभी अलंकारों का मूल आधार लोक तथा शास्त्रसम्मत न्याय रखा गया है। रुय्यक ने न्याय-वृत्ति के भी तीन भेद गिनाये हैं और इन 17 अलंकारों को इन भेदों के अनुसार वर्गीकृत कर दिया है। तीन प्रकार के न्याय हैं—तर्कन्यायमूलक, वाक्यन्यायमूलक अथवा काव्यन्यायमूलक और लोकन्यायमूलक। तर्कन्यायमूलक अलंकारों में अनुमान और काव्यलिंग, वाक्यन्याय-मूलक अलंकारों में पर्याय, यथासंख्य, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, परिसंख्या, समुच्चय, विकल्प और समाधि तथा लोकन्यायमूलक अलंकारों में प्रतीत, मीलित, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, प्रत्यनीक, और उत्तर आदि अलंकारों की गणना की गयी है।

(ङ) **गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार**—अलंकारों के इस वर्ग में रुय्यक ने ऐसे अलंकारों की गणना की है जिनके गूढ़ार्थ का चमत्कार अनिवार्यत: होता है। इन अलंकारों में रुय्यक ने व्याजोक्ति, सूक्ष्म और वक्रोक्ति—तीन अलंकारों को रखा है।

रुय्यक का उपर्युक्त अलंकार-वर्गीकरण वस्तुत: अलंकारों के वर्गीकरण को एक वैज्ञानिक और युक्तियुक्त बनाने के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है, तथापि उनका यह वर्गीकरण सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनेक अलंकार ऐसे

हैं जिन्हें रुय्यक किसी भी उपर्युक्त वर्ग में नहीं रख सके। इन अलंकारों में उदात्त, संकर, भाविक, रसवत्, प्रेयस, स्वभावोक्ति, समाहित तथा ऊर्जस्व आदि अलंकार उल्लेख्य हैं तथापि इतना अवश्य है कि रुय्यक के इस अलंकार-वर्गीकरण में रुद्रट द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण में व्याप्त त्यक्ष दोष नहीं है और इस दृष्टि से रुय्यक का यह प्रयास निस्सन्देह सुधारात्मक है। रुय्यक ने रुद्रट के वास्तव वर्ग का त्याग किया और सादृश्य-गर्भ-वर्ग के अन्तर्गत सादृश्य-वृत्ति का और अधिक सूक्ष्म-विवेचन प्रस्तुत किया।

आनन्दवर्द्धन का अलंकार-वर्गीकरण—आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को एक अत्यन्त व्यापक आधार प्रदान किया और काव्य के उन सभी तत्वों को अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया जो कि काव्य-सौन्दर्य का अभिवर्द्धन करते हैं। यदि आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया जाये तो पहले अलंकारों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, यथा—व्यंग्यार्थ-मूलक अलंकार और व्यंग्यार्थोपस्कारक अलंकार। व्यंग्यार्थमूलक वर्ग के अन्तर्गत दो उपवर्ग हो सकते हैं—रसाभिव्यंजनामूलक अलंकार और वस्तुव्यंजनामूलक अलंकार। रसाभिव्यंजनामूलक अलंकारों के अन्तर्गत ऊर्जस्व, रसवत्, प्रेय, समाहित तथा भाव-सन्धि अलंकारों की गणना की जा सकती है और वस्तुव्यंजनामूलक अलंकारों के अन्तर्गत अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि अलंकारों को रखा जा सकता है। व्यंग्यार्थोपस्कारक अलंकार भी तीन प्रकार के हो सकते हैं—शब्दालंकार, अर्था-लंकार और उभयालंकार। शब्दालंकारों में अनुप्रास आदि ऐसे अलंकार आते हैं जो केवल शब्दों में ही चमत्कार उत्पन्न कर सकते हैं। अर्थालंकारों में दो प्रकार के अलंकार होते हैं—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिपादित स्व-भावोक्ति वर्ग वस्तुतः रुद्रट द्वारा प्रस्तुत वास्तव वर्ग की भाँति ही है। अलंकारों के उपर्युक्त वर्गीकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विवेकानुसार अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है और इन वर्गीकरणों अथवा इनकी संख्या के सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य नहीं हो पाया है।

तथापि उपर्युक्त विभिन्न वर्गीकरणों के आधार पर एक अपेक्षतया अधिक वैज्ञानिक और युक्तयुक्त वर्गीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है: शब्दालंकार, अर्था-लंकार तथा उभयालंकार। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, वीप्सा आदि अलंकारों को रखा जा सकता है। अर्थालंकार के पुनः छः भेद किए जा सकटे हैं—साम्यमूलक, विरोधमूलक अतिशयोक्तिपरक, शृंखलामूलक, गुण-मूलक और व्यंग्यार्थमूलक। साम्यमूलक वर्ग के पुनः पाँच उपभेद और किये जा सकते हैं—तुलनापरक, अभेदपरक, सम्भावनापरक, दृष्टान्तपरक तथा अन्योक्तिपरक। तुलना-परक उपभेद में उपमा, असम, व्यतिरेक, प्रतीप, अनन्वय तथा दीपक आदि अलंकार रखे जा सकते हैं जबकि अभेदपरक उपभेद के अन्तर्गत रूपक, अपन्हुति, भ्रम, उल्लेख तथा रूपकातिशयोक्ति अलंकारों की गणना की जा सकती है। सम्भावनापरक उपभेद

के अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और सन्देह आदि अलंकार रखे जा सकते हैं और द्रष्टान्तपरक उपभेद के अन्तर्गत उदाहरण, द्रष्टान्त, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, वाक्यार्थोपमा, काव्य-लिंग आदि अलंकारों की गणना की जा सकती है। अन्योक्तिपरक उपभेद में अन्योक्ति और समासोक्ति—दो अलंकार रखे जा सकते हैं। अर्थालंकारों के दूसरे वर्ग अर्थात् विरोधमूलक वर्ग में विभावना, विरोधाभास, असङ्गति, विशेषोक्ति तथा विषम आदि अलंकार आते हैं। अतिशयोक्तिपरक वर्ग में अतिशयोक्ति तथा उसके अन्य भेदों-उपभेदों आदि की गणना की जा सकती है। शृंखलामूलक वर्ग के अन्तर्गत कारणमाला, एकावली तथा सार आदि अलंकार गिने जा सकते हैं तथा गुणमूलक वर्ग के अन्तर्गत तिरस्कार, परिसंख्या, विनोक्ति, परिकर, अनुज्ञा तथा तद्गुण आबि अलंकार सम्मिलित किये जा सकते हैं। व्यंग्यार्थमूलक वर्ग में व्यंग्योक्ति, व्याजस्तुति तथा पर्यायोक्ति अलंकारों की गणना की जा सकती है।

पाश्चात्य अलंकारों सम्बन्धी विवेचन—पाश्चात्य काव्य की भाँति पाश्चात्य अलंकारों का जन्म भी यूनान में ही हुआ था। पाश्चात्य काव्यजगत् में अलंकारों के लिए निकटतम शब्द 'रहैटारिक' का प्रयोग होता रहा है और यद्यपि यह शब्द मूलतः भाषण कला से सम्बद्ध था, किन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग लिखित साहित्य के लिए भी किया जाने लगा। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अलंकारों से सम्बन्धित पौर्वात्य और पाश्चात्य चिन्तन में अत्यधिक साम्यभाव है। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के महान् लेखक रेमण्ड का यह कथन उल्लेख्य है कि "अलंकारों की योजना के लिए जो भी नियम बनाये जायें एक सिद्धान्त सब में अन्तर्निहित रहता है कि जिन विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए अलंकारों का प्रयोग होता है, यदि उनसे प्रभाव की अभिवृद्धि न हो तो अलंकारों का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। भाषा का उपयोग यही है कि हम अपने विचार दूसरों को प्रेषित कर सकें और सामान्य वार्तालाप में हम साधारण और अलंकृत दोनों प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने पर पड़े हुए प्रभाव को दूसरों तक प्रेषित करना चाहता है तब वह उन समस्त विचारों और भावनाओं को प्रेरित करना चाहता है जो अमुक वस्तु को देखने में उसके मानसपटल पर उद्भूत हुए हैं।" रेमण्ड के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र की भाँति ही पाश्चात्य अलंकारों के प्रयोग के पीछे अभिव्यक्ति को ही अधिक मार्मिक, सशक्त और प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से कार्यरत हैं। यही नहीं, भारतीय अलंकारों के प्रयोग में आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त से मिलती-जुलती बात पाश्चात्य काव्य-जगत् में पीटर ने भी कही है। पीटर के अनुसार, अलंकारों का आदर्श प्रयोग वही कवि कर सकता है जो कि इस सम्बन्ध में सर्वथा स्पष्ट होता है कि कहाँ अलंकार का प्रयोग वांछनीय है और कहाँ त्याज्य? इस विवेक-बुद्धि के अभाव में अलंकारों का प्रभावशाली प्रयोग सम्भव नहीं है।

जहाँ तक अलंकारों के वर्गीकरण का सम्बन्ध है, वहाँ भी भारतीय और पाश्चात्य मतों में पर्याप्त साम्यभाव देखा जा सकता है। जिस प्रकार भारतीय

काव्यशास्त्रियों ने अलंकारों को शब्दालंकार और अर्थालंकार—इन दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया है, उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान् क्विण्टेलियन ने भी अलंकारों के दो मुख्य भेद किये हैं—फिगर्स आफ स्पीच तथा फिगर्स आफ थाट। ऑक्सफोर्ड एन्साइक्लोपीडिया में फिगर्स आफ स्पीच के आठ भेद गिनाये हैं—तुलनात्मक, नामविपर्ययुक्त, विषमतामूलक, अतिशयोक्तिपरक, प्रश्नोत्तररूप विपर्ययमूल, शब्दवैचित्र्यपरक तथा क्रम-वैचित्र्यपरक। तुलनात्मक अलंकारों में सिमिली, मैटेफर, पैराबोल, परसोनीफिकेशन, पेरीफ्रेसीज आदि अलंकारों की गणना की जा सकती है। विषमतामूलक अलंकारों में एण्टीथीसिज, इन्वर्सन, पैराडोक्स, आक्सीमोरन, कन्ट्रास्ट आदि अलंकार आ सकते हैं। इन सभी अलंकारों के समकक्ष भारतीय अलंकारों में पर्याप्त साम्यभाव है। अतिशयोक्तिपरक अलंकारों में हाइपरबोल अलंकार की गणना की जाती है। पाश्चात्य और भारतीय अलंकारों में से अनेक अलंकार तो पूर्णतः एक-से ही हैं। इन समान अलंकारों में निम्न अलंकार उल्लेखनीय हैं—श्लेष (पन), ध्वनिचित्र (औनोमैटोपोइया) पुनरुक्ति (रेपीटीशन), रूपक (मैटाफर), अतिशयोक्ति (एक्जेजरेशन), विरोधाभास (पैराडौक्स), असंगति (औक्सीमोरन), उपमा (सिमिली)।

हिन्दी में अलंकारों को रीतिकालीन कवियों के हाथों पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त हुआ। कवि केशव तथा भिखारीदास ने अलंकारों की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए नये अलंकार-वर्गीकरण प्रस्तुत किये। आधुनिक युग में निस्सन्देह अलंकारों का स्थान बिम्बविधान ने ले लिया है। उपर्युक्त समूचे विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में अलंकारों की स्थिति सहज होती है। अलंकारों से काव्य उत्कृष्टता को प्राप्त होता है, अभिव्यक्ति सशक्त और हृदय को छू देने वाली हो जाती है। कविवर पन्त के शब्दों में "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों में पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र है। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।"

3
रीति-सिद्धान्त

रीति-सम्प्रदाय—रीति-सम्प्रदाय की विधिवत् स्थापना आचार्य वामन द्वारा नवीं शताब्दी में हुई थी, किन्तु काव्य के अन्य तत्वों की भाँति ही रीति का उल्लेख नवीं शताब्दी से पूर्व भी हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र का मूल ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है और भरतमुनि ने रीति का तो नहीं किन्तु चार प्रकार की प्रवृत्तियों का विवेचन अवश्य किया है। भरत द्वारा प्रतिपादित ये प्रवृत्तियाँ एक व्यापक आधार लिए हुए थीं। भरत के अनुसार—

'चतुर्विधा प्रवृतिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दक्षिणात्या च पांचाली चौड्मागधी।'

अर्थात् चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं—पश्चिम भाग में आवन्ती, दक्षिण में दाक्षिणात्य, उड़ीसा तथा मगध में उड्मागधी और मध्यदेश में पांचाली। भरत ने प्रवृत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्ति,' अर्थात् जो पृथ्वी के नाना देशों के वेश, भाषा, आचार, वार्ता आदि को व्यक्त करे वह प्रवृत्ति होती है। निस्सन्देह भरत द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्तियों में पूर्ण जीवनचर्या सिमट आती है जबकि रीति का आशय भाषा के प्रयोग की रीति से होता है। दूसरे शब्दों में, रीति का क्षेत्र केवल भाषा तथा अभिव्यक्ति तक सीमित है, जबकि प्रवृत्ति का क्षेत्र समूचा जीवन होता है। अतः यद्यपि भरत को रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इतना निर्विवाद है कि उन्होंने प्रवृत्ति का प्रतिपादन करके रीति-सम्प्रदाय के लिए उपयुक्त आधारभूमि अवश्य तैयार कर दी थी। भरतमुनि के पश्चात् रीति का उल्लेख बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में किया है। यद्यपि बाणभट्ट ने भी भरत की भाँति रीति का प्रयोग नहीं किया फिर भी उन्होंने रीति से मिलती-जुलती बात इस प्रकार कही—

'श्लेषः प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः।'

अर्थात् उत्तर भारत में प्रायः श्लेष का प्रयोग होता है, प्रतीच्य अर्थात् पश्चिम भारत में केवल अर्थ-लालित्य को ही गौरव दिया जाता है। दक्षिण भारत में उत्प्रेक्षा को और गौड़ अथवा पूर्वी भारत में अक्षरों के आडम्बर को अधिक महत्त्व दिय

जाता है। बाणभट्ट का उपर्युक्त विवेचन प्रत्यक्षतः रीति से सम्बन्धित न होने पर भी रीति की आधुनिक अवधारणा के बहुत निकट समझा जा सकता है। इसी क्रम में आगे चलकर बाणभट्ट यह भी कहता है कि आदर्श काव्य में इन चारों शैलियों का समेकित प्रयोग किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बाणभट्ट के मत से इन विभिन्न शैलियों का भारत की चारों दिशाओं में पृथक्-पृथक् महत्त्व होते हुए भी, काव्य में उनको समेकित प्रयोग ही वांछनीय है, अर्थात आदर्श काव्य में श्लेष, अर्थगौरव, उत्प्रेक्षा और अक्षराडम्बर--- सभी का अपना-अपना महत्त्व है। बाणभट्ट के उपर्युक्त विवेचन की एक अन्य विशेषता यह है कि उन्होंने काव्य-शैलियों की स्थापना करके भरत की जीवनचर्यात्मक प्रवृत्तियों के व्यापक आधार को संकुचित कर दिया अर्थात बाणभट्ट की काव्यशैलियाँ रीति की आधुनिक अवधारणा के और अधिक निकट आ गयी।

उपर्युक्त विवेचन से एक और बात स्पष्ट होती है कि प्राचीन काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में इन काव्य-रीतियों अथवा शैलियों का आधार भौगोलिक अथवा प्रादेशिक था और कदाचित् इसी कारण इनकी संख्या भी प्रदेशों की संख्या के आधार पर नियत की जाती थी। वस्तुतः रीति का मूल अर्थ विशिष्ट लेखन-शैली था और इस आधार पर प्रत्येक कवि की अपनी शैली अथवा रीति हो सकती है और तदनुसार रीतियों की संख्या भी अनन्त हो सकती है, तथापि प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने रीतियों, शैलियों की संख्या निर्धारित करना वांछनीय समझा और बाणभट्ट आदि द्वारा किया गया उपर्युक्त वर्गीकरण इसी दिशा में किया गया प्रयास है। धीरे-धीरे इन काव्य-रीतियों अथवा शैलियों का आधार भौगोलिक अथवा प्रादेशिक न रहकर विषय बन गया। वैदर्भी और गौड़ी आदि रीतियों का जन्म इसी आधार पर हुआ था। शृंगार तथा अन्य कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए वैदर्भी और वीरतापूर्ण युद्धों आदि के वर्णनों में गौड़ी रीति का प्रयोग मान्य हुआ।

भामह ने सर्वप्रथम वैदर्भी और गौड़ीय---इन दो काव्य-शैलियों का विवेचन रीतियों के रूप में किया। काव्य के प्रसंग में रीतियों का वर्णन करने वाले काव्य-शास्त्रियों में भामह का प्रथम स्थान है। भामह के अनुसार वैदर्भी और गौड़ीय---इन रीतियों को अलग-अलग नहीं माना जाना चाहिए। उनके मतानुसार "निर्बुद्धि लोगों की दृष्टि में गतानुगतिकावश ये पृथक् नाम हैं। पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति से ही हीन, प्रसन्न (प्रसादगुण युक्त) सरल और कोमल (शुद्ध काव्य से) भिन्न वैदर्भी, गीत की भाँति केवल श्रुतिमधुर ही होती है। अलंकारयुक्त, अग्राम्य, अर्थवान्, न्याय (लोकशास्त्र सम्मत, अनाकुल (जटिलता और निविडनादि दोषों से मुक्त) गौड़ीय मार्ग भी श्रेष्ठ हैं---अन्यथा, अर्थात् इन गुणों से हीन वैदर्भी भी श्रेष्ठ नहीं है।" इस प्रकार भामह ने गौड़ीय और वैदर्भी रीतियों के पार्थक्य को अनावश्यक बताते हुए काव्य के सामान्य गुणों का विवेचन किया है। भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण हैं---अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थ-सौन्दर्य, लोकशास्त्र का आनुकूल्य, अना-कुलता अर्थात् जटिलता आदि का अभाव। भामह के अनुसार इन सामान्य गुणों से

युक्त काव्य उत्कृष्ट कोटि का काव्य होता है। इस प्रकार भामह ने रीतियों के विवेचन में उनकी प्रादेशिकता की स्थिति और उनकी रूढ़ वस्तुपरकता को समाप्त कर दिया।

भामह के पश्चात् दण्डी ने रीति पर विस्तार से विचार किया। दण्डी के रीति विवेचन के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के ये शब्द द्रष्टव्य हैं, "वास्तव में दण्डी ने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में पहली बार रीति को गौरव दिया और उसका इतने मनोनिवेश के साथ विवेचन किया कि कतिपय विद्वान उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं।" दण्डी ने रीति के लिए मार्ग आदि शब्दों का प्रयोग किया और वैदर्भी तथा गौड़ीय—इन दोनों मार्गों का विशद विवेचन किया। यही नहीं, दण्डी ने रीति के दस आधारभूत गुणों का भी उल्लेख किया है। ये दस गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि। दण्डी के शब्दों में—

'अस्त्येनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौड़ीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायोलक्ष्यते गौंडवर्त्मनि।
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्ः।
तदभेदास्तु न शक्यन्ते वस्तुं प्रतिकविस्थिताः।'

अर्थात वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद होता है। इन मार्गों में वैदर्भी और गौड़ीय मार्गों का भेद बहुत स्पष्ट है, अब वर्णन किया जायेगा। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दस गुण वैदर्भी रीति के प्राणतत्व हैं। गौड़ीय मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय दीखता है। इस प्रकार प्रत्येक रीति के स्वरूप का वर्णन करके वैदर्भी और गौड़ीय मार्गों का अन्तर स्पष्ट किया गया है। तथापि जहाँ तक प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति के अनुसार इनके भेदों का प्रश्न है, उनका वर्णन करना सम्भव नहीं है। दण्डी के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उसने रीतियों और गुणों के परस्पर सम्बन्धों की बात कही। उनकी यह गुण-कल्पना अत्यन्त व्यापक आधार लिये हुए है। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि इन दस गुणों में भी दण्डी अर्थ-व्यक्ति, औदार्य और समाधि—इन तीन गुणों को काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं। अर्थव्यक्ति का आशय अर्थ प्रस्फुटन की शक्ति से है और औदार्य का अर्थ प्रतिपाद्य के अर्थ का उत्कर्ष करना होता है। समाधि का आशय एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् रीति से आधान करना होता है।

रीति का व्युत्पत्तिपरक अर्थ और उसकी परिभाषा तथा स्वरूप आदि—रीति शब्द 'रीङ्' में 'क्तिन' या 'क्तिच' प्रत्यय लगाकर बना है और इस प्रकार रीति शब्द

का व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ —मार्ग । कोशकार ने रीति के पर्यायवाची शब्दों में पन्थ, बीथि, गीति, प्रणाली, पद्धति तथा प्रस्थान आदि कई शब्द दिये हैं । साहित्य के क्षेत्र में रीति का आशय कवि अथवा लेखक की विशिष्ट लेखन-शैली होता है । निस्सन्देह इस आधार पर असंख्य रीतियों की कल्पना की जा सकती है, तथापि काव्यशास्त्रियों ने रीतियों की संख्या निर्धारित करने के प्रयास बराबर किये हैं । भारतीय काव्य-शास्त्र में रीति का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य वामन ने किया है । यद्यपि वामन से पूर्व भामह और दण्डी आदि ने रीति की चर्चा की है किन्तु उन्होंने रीति की न तो कोई विधिवत् परिभाषा प्रस्तुत की है और न कोई लक्षण ही निर्धारित किये । आचार्य वामन ने सर्वप्रथम रीति शब्द की परिभाषा प्रस्तुत की । रीति की परिभाषा देते हुए वामन कहते हैं—'विशिष्टा पदरचना रीति' : अर्थात् विशिष्ट प्रकार की पदरचना को रीति कहते हैं । वामन ने विशिष्ट का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि— 'विशेषो गुणात्मक' अर्थात् विशिष्ट का आशय गुणों से युक्त है । वामन ने गुणों की भी परिभाषा प्रस्तुत की है । वामन के अनुसार गुण शब्द और अर्थ के काव्य-शोभाकारक धर्म होते हैं । इस प्रकार वामन की परिभाषा में दो महत्त्वपूर्ण बातें हुईं—पहली तो यह कि वह विशिष्ट पदरचना होती है, दूसरी यह है कि वह शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती है । इस प्रकार वामन द्वारा दी गयी रीति की परिभाषा इस प्रकार होगी— "शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त विशिष्ट पदरचना रीति होती है ।" वामन ने गुणों को दो वर्गों में बांट दिया—शब्दगुण और अर्थगुण और अर्थगुणों को शब्दगुणों की तुलना में श्रेष्ठ स्वीकार किया । वामन द्वारा प्रतिपादित अर्थगुणों की अवधारणा बहुत व्यापक है और उसमें रस, अलंकार आदि विविध काव्य-तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं । इस सम्बन्ध में वामन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है. कि उन्होंने 'रीति' शब्द को उसकी भौगोलिक और प्रादेशिक सीमाओं से मुक्त कर दिया । उन्होंने रीतियों का विभाजन गुणों के आधार पर किया और भामह, दण्डी के समय से चली आ रही वैदर्भी और गौड़ीय - इन दो रीतियों के अतिरिक्त पांचाली नामक एक नयी रीति भी जोड दी । इस प्रकार वामन ने तीन रीतियों का विवेचन किया—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली । इन तीनों रीतियों की परिभाषा देते हुए वामन कहते हैं कि—

'समस्तात्युद्भट पदाभोजः कान्तिगुणान्विताम् ।
गौड़ीयामिति गायन्ति रीति रीतिविचक्षणाः ।'

अर्थात् गौड़ीय रीति तो केवल ओज और कान्ति—इन्हीं दो गुणों से युक्त समासों से युक्त उद्भट पदावली होती है । वामन के अनुसार, वैदर्भी रीति समस्त गुणों से युक्त होने के कारण सर्वश्रेष्ठ होती है । वामन के शब्दों में—

'अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणागुम्फिता ।
विपंची स्वर सौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।'

अर्थात् सर्वगुणों से युक्त और दोषों से पूर्णतः मुक्त तथा वीणा के स्वरों सी मधुर रीति वैदर्भी होती है । पांचाली रीति की परिभाषा देते हुए वामन कहते हैं कि

पाँचाली अश्लिष्ट और शिथिल पदरचना होने के साथ-साथ माधुर्य और सौकुमार्य—केवल इन्हीं दो गुणों से युक्त होती है। वामन के शब्दों में—

'अश्लिष्ट श्लथभावां पूरणच्छाययाश्रताम्।
मधुरां सुकुमारांच पांचाली कवयो विदुः।'

वामन के पश्चात् ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने रीति सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया। आनन्दवर्द्धन ने रीति के लिए संघटना शब्द का प्रयोग किया। वस्तुतः आनन्द-वर्द्धन ने रीति अथवा संघटना के सम्बन्ध में कोई नयी बात नहीं कही अपितु वामन द्वारा की गयी परिभाषा को ही संक्षिप्त रूप दे दिया। आनन्दवर्द्धन के अनुसार, संघटना रसाश्रयी होती है और इस कारण रीति अथवा संघटना रसपूर्ण सौन्दर्य का साधन होती है। संघटना की परिभाषा देते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि सम्यक् अर्थात् यथोचित् घटना—पदरचना को संघटना अथवा रीति कहते हैं। आनन्दवर्द्धन के समक्ष संघना का मानदण्ड रस था और इसीलिए उसने यथोचित् और सम्यक् विशेषणों का प्रयोग किया। इसके विपरीत वामन के समक्ष ऐसा कोई मानदण्ड नहीं था। उन्होंने शब्द-अर्थ के सौन्दर्य को ही चरम सौन्दर्य स्वीकार किया है। वामन और आनन्दवर्द्धन के रीति विषयक चिन्तन का मौलिक अन्तर यही है कि वामन की रीति अपने आप में एक स्वतन्त्र अवधारणा है। जबकि आनन्दवर्द्धन की संघटना रसाश्रयी है। आनन्द-वर्द्धन के मतानुसार संघटना तीन प्रकार की होती है—

'असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता,
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।'

अर्थात् संघटना तीन प्रकार की होती है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। इसी प्रसंग में आनन्दवर्द्धन ने यह भी कहा है कि संघटना माधुर्य आदि गुणों के कारण विद्यमान रसों को अभिव्यक्त करती है—

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन व्यनक्ति सा।
रसान्............ ।'

इस प्रकार संघटना के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन ने तीन बातें कहीं हैं—संघटना का मूल आधार समास होते हैं, अर्थात् रीति का स्वरूप समासों की स्थिति और आकार पर निर्भर करता है। दूसरी बात यह कि रीति अथवा संघटना गुणाश्रयी होती है और तीसरी बात यह है कि संघटना रसाभिव्यक्ति का एक माध्यम होती है।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् राजशेखर ने रीति पर विस्तार से विचार किया। राजशेखर ने 10वीं शताब्दी में काव्यपुरुष के रूपक को लेकर प्रवृत्तियों, वृत्तियों तथा रीतियों आदि का सविस्तार विवेचन किया है। रीति की परिभाषा देते हुए राजशेखर कहते हैं कि 'वचनविन्यासो क्रमो रीतिः' अर्थात् वचन-विन्यास के क्रम को रीति कहते हैं। राजशेखर की यह परिभाषा तत्त्वतः वामन की परिभाषा से भिन्न नहीं है, केवल शब्दों का अन्तर है। राजशेखर द्वारा प्रयुक्त वचन का आशय वामन के शब्द

अथवा पद से और विन्यासक्रम का अर्थ रचना है। जैसा कि पहले ही निवेदन किया जा चुका है, राजशेखर ने रीति का वर्णन काव्यपुरुष के रूपक के प्रसंग में किया है और इसी कारण उन्होंने नई शब्दावली का प्रयोग किया है।

इस प्रसंग में राजशेखर के पश्चात् वक्रोक्ति-सिद्धान्त के जनक कुन्तक का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने रीति को पुनः एक मार्ग के रूप में समझा और समझाया। उन्होंने तीन रीतियों को तीन मार्गों के रूप में व्यक्त किया है और वे तीन मार्ग थे—सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्य मार्ग। कुन्तक ने रीतियों के विवेचन में कवि स्वभाव को प्रधानता दी और रीतियों के भौगोलिक अथवा प्रादेशिक विभाजन की उन्होंने कठोर निन्दा की। उपर्युक्त तीनों मार्ग वस्तुतः कवि-स्वभाव के तीन पक्ष हैं जिन्हें कुन्तक ने पारिभाषिक शब्दावली में बाँधने का प्रयास किया है। इन तीनों मार्गों की और व्याख्या करते हुए कुन्तक कहते हैं कि सुकुमार मार्ग में भावों और रस का एक नैसर्गिक सम्बन्ध बना रहता है जबकि विचित्र मार्ग में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की अधिक महत्ता रहती है। मध्यम मार्ग में उपर्युक्त दोनों मार्गों का एक मिश्रित रूप होता है। इसी प्रसंग में कुन्तक ने इन मार्गों के विशिष्ट और साधारण गुणों का उल्लेख किया है। विशिष्ट गुणों की संख्या चार और साधारण गुणों की संख्या चार बतायी गयी है। विशिष्ट गुणों में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य गुणों की गणना की जाती है और साधारण गुणों में औचित्य और सौभाग्य गुण होते हैं। विशिष्ट गुणों का अर्थ स्वतः स्पष्ट है। औचित्य का आशय अतिशयता का उन्मीलन करना होता है और सौभाग्य-गुण का कार्य अलौकिक अर्थ-चमत्कार की उत्पत्ति करना होता है। इस प्रकार निष्कर्षतः: कहा जा सकता है कि "कुन्तक ने रीतियों की प्रादेशिक स्थिति का प्रत्याख्यान करके उनका सम्बन्ध कवि स्वभाव से स्थापित किया। उनका मत है कि रीति काव्य-निर्मिति का हेतु (कवि-प्रस्थान हेतु) है। इस प्रकार कुन्तक ने कवि-स्वभाव को रीति का आधार निर्धारित करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।"

रसवादी भोज ने पुनः रीति की व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा देते हुए कहा—

'वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृताः।
रीङ् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥'

अर्थात् वैदर्भादि पन्था अर्थात् पथ काव्य में मार्ग कहलाते हैं। 'रीङ्' एक गत्यर्थक धातु है और इस कारण इससे व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। भोज ने रीतियों की संख्या में दो की और वृद्धि भी की और ये रीतियाँ थीं—आवन्तिका और मागधी।

भोज के पश्चात् मम्मट ने 11 वीं शताब्दी में रीति के प्रश्न पर विचार किया। मम्मट ने रीति और वृत्ति में अभेद की स्थिति स्थापित की। उन्होंने तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। इसी

प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा है कि "एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौड़ाया-पांचालाख्या रीतयः उच्यन्ते" अर्थात् उपनागरिका परुषा और कोमल वृत्तियाँ वामन आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली रीतियाँ ही हैं। मम्मट ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'वृत्तिर्नियतवर्णगतो रस-विषयो व्यापारः', अर्थात् वृत्ति नियत वर्ण-व्यापार को कहते हैं। तथापि मम्मट ने वर्ण-व्यापार और गुणों के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति स्वीकार की है। इस प्रकार मम्मट ने दो बातें कहीं—पहली तो यह कि वृत्ति नियत वर्ण-व्यापार होती है, दूसरी यह कि वर्ण-व्यापार के साथ गुण का अनिवार्य सम्बन्ध होता है। अतः मम्मट के मतानुसार वर्ण-व्यापार प्रत्येक गुण के अनुरूप होता है और उसी गुण से रीति अथवा वृत्तिस्वरूप निर्धारित होता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मम्मट के अनुसार वर्ण-व्यापार और वृत्ति अथवा रीति दोनों का विनियमन गुणों द्वारा होता और गुणों के माध्यम से ही रीति रसोत्कर्ष में सहायक होती है। रीति की सार्थकता भी यही है।

अग्निपुराणकार ने चार प्रकार की रीतियाँ स्वीकार की हैं यथा—पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि अग्निपुराणकार ने काव्य में गुणों को अधिक महत्त्व दिया है और अलंकारों को गौण माना है। इन्होंने गुण भी दो प्रकार के माने हैं—विशिष्ट गुण और सामान्य गुण। सामान्य गुणों के पुनः तीन भेद किये हैं—शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुण। इसी क्रम में हेमचन्द्र का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने रीति; वृत्ति, गुण और दोषों का विवेचन किया है और उन्होंने गुण-दोषों को ही अधिक महत्त्व दिया है। हेमचन्द्र के मतानुसार जहाँ गुणों से शब्दार्थ का उत्कर्ष होता है वहाँ दोषों के कारण शब्दार्थ का अपकर्ष हो जाता है। हेमचन्द्र के मतानुसार ये गुण तीन प्रकार के होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये तीनों गुण क्रमशः वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी रीतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्, उपकर्त्री रसादीनाम्' अर्थात् पदों की संघटना को रीति कहते हैं। रीति शरीर के गठन की तरह होती है और काव्य की आत्मा अर्थात् रसभावादि का उत्कर्ष करती है। दूसरे शब्दों में, जिस पर शरीर का गठन अपनी प्रवृत्ति में बाह्य होते हुए भी आत्मा का उत्कर्ष-वर्धन करता है, उसी प्रकार रीति भी पद संघटना रूप में काव्य का बहिरंग तत्त्व होते हुए भी काव्य की आत्मा अर्थात् रस भावादि का उत्कर्ष-वर्धन करती है।

रीति सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रीति की महत्ता समय के साथ-साथ घटती-बढ़ती रही। तथापि वामन द्वारा दी गयी रीति की परिभाषा में कोई तात्त्विक अन्तर सामने नहीं आया है। यद्यपि विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विवेकानुसार रीति का स्वरूप निर्धारण किया है फिर भी इतना निर्विवा

है कि वामन की 'विशिष्ट पदरचना' ही रीति की सामान्य परिभाषा रही। काव्य-शास्त्रियों ने इसी परिभाषा को नए-नए ढंग से और नए-नए शब्दों में बाँधकर व्यक्त किया किन्तु फिर भी समग्र रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि वामन द्वारा प्रस्तुत परिभाषा अन्त तक अक्षुण्ण बनी रही :

रीति और प्रवृत्ति—भरत, राजशेखर और भोज आदि काव्यशास्त्रियों ने प्रवृत्ति के रूप में रीति का विवेचन किया है अर्थात् इन काव्यशास्त्रियों ने रीति को प्रवृत्ति का नाम दिया है और तदनुसार उसका विवेचन किया है। भरत ने प्रवृत्ति की परिभाषा भी प्रस्तुत की है जिसके अनुसार प्रवृत्ति अनेक देशों के वेश, भाषा तथा आचार आदि को व्यक्त करती है। दूसरे शब्दों में, भरत के अनुसार प्रवृत्ति अपने भीतर समूची जीवनचर्या को समेटे हुए है। इसके विपरीत रीति का क्षेत्र केवल भाषा तक ही सीमित है। प्रवृत्ति और रीति में और भी कई अन्तर हैं। प्रवृत्ति का क्षेत्र व्यापक है जबकि रीति का क्षेत्र सीमित। दूसरे, प्रवृत्ति अपने आप में बाह्य और मूर्त्त होती है जबकि रीति आन्तरिक और अमूर्त होती है। तीसरे, प्रवृत्ति का आधार भौगोलिक अथवा प्रादेशिक होता है जबकि रीति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कवि स्वभाव के साथ होता है। चौथे, प्रवृत्ति व्यवहार की बात होती है जबकि रीति का सम्बन्ध काव्य अथवा साहित्य से होता है। इन अन्तरों के रहते हुए भी इतना अवश्य है कि रीति सम्बन्धी अवधारणा के मूल तन्तु प्रवृत्ति की कल्पना में अवश्य ही मिलेंगे।

रीति और वृत्ति—काव्यशास्त्र में वृत्ति का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—नाट्यशास्त्र में और काव्यशास्त्र में। भरत ने चार प्रकार की नाट्यवृत्तियों की बात कही है। और वे चार नाट्यवृत्तियां हैं— भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी। आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के मतानुसार ये तीनों अर्थवृत्तियाँ हैं। वृत्ति की परिभाषा देते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं, 'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते' अर्थात् व्यवहार को ही वृति कहते हैं। आनन्दवर्द्धन ने इसी क्रम में तीन प्रकार की शब्दवृत्तियों का उल्लेख किया है जो कि वस्तुतः काव्यवृत्तियाँ ही हैं। ये तीन काव्यवृत्तियाँ हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। अभिनवगुप्त ने इन वृत्तियों की और अधिक व्याख्या करते हुए कहा है, 'तस्माद् व्यापारः प्रमर्थसाधको वृत्तिः' अर्थात् पुरुषार्थ साधक व्यापार को ही वृत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, अभिनवगुप्त के मतानुसार इस पुरुषार्थ-साधक व्यापार का आशय कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टाओं से होता है और इस प्रकार की चेष्टाओं का काव्य में सर्वदा वर्णन होता रहता है। कदाचित् इसलिए भरत ने वृत्ति को काव्य की माता का गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है—

'सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः ।'

अभिनवगुप्त के वृत्ति सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन में कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः वृत्ति का दो प्रकार का महत्त्व स्पष्ट हुआ—शब्दगत और अर्थगत। धीरे-धीरे वृत्ति के दोनों रूप पृथक् हो गये

और भारती, सात्विती आदि को अर्थवृत्तियों और उपनागरिका आदि को वर्णवृत्तियों की संज्ञा दे दी गयी। निस्सन्देह अर्थवृत्तियों का सम्बन्ध नाट्यशास्त्र से है और वर्ण वृत्तियों का क्षेत्र काव्य होता है। वर्णवृत्तियों में तीन वृत्तियों की गणना की जा सकती है—यथा, उपनागरिका, कोमला और परुषा। रीति और इन तीन वृत्तियों के अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण कई काव्यशास्त्रियों ने (मम्मट, जगन्नाथ आदि) इन दोनों में अभेद की स्थिति सिद्ध की है। इन वर्ण वृत्तियों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) **उपनागरिका वृत्ति**—उपनागरिका वृत्ति की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'एषा खलु नागरिकाभो वैदग्धीजुषा वनियता उपमीयते तत् उपनागरिका' अर्थात् नगर की चतुर, सयानी, विदग्ध नायिका की सुकुमार वाक्यावली की भाँति होने के कारण इस वृत्ति को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। शास्त्रकारों के अनुसार इस वृत्ति में टवर्ग का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। अन्य वर्गों के पाँचवें अक्षर के साथ उसी वर्ग के अन्य वर्णों का संयोग बना रहता है। इस वृत्ति का प्रयोग अधिकतर श्रृंगार रस तथा कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। रीतिकालीन श्रृंगारी कवि बिहारी का निम्न दोहा उपनागरिका वृत्ति का ही परिचायक है।

'रससिंगार मंजन किये कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना खंजन भंजन नैन।।'

(ख) **परुषा वृत्ति**— इस वृत्ति का प्रयोग अधिकतर दीप्तिकारक भावों की अभिव्यक्ति के लिए होता है। तदनुसार इस वृत्ति के प्रयोग में चित्तवृत्ति दीप्त हो जाती है। इस वृत्ति में टवर्ग, श, ष तथा रेफ आदि के साथ संयुक्त वर्णों का प्रयोग किया जाता है और टवर्ग आदि वर्णों की कर्णकटुता स्वतः सिद्ध है। अतः परुषावृत्ति में दीप्तिकारक भावों आदि का वर्णन किया जाता है और उसके लिए टवर्ग आदि का प्रयोग सर्वथा वांछनीय होता है। इस वृत्ति का प्रयोग वीर, रौद्र तथा भयानक रसों आदि के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए वीररसपूर्ण निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'विद्धांग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर रुधिर-स्राव।
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल-बल।
मूर्च्छित-सुग्रीवाङ्गद-भीषण गवाक्ष-गय-नल।'

(ग) **कोमला वृत्ति**—कोमला वृत्ति का प्रयोग यथानाम कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। श्रृंगार, शान्त, करुण आदि रसों की अभिव्यक्ति के लिए यह वृत्ति सर्वाधिक उपयुक्त रहती है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'न अंगों में है रंग उभार,
न मृदु उर में उद्गार।
निरे साँसों के पिंजर द्वार,
कौन हो तुम अकलंक, अकाम?'

रीति और शैली—पीछे रीति और प्रवृत्ति का तथा रीति और वृत्ति का भेद स्पष्ट किया जा चुका है। शैली भी रीति के अत्यन्त निकट की अवधारणा है। शैली शब्द भी रीति की भाँति ही अत्यन्त प्राचीन है किन्तु शैली की व्युत्पत्ति शील से हुई है और शील का अर्थ होता है स्वभाव। रीति और शैली का सामीप्य इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार स्वभाव की अभिव्यक्ति रीति से होती है उसी प्रकार शील की अभिव्यक्ति शैली से होती है। शैली की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं किन्तु शैली में दो मुख्य तत्त्व सभी ने स्वीकार किये हैं और वे दो तत्त्व हैं—व्यक्तित्व और वस्तु। शैली के इन दोनों तत्त्वों पर पाश्चात्य साहित्य जगत् में विस्तार से विचार हुआ है और अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने इन दोनों तत्त्वों में व्यक्ति तत्त्व को अधिक प्रमुख माना है। व्यक्ति-तत्त्व का आशय दो अर्थों में समझा जा सकता है। एक तो आत्माभिव्यक्ति और दूसरा वर्ण्यवस्तु के साथ शैली का सामंजस्य। भारतीय काव्यशास्त्र में रीति की अवधारणा में आत्माभिव्यंजना तत्त्व प्रायः उपेक्षित ही रहा है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में आत्माभिव्यंजना का उल्लेख भी नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में दण्डी और कुन्तक के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने रीति में व्यक्ति-तत्त्व की अवधारणा स्वीकार की है। कुन्तक ने तो कवि स्वभाव को ही शैली अथवा रीति का मूलाधार स्वीकार किया है। जहाँ तक व्यक्तित्व के दूसरे पक्ष का सम्बन्ध है, भारतीय चिन्तन में उनका अभाव नहीं है। वामन से पूर्व भरत ने नाटकों की भाषा, पात्रों के शील-स्वभाव के अनुरूप रखने की बात आग्रहपूर्वक कही है।

शैली और रीति के परस्पर भेद की स्थिति को लेकर भारतीय काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त विचार-विनिमय हुआ है। विद्वानों का एक बड़ा वर्ग शैली और रीति को दो नितान्त पृथक् और स्वतन्त्र अवधारणाएँ मानता है और इस सम्बन्ध में उनके पास सर्वाधिक सशक्त तर्क यह है कि शैली में व्यक्तित्व की प्रधानता होती है जबकि रीति में व्यक्तित्व का अभाव रहता है। विद्वानों का एक अन्य वर्ग यह मानता है कि जहाँ तक शैली के वस्तु-तत्त्व का सम्बन्ध है, रीति और शैली में पर्याप्त साम्य दीख पड़ता है। शैली और उसके तत्त्व अन्ततः रीति के ही तो तत्त्व होते हैं। इस प्रकार शैली का वस्तु तत्त्व और रीति—दोनों एक ही हैं, केवल नाम का ही भेद है।

रीति के आधारभूत तत्त्व - रीति का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए उसके आधारभूत तत्त्वों का परिचय पा लेना अत्यावश्क है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम दण्डी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने गुणों को ही रीति का आधारभूत तत्त्व सिद्ध किया है। इस प्रसंग में दण्डी ने दस काव्यगुणों का उल्लेख किया है, यथा—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि। रीति के विवेचन में आचार्य वामन ने विशिष्ट पदरचना को रीति कहा किन्तु 'विशिष्ट' का अर्थ गुण-सम्पन्न माना है। वामन ने इस सम्बन्ध में दो प्रकार के गुणों का उल्लेख किया है – शब्दगुण और अर्थगुण। वामन ने गुणों के इन दो प्रकारों का भी सविस्तार

विवेचन किया है। शब्दगुणों का क्षेत्र केवल वर्णयोजना अथवा शब्दगुम्फ आदि तक ही सीमित है और यह क्षेत्र निस्सन्देह काव्य का बहिरंग क्षेत्र है। इसके विपरीत अर्थ-गुणों का मूलाधार अर्थ-सौन्दर्य है और अर्थ-सौन्दर्य एक बहुत व्यापक अवधारणा है। अर्थ-सौन्दर्य के अन्तर्गत गुण, रस, ध्वनि आदि काव्य के अन्तरंग तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "केवल शब्दगुम्फ ही नहीं—परम्परा-मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्दशक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्त्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में परवर्ती काव्यशास्त्र की शब्दावली में— वामन के मत से रीति के बहिरंग तत्त्व हैं शब्द-गुम्फ और अन्तरंग तत्त्व हैं गुण, रस, ध्वनि, अर्थालंकार और दोषाभाव।"

वामन के पश्चात् रुद्रट ने रीति के आधारभूत तत्त्वों पर विचार किया और उसके मतानुसार रीति का मूल तत्त्व समास होते हैं। इसी आधार पर उन्होंने पांचाली, लाटीया और गौड़ीय रीतियों का विवेचन किया। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार रीति माधुर्यादि गुणों के माध्यम से रस भावादि की अभिव्यक्ति कर पाती है और इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने रीति के आधारभूत तत्त्वों के रूप में माधुर्यादि गुणों को मान्यता दी। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि आनन्दवर्द्धन ने रुद्रट की भाँति समास को रीति का सर्वस्व तो नहीं माना किन्तु समास को रीति का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अवश्य माना। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्द्धन के अनुसार रीति के आन्तरिक तत्त्व तो माधुर्य, प्रसाद और ओज आदि गुण हैं और उसका बहिरंग तत्त्व समास हैं।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् राजशेखर ने इस प्रश्न पर विचार किया और उन्होंने रीति के आधारभूत तत्त्वों में समास के साथ-साथ अनुप्रासों को भी जोड़ दिया। भोज का एतद्विषयक चिन्तन अधिकांशतः राजशेखर के चिन्तन से प्रभावित है। भोज ने रीति के आधारभूत तत्त्वों में समास और गुण—दोनों को मान्यता दी। अग्निपुराण-कार ने रीति के मूल तत्त्व तीन स्वीकार किये हैं—समास, उपचार अर्थात् लाक्षणिक व अलंकृत प्रयोग आदि और मार्दव की मात्रा। इसके पश्चात् मम्मट और विश्वनाथ ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। मम्मट के मतानुसार गुण-व्यंजक वर्णगुम्फ ही रीति के आधारभूत तत्त्व होते हैं। विश्वनाथ ने भी इसी से मिलती-जुलती बात कही और रीति के आधारभूत तत्त्वों में वर्ण-संयोजना और शब्दगुम्फ दोनों को मान्यता दी।

गुण और रीति—गुण और रीति के सम्बन्ध को लेकर प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने विस्तार से विचार किया है। दण्डी के मतानुसार रीति का मूलाधार ही गुण होता है। वामन ने दण्डी की इसी स्थापना को और अधिक सुदृढ़ आधार प्रदान करते हुए कहा कि "विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा" अर्थात् विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं और इस विशिष्टता की प्रकृति गुणात्मक होती है। आनन्दवर्द्धन ने इस सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया—पहला तो यह कि क्या रीति

और गुण परस्पर अभिन्न हैं, दूसरा यह कि क्या रीति गुणों पर आश्रित है और तीसरा यह है कि क्या गुण रीति पर आश्रित होते हैं। आनन्दवर्द्धन से पूर्व आचार्य वामन ने रीति और गुण को अभिन्न स्वीकार किया था और उद्भट ने गुणों की रीति पर आश्रित माना था। आनन्दवर्द्धन ने इन दोनों मान्यताओं का खण्डन किया। उनके मतानुसार रीति तो पदरचना होती है और गुण उस पदरचना के शोभाकारक तत्त्व होते हैं, पदरचना में प्राण फूँककर उसे आकर्षक बनाते हैं, अतः दोनों में अभेद की स्थिति तो हो ही नहीं सकती। इसके अतिरिक्त गुणों का रीति पर भी आश्रित नहीं माना जा सकता क्योंकि रीति अर्थात् पदरचना अकियत होती है जबकि गुण नियत होता है। श्रृंगारवादी अभिव्यक्ति के लिए माधुर्य गुण नियत है, उसमें ओज गुण की स्थिति हो ही नहीं सकती। अतः गुण को रीति पर आश्रित मान लेने का अर्थ यह होगा कि गुणों को भी रीति की भाँति ही अनियत मान लिया जाये जो कि दोषपूर्ण होगा।

इस सम्बन्ध में अब तीसरा विकल्प बच रहता है और वह है कि क्या रीति गुणों पर आश्रित है। इस सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि "गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्" अर्थात् संघटना अथवा रीति गुणाश्रित होती है। इस सम्बन्ध में यह तो निर्विवाद है कि रीति अथवा संघटना का उद्देश्य रस की सशक्त अभिव्यक्ति करना होता है और रस की अभिव्यक्ति तभी सम्भव हो सकती है जबकि संघटना गुणयुक्त हो। तथापि आनन्दवर्द्धन यह तो अवश्य स्वीकार करेंगे कि किसी भी संघटना, पद-रचना का स्वरूप-निर्धारण माधुर्य, ओज आदि गुणों के आधार पर ही होता है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रीति और गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं, अपितु दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं। निस्सन्देह रीति और गुणों में गुणों का सापेक्ष महत्त्व अधिक है परन्तु गुण भी रीति से प्रभावित अवश्य होने हैं।

गुण और अलंकार—वामन के समय तक गुणों और अलंकारों की पृथक् सत्ता तो सिद्ध कर दी गयी थी किन्तु इनके परस्पर भेद को स्पष्ट करने वाले काव्यशास्त्रियों में आचार्य वामन सर्वप्रथम हैं। आचार्य वामन ने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट करते हुए कहा कि "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः" अर्थात् गुण काव्य के शोभा-कारक धर्म हैं और 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' अर्थात् काव्य शोभा के अतिशयहेतु अलंकार होते हैं। दूसरे शब्दों में, वामन के मतानुसार काव्यगुण शब्दार्थ की शोभा की सृष्टि करते हैं और जो उन गुणों का अभिवर्द्धन करते हैं (सृष्टि नहीं) वे अलंकार होते हैं। इस प्रकार वामन के अनुसार गुण काव्य का नित्य धर्म होते हैं और अलंकार अनित्य धर्म होते हैं अर्थात् गुणों के बिना काव्यसृष्टि सम्भव नहीं है जबकि काव्यरचना अलंकारों के अभाव में भी रह सकती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि यदि किसी काव्य-रचना में गुणों का सर्वथा अभाव है तो उसमें अलंकारों के प्रयोग से काव्य की शोभा का उत्कर्ष नहीं, अपितु अपकर्ष होगा। सर्वथा गुणविहीन काव्य को अलंकारों का प्रयोग उसी तरह विद्रूप और भौंडा बना देता है जिस तरह कि किसी

यौवनविहीना स्त्री को सुन्दर अलंकारों से सजाने से उसके सौन्दर्य का अपकर्ष ही होता है।

इस प्रकार गुण और अलंकारों का स्वरूप विवेचन करने पर इन दोनों में पर्याप्त साम्य और उससे अधिक वैषम्य स्पष्ट होता है। गुण और अलंकारों में साम्य तो इस दृष्टि से है कि वे दोनों ही काव्य के शब्द और अर्थ के धर्म होते हैं और दोनों का कार्य भी प्रायः एक-सा ही होता है, अर्थात् दोनों काव्य के शोभाकारक साधन होते हैं। जहाँ तक इन दोनों के मध्य वैषम्य की स्थिति का प्रश्न है—पहली बात तो यह कि गुण काव्य के नित्य धर्म होते हैं जबकि अलंकार अनित्य। दूसरी बात यह है कि गुणों से काव्य-शोभा की सृष्टि होती है और अलंकार उस शोभा का केवल अभिवर्द्धन ही कर पाते हैं। तीसरी बात यह है कि गुणों के सर्वथा अभाव में काव्य-शोभा हो ही नहीं सकती जबकि अलंकारों के अभाव में (यदि गुण विद्यमान हों तो) काव्य-शोभा बराबर बनी रह सकती है। चौथी बात यह कि यदि गुणों का सर्वथा अभाव होगा तो अलंकारों के प्रयोग से काव्य-शोभा का उत्कर्ष नहीं, कवल अपकर्ष ही हो सकता है।

इसी प्रसंग में ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के विचार भी उल्लेख्य हैं। आनन्द-वर्द्धन के अनुसार यहाँ तक तो ठीक है कि गुण काव्य का नित्य धर्म और अलंकार अनित्य धर्म होते हैं किन्तु गुणों को भी शब्द-अर्थ का धर्म स्वीकार करना—आनन्द-वर्द्धन को मान्य नहीं है। अपनी इस मान्यता को और अधिक स्पष्ट करते हुए आनन्द-वर्द्धन यह भी कहते हैं कि गुण और अलंकार में केवल यही भेद है कि गुण तो काव्य के प्राणतत्त्व रस के धर्म होते हैं जबकि अलंकारों की स्थिति आभूषणों जैसी होती है और वे शरीर-रूप शब्द-अर्थ के धर्म होते हैं। कदाचित् इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने भी कहा है कि 'सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' अर्थात् काव्य का गुणयुक्त होना आवश्यक है, अलंकृति न भी हो—तो चल सकता है। इसी प्रसंग में आचार्य विश्वनाथ ने यह कहा कि "शब्दार्थ योरस्थरा ये धर्माः शोभातिशायिनः" अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्म हैं अर्थात् उनकी स्थिति गुणों की तरह अनित्य नहीं है।

इस प्रकार आयन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि रस-ध्वनिवादी आचार्यों के मतानुसार गुण और अलंकारों के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण बातें हैं—पहली तो यह कि गुण काव्य के प्राणतत्त्व रस के धर्म है और अलंकार शरीर-रूप शब्द-अर्थ के धर्म होते हैं। दूसरी यह है कि गुण काव्य के अन्तरंग तत्त्व होते हैं और अलंकार बाह्य तत्त्व। तीसरी बात यह कि काव्य के रसास्वादन में गुणों का प्रत्यक्ष योग होता है और अलंकारों का अप्रत्यक्ष। इस प्रकार चौथी बात यह सिद्ध होती है कि गुण काव्य के नित्य धर्म होते हैं और अलंकार अनित्य।

रीति के प्रकार्य—भामह और दण्डी ने दो प्रकार की रीतियाँ मानी हैं—वैदर्भ और गौड़ीय। वामन ने तीन प्रकार की रीतियाँ स्वीकार कीं, यथा वैदर्भी,

गौड़ीया और पांचाली । वामन के पश्चात् रुद्रट ने रीतियों की संख्या में वृद्धि करके चार प्रकार की रीतियों का विवेचन किया । वामन के अनुसार ये चार रीतियाँ थीं—वैदर्भी, गौड़ीया, पांचाली और लाटीया । वामन ने रीतियों का यह विभाजन समासों के आधार पर किया है । शिंगभूपाल ने तीन प्रकार की रीतियाँ बतायी हैं—कोमला, कठिना तथा मिश्रा; किन्तु ये तीनों रीतियाँ क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली के समरूप हैं । इस प्रकार प्रायशः इन्हीं तीन काव्य-रीतियों को सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो सकी है । तथापि राजशेखर ने मैथिली नामक एक चौथी काव्य-रीति का भी उल्लेख किया है, किन्तु इस रीति का उल्लेख न तो राजशेखर से पूर्व न उनके बाद ही किसी ने किया । बाद में श्रीपाद नामक एक विद्वान ने मैथिली काव्य रीति को मागधी का ही दूसरा रूप कहा ।

भोज ने रीतियों की संख्या बढ़ाकर छः कर दी । भोज के अनुसार छः काव्य-रीतियाँ इस प्रकार हैं—वैदर्भी, पांचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवन्तिका और मागधी । रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों ने पुनः तीन काव्य-रीतियाँ ही स्वीकार कीं किन्तु उनका नामकरण नये ढंग से किया । इन आचार्यों ने वामन द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली को क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला कहा । यद्यपि काव्य-रीतियाँ अन्ततः वामन द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली यही तीन काव्य-रातियाँ रहीं फिर भी इनकी संख्या भोज के अनुसार छः तक हो गयी । इन सभी काव्य-रीतियों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

वैदर्भी रीति—अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ रीति स्वीकार किया है क्योंकि इस काव्य-रीति का आधार माधुर्य गुण होता है । दण्डी ने इस काव्य-रीति के प्रसंग में श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस काव्यगुणों का उल्लेख करके यहाँ तक कहा है कि यही दस गुण इस काव्य-रीति के प्राणतत्त्व होते हैं । वामन ने भी इस काव्य-रीति की प्रशंसा करते हुए कहा है कि इसमें गुण-स्फुटत्व तथा गुण-साकल्य की स्थिति होती है । इस काव्य-रीति के लक्षण प्रस्तुत करते हुए काव्यशास्त्री कहते हैं कि "इसमें माधुर्य गुण, सुकुमार वर्णों, असमासा या मध्यसमासा तथा सौकुमार्यवती रचना का एकत्र योग होता है । इस प्रकार इसमें ट, ठ, ड, ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक के वर्ण अपने-अपने वर्गों के अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त होकर माधुर्य की सृष्टि करते हैं ।" रुद्रट के अनुसार सुकुमार और कोमल गुणों से युक्त होने के कारण वैदर्भी रीति शृंगार, करुण आदि कोमल रसों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होती हैं । साहित्यदर्पणकार के अनुसार, 'माधुर्यव्यंजककैर्वर्णे रचना ललितात्मिका अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते' अर्थात् माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों द्वारा समासरहित अथवा अल्पवृत्ति वाली रीति को वैदर्भी कहते हैं । इस काव्य-रीति का सौन्दर्य निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है —

'कंकनकिंकिनि नूपुर धुन सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही । मनसा बिस्वविजय कहं कीन्ही ॥

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख ससि भये नयन चकोरा॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल॥

गौड़ीय रीति—गौड़ी रीति ओजपूर्ण होती है और—एक समय ऐसा भी था जबकि इस काव्य-रीति को निकृष्ट और हेय रीति माना जाता था। दण्डी के अनुसार इस काव्य-रीति में दस काव्यगुणों की स्थिति नहीं होती। वामन के मतानुसार गौड़ी रीति ओज और कान्तिपूर्ण शैली होती है और उसमें माधुर्यादि गुणों का पूर्ण अभाव होता है। रुद्रट ने इस काव्य-रीति को दीर्घसमासों से युक्त माना और तदनुसार इस रीति को रौद्र, भयानक आदि रसों की अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना। राजशेखर के मतानुसार गौड़ी रीति दीर्घ समासों से युक्त, अनुप्रासों सहित तथा योग-वृत्ति-सम्पन्न रीति होती है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार "ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर पुनः। समासवहुला गौड़ी" अर्थात् ओजगुण के प्रकाशक वर्णों से युक्त और समासबहुल तथा पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली रचना गौड़ी रीति है। गौड़ी रीति के उदाहरण के रूप में महाप्राण निराला की निम्नि पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
बिच्छुरितबह्नि-राजीवनयन-हल-लक्ष्य-बाण
लोहितलोचन-रावण-मद मोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर
उद्धतलंकापति-मर्द्दित-कपि-दल-बल-बिस्तार।'

पांचाली रीति—भामह और दण्डी ने पांचाली रीति का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। वामन ने ही इस रीति का सर्वप्रथम उल्लेख किया। वामन के मत से यह काव्य-रीति माधुर्य और सुकुमारता आदि गुणों से युक्त होती है। वामन के शब्दों में, "अश्लिष्टश्लथभावा तां पूरणच्छायया श्रिताम्। मधुरां सुकुमारंच पांचाली कावयो विदुः" अर्थात् अगठित, भावशिथिल, कान्तिरहित अर्थात् छायायुक्त, मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त काव्य-रीति को पांचाली कहते हैं। रुद्रट के मतानुसार पांचाली रीति लघुसमासयुक्त होती है। कुन्तक के मतानुसार 'समस्त पंचषट्पदो बन्धः पांचालिका मता' अर्थात् पाँच-छः समासों से युक्त रचना पांचाली होती है। इस प्रकार अधिकांश काव्याचार्यों ने पांचाली रीति को मध्यम स्तर की रीति माना है। उदाहरण के रूप में निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

'विजन-वन-वल्लरी-पर—
सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु-तरुणी-जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल-पत्रांक में।'

लाटी रीति—वामन ने लाटी नामक रीति का कोई उल्लेख नहीं किया और इस रीति का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने किया था। रुद्रट के मतानुसार, लाटी रीति मध्यम समासों से युक्त होती है और इसका प्रयोग उग्र रसों की अभिव्यंजना के लिए

किया जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने लाटी रीति को वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति स्वीकार किया है—'लाटी तु रीति वैदर्भी पांचाल्योरन्तरेस्थिता।' इस काव्य-रीति के उदाहरण के रूप में कवि पन्त की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'अहे वासुकि सहस्र फन।
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर।
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर।
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर।
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुण्डल
दिङ् मण्डल।'

मागधी रीति—मागधी रीति का उल्लेख सबसे पहले राजशेखर की 'कर्पूर-मंजरी' में हुआ। राजशेखर ने ही अपनी एक अन्य कृति 'काव्यमीमांसा' में तीन काव्य-रीनियों का उल्लेख किया है—वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी। ऐसा प्रतीत होता है कि गौड़ी रीति के लिए उसने मागधी का प्रयोग किया होगा। भोज के अनुसार जिस पदरचना में अन्य काव्य-रीतियों का पूर्ण निर्वाह न हो, वहाँ मागधी रीति होती है। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि बालरामायण में जिस मैथिली रीति का उल्लेख किया गया है, वह मागधी काव्य-रीति ही हो। श्रीपाद की धारणा यही है।

मैथिली रीति—मैथिली काव्य-रीति का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद ने ही किया है। बालरामायण में मैथिली रीति का विस्तार से विवेचन किया गया है। मैथिली के मुख्यतः तीन गुण बताये गये हैं—पहला तो यह कि उसमें अर्थ की अतिशयता मर्यादित होती है, दूसरा यह कि उसमें अल्पसमासों की स्थिति होती है और तीसरा यह कि उसमें योग-परम्परा का निर्वाह होता है। कई विद्वान् मैथिली रीति को मागधी का ही एक रूप मानते हैं।

वच्छोमी रीति—वच्छोमी रीति का उल्लेख सर्वप्रथम राजशेखर ने किया है। वस्तुतः वच्छोमी रीति वैदर्भी का ही पर्याय है, केवल नाम का भेद है। वैदर्भी के ही प्राकृत रूप को वच्छोमी रीति कहते हैं।

आवन्तिका रीति—आवन्तिका काव्य-रीति का उल्लेख सर्वप्रथम भोज ने किया है। इस काव्य-रीति के लक्षण प्रस्तुत करते हुए भोज कहते हैं कि इसमें दो, तीन अथवा चार समस्त पदों का प्रयोग होता है और यह रीति वैदर्भी रीति तथा पांचाली रीति की अन्तरालवर्तिनी रीति होती है। आवन्तिका रीति के उदाहरण के रूप में महादेवी की अग्र पंक्तियाँ उल्लेख हैं—

'हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन।
अगरु धूम-सी सांस सुधि-गन्ध-सुरभित।
बनी स्नेह-लौ आरती चिर अकम्पित।
हुआ नयन का नीर अभिषेक जल-कण।'

समग्र मूल्यांकन—इतिहास इस बात का साक्षी है कि वामन द्वारा प्रतिपादित रीति-सिद्धान्त अन्ततः मान्य नहीं हुआ और सचाई तो यह है कि वामन के बाद तो रीति-सिद्धान्त केवल नाममात्र का ही रह गया। यही नहीं, समूचे भारतीय अर्थ-शास्त्र में रीति को काव्य की आत्मा का-सी गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने वाला कोई अन्य आचार्य हुआ ही नहीं। रीति-सिद्धान्त के इस प्रकार निश्शेष हो जाने का मूल कारण यही था कि रीति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता वामन ने काव्य के शरीर-रूप को ही सर्वस्व माना और उसके आत्मा-रूप अर्थात् रस-भावादि को समुचित महत्त्व प्रदान नहीं किया। डा॰ नगेन्द्र के शब्दों में, "यह (अर्थात् रीति-सिद्धान्त का निश्शेष हो जाना) स्वाभाविक भी था क्योंकि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी हो ही नहीं सकता था। देह को महत्त्व देना तो आवश्यक है, परन्तु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार ही मान लेना प्रवंचना है।"

तथापि वामन का रीति-सिद्धान्त सर्वथा निस्सार और मूल्यहीन नहीं है। यही नहीं, वामन की रीति-सिद्धान्त इतना एकांगी भी नहीं है जितना कि उसे कहा अथवा समझा जाता है। उसके मतानुसार, वैदर्भी आदर्श काव्य-रीति होती है और उसी प्रसंग में दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों की कल्पना करके वामन ने रीति-सिद्धान्त को एक व्यापक आधार प्रदान कर दिया। इन बीस गुणों में काव्य के प्रायशः सभी तत्त्व समाहित हो जाते हैं। रीतिवाद की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने काव्य में रीति अथवा शैली-तत्त्व की अनिवार्यता सिद्ध की। शैली अथवा रीति का महत्त्व भले ही काव्य के अन्तरंग अर्थात् रस, भावादि जितना अधिक न हो, फिर भी उसकी नितान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती। वाणी के अभाव में अर्थ भी लाचार हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय हैं जिसे विधाता ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी और कल्पना उस पक्षी के समान असमर्थ है जिस पर बांधकर पिंजड़े में डाल दिया गया हो।" अतः रीति अथवा शैली को महिमान्वित करके रीतिवादियों ने भारतीय काव्यशास्त्र को निश्चय ही उपकृत किया है।

4

ध्वनि-सिद्धान्त

ध्वनि-सम्प्रदाय : संक्षिप्त परिचय—भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्त्तन का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है, जिन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के रूप में भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में नितान्त मौलिक और गम्भीर चिन्तक का परिचय दिया। ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत आनन्दवर्द्धन ने एक ओर तो परम्परा से चले आ रहे विविध काव्य-सिद्धान्तों का परीक्षण किया और काव्य में उनका सापेक्ष महत्त्व निर्धारित किया और दूसरी ओर काव्य के मूल तत्त्व के सम्बन्ध में निर्णय दिया। इस सबके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने भारतीय विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में इस सिद्धान्त को रखकर नाट्य और काव्यशास्त्र को एकीकृत करने का भी प्रयास किया। कदाचित् इसी कारण इस काव्य-सिद्धान्त को महान् काव्यशास्त्रियों का प्रश्रय मिल गया और समूचे भारतीय काव्यशास्त्र में उसका स्थान अक्षुण्ण बना रहा।

ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व अलंकार-सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त स्थापित हो चुके थे। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "ध्वनिकार ने रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर उसी दृष्टि से अलंकार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, लक्षण इत्यादि सभी काव्य-सिद्धान्तों का परीक्षण किया और काव्य में उसकी सफल नियोजना पर सिद्धान्त रूप में प्रकाश डालकर उसका मूल्यांकन किया। इस सिद्धान्त के इतना प्रसार पाने का श्रेय इसी तथ्य को प्राप्त है कि इसमें काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले सभी सिद्धान्तों का व्यापक रूप में परीक्षण कर निष्पक्ष निर्णय देने की चेष्टा की।"

ध्वनि का व्युत्पत्यार्थ—व्युत्पत्ति की दृष्टि से ध्वनि के दो अर्थ होते हैं—(क) जिससे अर्थ स्फुटित होता हो, तथा (ख) जो वर्णों द्वारा प्रतिभासित होता हो। ध्वनिशास्त्र में ध्वनि के तीन प्रकार के अर्थ किये जाते हैं—पहला 'ध्वनतीति ध्वनिः' अर्थात् जो व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करे; दूसरा 'ध्वन्यते इति' अर्थात् व्यंजित होने वाला अर्थ और तीसरा 'ध्वननम् इति' अर्थात् शब्द और अर्थ का वह व्यापार जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती हो। इस प्रकार ध्वनि के पाँच अर्थ किये जा सकते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त में इसी आधार पर ध्वनि का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है।

आनन्दवर्द्धन के शब्दों में—"अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोपिवाच्यो वा ध्वनितीति शब्दोप्येवम्। व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्व ननमिति। कारिक्या तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।" ध्वनिकार ने ध्वनि का प्रयोग इन पाँच अर्थों में किया है—व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना व्यापार, व्यंग्य अर्थ और इनका समुदायरूप ऐसा काव्य जिसमें वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य में अधिक चमत्कार होता है।

ध्वनि शब्द अपने आप में बहुत व्यापक अवधारणा है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' के अन्तर्गत शब्द और अर्थ दोनों आ जाते हैं। 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' के अन्तर्गत रस आ जाता है और 'ध्वननम् ध्वनिः' में समूची व्यंजक प्रक्रिया आ जाती है। ध्वनि का पाँचवाँ अर्थ है इन सभी तत्त्वों का समूह अर्थात् काव्य। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि शब्द के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी तत्त्व आ जाते हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा—ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन स्वयं भी यह स्वीकार नहीं करते कि ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा उन्होंने ही की है। आनन्दवर्द्धन का स्पष्ट मत यह है कि उनसे भी बहुत पहले से ध्वनि-सिद्धान्त किसी न किसी रूप में प्रवर्त्तमान था। यद्यपि ध्वनिकार ने अपने से पूर्व भी ध्वनि-सिद्धान्त की सत्ता स्वीकार की है किन्तु सचाई यह है कि साहित्य जगत् में आनन्दवर्द्धन से पूर्व किसी ध्वनि-सिद्धान्त की चर्चा नहीं सुनी गयी। तथापि ध्वनि-सिद्धान्त का उल्लेख भारतीय तत्त्व चिन्तन में अवश्य होता रहा है। भारतीय चिन्तन में परोक्ष सत्ता की बात आग्रहपूर्वक कही जाती रही है और स्वभावतः मनुष्य की चिन्तना शक्ति दृश्यमान जगत् के पीछे झाँकती हुई परोक्षसत्ता को समझने का प्रयास करती रही है। कदाचित् इसी प्रकार का प्रयास अथवा ऐसी ही भावना ध्वनि-सिद्धान्त के रूप में प्रतिफलित हुई। ध्वनि-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्याकरण के स्फोटवाद से है। अतः ध्वनि-सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन स्फोटवाद के अभाव में सम्भव ही नहीं है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द वैयाकरणों से आया है और समय के साथ-साथ विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से ध्वनि का स्वरूप-विवेचन किया है। वैयाकरणों ने भी ध्वनि के सम्बन्ध में तब विचार आरम्भ किया जबकि उनके समक्ष यह समस्या उत्पन्न हुई कि शब्द से अर्थ कैसे निःसृत होता है। वैयाकरणों के मतानुसार शब्द के दो अंग होते हैं—नित्य और अनित्य। उदाहरण के लिए, एक शब्द लीजिए 'लेखनी'। 'लेखनी' शब्द में ले, ख और नी वर्णों का उच्चारण होता है किन्तु ये तीनों वर्ण लिखने वाली 'लेखनी' का अर्थ-बोध भी कराते हैं। जब हम इन तीनों वर्णों को उच्चरित करते हैं तो अन्तिम वर्ण अर्थात्—'नी' के उच्चारण तक पिछले दो उच्चरित वर्ण अर्थात् 'ले' और 'ख' तिरोहित हो जाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि इस पूरे शब्द से वांछित अर्थ की प्राप्ति कैसे होती है? क्या अन्तिम वर्ण 'नी' के उच्चारण से ही 'लेखनी' का अर्थ-बोध हो जाता है? निस्सन्देह नहीं। इसी प्रश्न का समाधान ढूँढ़ने के लिए वैयाकरणों ने स्फोट-सिद्धान्त की

स्थापना की। इस सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त लेखनी शब्द के दो रूप हुए—नित्य और अनित्य। अनित्य रूप तो उसके उच्चरित वर्ण रूप तक ही सीमित है, अर्थात् इस शब्द का वर्ण रूप अनित्य अथवा क्षणस्थायी है। इस अनित्य रूप के अतिरिक्त लेखनी का नित्य रूप भी है जिसकी प्रतीति व्यंग्य रूप में होती है। वैयाकरणों ने शब्द के इस नित्य रूप को स्फोट की संज्ञा दी है। इस सम्बन्ध में और आगे विवेचन करने से पूर्व स्फोट-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। स्फोट-सिद्धान्त के विवेचन से ध्वनि का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

स्फोट-सिद्धान्त—स्फोट-सिद्धान्त का विकास उस समय हुआ था जबकि वैयाकरणों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि किसी शब्द से उसके विशिष्ट अर्थ का बोध किस प्रकार होता है। दूसरे शब्दों में, शब्द का कौन-सा अंग है जो उससे विशिष्ट अर्थ का बोध कराता है? इस सम्बन्ध में कई सम्भावनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। पहली सम्भावना तो यह है कि शब्द के प्रत्येक वर्ण में विशिष्ट अर्थ का बोध कराने की क्षमता होती है, किन्तु यदि ऐसा होता तो 'लेखनी' शब्द का केवल 'ले' अथवा 'ख' अथवा 'नी' के उच्चारण से ही लेखनी का बोध हो जाता। स्पष्टतः 'लेखनी' का अर्थ बोध तीनों वर्णों के प्रयोग से ही सम्भव है। शास्त्र के अनुसार प्रत्येक वर्ण एक क्षण स्थायी होता है। 'ले' के उच्चारण की क्रिया समाप्त होने के पश्चात् ही 'ख' वर्ण का उच्चारण सम्भव है। इस क्रिया के समाप्त होने के साथ ही वर्ण भी समाप्त हो जाता है। अर्थात् 'लेखनी' के 'ले' के उच्चारण के पश्चात् 'ले' समाप्त हो जाता है। अतः वर्णों का संघात बन सकना सम्भव नहीं है। दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि समाप्त होने वाले वर्ण के संस्कार अगले वर्ण में मान लिए जायें और सभी पूर्ववर्ती वर्णों का संस्कार अन्तिम वर्ण में मान लिया जाये और उसी को वाचक भी समझ लिया जाये। इस प्रकार वर्णों का संघात भी सम्भव होगा और वाचकता भी बनी रहेगी। तथापि परीक्षा करने पर संस्कार का यह सिद्धान्त भी पूर्णतः निभ्रान्त सिद्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए दो शब्द लीजिए 'मल' और 'लय'—इन दोनों शब्दों का अन्तिम वर्ण 'अ' है और संस्कार सिद्धान्त के अनुसार यदि 'ल' और 'म' का एक-सा संस्कार बना रहेगा तो 'ल' और 'म' में कोई भी भेद नहीं रह पायेगा और फिर मल और लय—दोनों शब्द दोनों अर्थों को व्यक्त करेंगे। अतः यह सिद्धान्त होता है कि किसी वस्तु का संस्कार कार्य करने में कभी भी सक्षम नहीं होता।

इसी से जुड़ा हुआ एक प्रश्न पहचान अथवा प्रत्यभिज्ञा का है। उच्चारण-भेद तो प्रायः पाया जाता है और उच्चारण-भेद स्वीकार कर लेने पर शब्द की पहचान का आधार क्या होगा? निस्सन्देह ऐसी स्थिति में प्रत्यभिज्ञ के अभाव में ज्ञात शब्द ही अर्थ-बोध करायेगा। इसके अतिरिक्त शब्द और अर्थ के अभेद की बात प्रायः कही जाती रही है। इस सम्बन्ध में विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो सकेगा कि शब्द में अर्थ का व्यवहार नहीं दीखता है। उदाहरण के लिए, एक शब्द है 'अग्नि'

से शरीर जल जाता है किन्तु अग्नि शब्द के उच्चारण मात्र से मुख नहीं जलता। इसी प्रकार के कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने के लिए स्फोटवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत हुआ है।

स्फोटवाद का मूलाधार वाणी है जिसके चार भेद स्वीकार किये गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। ऐसी मान्यता है कि प्रलय के समय समूचा विश्व और उसकी चेतना ईश्वर में लीन हो जाती है और जब तक ईश्वर की पुनः सृजन की इच्छा नहीं होती वह उसी में लीन रहती है। जब ईश्वर पुनः सृष्टि की इच्छा करता है तो फिर से माया का आविर्भाव होता है। उसी से अव्यक्त रूप में बिन्दु रूप का जन्म होता है जिसमें सत्व, रज और तम—इन तीनों गुणों की स्थिति रहती है। काल के प्रभाव से वह बिन्दु रूपपुनः तीन रूपों में बँट जाता है—बीज, नाद और बिन्दु। जो मूल बिन्दु का अचेतन रूप होता है उसे बीज कहते हैं, चेतन और अचेतन के संयोग से उत्पन्न रूप को नाद कहते हैं और चेतन अंश को बिन्दु की संज्ञा दी जाती है। अचेतन अथवा प्रकृतिगत रूप अविद्या अथवा अज्ञान का परिचायक है और यही अविद्या प्रत्येक शब्द और अर्थ में संस्कार रूप में बनी रहती है। चेतना और अचेतन के संयुक्त रूप नाद को वैयाकरणों की भाषा में शब्दब्रह्म कहा जाता है। शब्दब्रह्म का स्वरूप ब्रह्म की भाँति ही है अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म के भीतर सब कुछ बिना किसी भेद-भाव के स्थित रहता है ठीक उसी प्रकार शब्दब्रह्म में सभी प्रकार के शब्द और अर्थ बने रहते हैं। शब्दब्रह्म ही समस्त विश्व का कारण होता है और पारिभाषिक शब्दावली में उसे परवाणी कहते हैं।

इसी नाद को संसार में अनाहत नाद के रूप में जाना जाता है। यही शक्ति प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में मूलाधार रूप में रहती है। इसी मूलाधार से संस्कृत वायु का प्रवर्तन हुआ करता है और जैसे-जैसे वह वायु ऊर्ध्वमुखी होकर नाभि के अन्त तक पहुँचती जाती है, वैसे-वैसे उसका सूक्ष्म रूप स्थूलता को प्राप्त होता रहता है और उसमें ब्रह्म का जो अंश स्थित होता है वह अपने रूप की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त हो जाता है। यह अवस्था ऐसी होती है जिसमें ईश्वरीय शक्ति को देखा जा सकता है और कदाचित् इसी कारण इस अवस्था को पश्यन्ती कहा गया है।

पश्यन्ती अवस्था में वांछित अर्थ और शब्द का निर्धारण हो जाता है। पुनः तेजस् तत्त्व के माध्यम से वायु पुनः ऊर्ध्वगति को प्राप्त होती है और फिर वह हृदय प्रदेश में पहुँचती है जहाँ वह प्राणवायु से मिल जाती है। इन स्थिति को मध्यमा कहते हैं क्योंकि यह दशा वांछित शब्द का निर्धारण और नाद रूप में उसकी अभिव्यक्ति के बीच की दशा होती है। वाणी का यह मध्यमा रूप केवल वक्ता ही सुन सकता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि इस अवस्था में वक्ता को भी केवल गूँज भर सुनायी देती है, प, ब, म, आदि का कोई भेद नहीं होता। श्वास लेने और छोड़ने में ओङ्कार का प्रणव का उच्चारण होता है जिसका विस्तार 'ओ' से 'म' तक माना गया है। यही ओङ्कार शब्द सभी वर्णों, शब्दों का मूल है। मध्यमा के

के पश्चात् वाणी का व्यक्त रूप सामने आता है। सर्वप्रथम वायु कण्ठ से होती हुई मस्तक की ओर बढ़ती है और वहाँ से मस्तक को आहत करते हुए लौट आती है और पुन: मुख-गह्वर में घुस जाती है तथा मुख के विभिन्न उपांगों जैसे कि तालु, कण्ठ, जिह्वा आदि का स्पर्श पाकर दूसरों के सुनने योग्य हो जाती है। वाणी की इस अवस्था को 'बैंखरी' कहते हैं। इसी बैंखरी रूप को वाणी का स्थूल रूप भी कहा जाता है।

वाणी के इन तीन रूपों के पश्चात् स्फोट का स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। स्फोट से भी पूर्व शब्द का स्वरूप-विवेचन आवश्यक है। शब्द क्या है? कमल के उच्चारण से हम कमल के फूल का अर्थ सहज ही निकाल लेते हैं किन्तु यह अर्थ निकला कैसे? क्या कमल शब्द के उच्चारण मात्र से हमें कमल के फूल का स्मरण हो आता है? निस्सन्देह नहीं, वस्तुत: 'कमल' शब्द के उच्चारण से हमारे मन में कमल के फूल की आकृति उभर आती है और उसी से हम कमल शब्द का अर्थ कमल नामक विशिष्ट प्रकार का फूल निकाल लेते हैं। अत: यह निर्विवाद है कि कमल की आकृति ही 'कमल' शब्द का अर्थ-बोध कराती है। व्यावहारिक जीवन में हमारे सम्पर्क में असंख्य वस्तुएँ, व्यक्ति आदि आते हैं और हमारे मन में उन सभी का एक चित्र, बिम्ब उतर जाता है और जैसे ही किसी शब्द का उच्चारण होता है उससे सम्बन्धित चित्र उभर जाता है और इस प्रकार प्रत्येक शब्द का एक विशिष्ट अर्थ-बोध होता जाता है। यही चित्र अथवा बिम्ब स्फोट का प्रत्यायक है क्योंकि शब्द का विशिष्ट अर्थ अनिवार्यत: किसी न किसी बिम्ब अथवा चित्र से जुड़ा होता है और उसी से अर्थ स्फुटित होता है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यह स्फोट ध्वनि से भिन्न होता है। इस भिन्नता को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। हम व्यवहार में प्रति-दिन हरे, लाल और नीले वस्त्रों अथवा अन्य पदार्थों की बात कहते हैं और इस प्रकार के प्रयोग में रंग और वस्त्र की पृथक् सत्तायें इतनी घुल-मिल जाती हैं कि हम उन दोनों को एक ही मानते हैं। वास्तविकता यह है कि यदि हम किसी लाल रंग के वस्त्र से लाल रंग को निकाल दें तो फिर उस लाल वस्त्र की प्रतीति तो सम्भव ही नहीं हो सकती। इस प्रकार शब्दों की विभिन्न ध्वनियाँ स्फोट के रंगों की तरह होती हैं और जिस प्रकार रंगों के अभाव में उन वस्त्रों आदि की पहचान नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार ध्वनियों के अभाव में स्फोट की प्रतीति भी कभी नहीं हो सकती। वस्त्र तो वस्त्र ही रहता है, उसके रंग काले, पीले, नीले—कुछ भी हो सकते हैं और यही नहीं वे रंग भी गाढ़े और हल्के हो सकते हैं किन्तु उन सभी विशेषताओं के रहते हुए भी, वस्त्र की अपनी गुणवत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। 'लेखनी' का उच्चारण कोई करे और किसी भी ढंग से करे, धीरे-से कहे अथवा चीख के कहे, लेखनी का मूल अर्थ नहीं बदल सकता।

इस प्रकार शब्द के दो भाग स्पष्टत: उभरते हैं—ध्वनि और स्फोट। शब्द का स्फोटांश कभी नहीं बदलता। तथापि इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि ध्वनि में अर्थ नहीं होता। आपके निकट बहुत शोरगुल होते हुए भी आपको किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु आपको वह सब खलता है। अत: जिस ध्वनि से स्फोट का ग्रहण नहीं होता, उससे अर्थ की प्रतीति कभी नहीं हो सकती।

ध्वनि का स्वरूप— उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैय्याकरणों ने स्फोट अर्थात् ध्वनि द्वारा अर्थ-बोध स्वीकार किया है, तथापि काव्यशास्त्र में स्थिति कुछ भिन्न होती है। वैयाकरणों का ध्वनि अथवा स्फोट सम्बन्धी विवेचन का क्षेत्र अभिधाशक्ति तक ही सीमित है जबकि काव्यशास्त्र में ध्वनि का विस्तार व्यंजना तक व्याप्त है। ध्वनि के स्वरूप का विवेचन करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।'

अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ अपनी आत्मा और अपने अर्थ को उपसर्जन अर्थात् गौण बनाकर व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं वह काव्य विशिष्ट विद्वानों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है। इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ को ध्वनि माना है। इसी क्रम में आनन्दवर्द्धन यह भी कहते हैं कि शब्द का प्रतीयमान अर्थ सुन्दरियों के लावण्य की भाति अलग ही प्रकाशित होता है। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में :

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्,
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।'

अर्थात् प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु होती है जो सुन्दरियों के प्रसिद्ध शरीरांगों से भिन्न उनके लावण्य की तरह महाकवियों की वाणी में प्रतिभासित होते हैं। इसी प्रसंग में आनन्दवर्द्धन यह भी कहते हैं कि इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ की उत्पत्ति किसी-किसी प्रतिभासम्पन्न कवि द्वारा हो पाती है। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में :

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्
आलोकसामान्यमि, व्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।

अर्थात् उस आस्वाद में अर्थ तत्त्व को प्रभावित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक प्रतिभासित और सरस्वती के वरदान रूप में प्राप्त विशिष्ट प्रतिभा को प्रकट करती है। ध्वनि के स्वरूप से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं और वह व्यंग्यार्थ किसी भी रमणी के सम्पूर्ण लावण्य की तरह होता है तथा व्यंग्यार्थ की उत्पत्ति के लिए कवि की विशिष्ट प्रतिभा अपेक्षित होती है। यह तो निर्विवाद है कि काव्य में व्यंजना ही मूलाधार होती है, अर्थात् काव्य का प्राणतत्त्व उसका प्रतीयमान अर्थ होता है, अभिधेयार्थ नहीं। अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ दो परस्पर विभिन्न अवधारणायें है और ध्वनि

सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों का भेद स्पष्टत: समझ लिया जाये। शास्त्रकारों ने अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद के आठ-नौ हेतु बताये हैं जो इस प्रकार हैं—बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय, विषय आदि। इन हेतुओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है। **बोद्धा**—अभिधेयार्थ तो भाषा का सामान्य ज्ञान रखने वालों को भी स्पष्ट हो जाता है किन्तु व्यंग्यार्थ केवल सहृदयों को ही समझ में आता है। **स्वरूप**—अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूपगत भेद भी होता है, उदाहरणत: यदि अभिधेयार्थ विधिरूप होता है तो व्यंग्यार्थ निषेधरूप; अभिधेयार्थ प्रश्न रूप होता है तो व्यंग्यार्थ अप्रश्न रूप। **संख्या**--अभिधेयार्थ सदैव एक ही होता है किन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए : 'संध्या हो गयी'--इसका अभिधेयार्थ तो केवल यही है कि संध्या का समय हो गया किन्तु इसका व्यंग्यार्थ श्रोताओं के लिए भिन्न-भिन्न ढंग का होगा। संन्यासी के लिए इस वाक्य का अर्थ होगा कि संध्यावन्दन का समय हो गया, चरवाहे के लिए इसका अर्थ होगा कि पशुओं को घर ले जाने का समय हो गया। **निमित्त**—अभिधेयार्थ की प्राप्ति तो सरल सीधी होती है किन्तु व्यंग्यार्थ की प्राप्ति के लिए विशिष्ट प्रतिभा की अपेक्षा रहती है। **कार्य**—अभिधेयार्थ से केवल अर्थ-बोध होता है जबकि ध्वनि एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करती है। **काल**—अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद ही होता है। अभिधेयार्थ तो तत्काल स्पष्ट हो जाता है किन्तु व्यंग्यार्थ के लिए बुद्धि को उद्बुद्ध करना होता है। **आश्रय**—अभिधेयार्थ पूर्णत: शब्द पर आश्रित रहता है किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्दांश, वर्ण तथा अन्य तत्त्वों पर आश्रित रहती है। **विषय**—कई बार अभिधेयार्थ तो एक व्यक्ति के लिए होता है और व्यंग्यार्थ दूसरे व्यक्ति के लिए। उदाहरण के लिए धनुषयज्ञ प्रसंग में लक्ष्मण की यह उक्ति देखिए—

'जौ तुम्हारि अनुशासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।'

यद्यपि लक्ष्मण के ये शब्द भाई राम के लिए अभिप्रेत हैं किन्तु व्यंग्य रूप में लक्ष्मण अन्य राजाओं को आतंकित कर रहा है। **पर्याय**—अनेक पर्यायवाची शब्दों का अभिधेयार्थ एक ही होता है किन्तु व्यंग्यार्थ में अर्थ की प्रतिच्छाया से नये-नये अर्थों की प्रतीति होती है।

ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थकों में अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अभिनवगुप्त के मतानुसार—'काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्यभावनावाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्' अर्थात् काव्य के मूलभूत अर्थ की भावना से भिन्न रूप में अनवरत चर्वणा से जो विमुख होते हैं उन्हें काव्य का वास्तविक आनन्द कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। मम्मट ने ध्वनि की विधिवत् परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है—

'इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।'

अर्थात् वह काव्य उत्तम होता है जिसमें वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ

अधिक चमत्कारपूर्ण होता है और जिसे विद्वान् लोग ध्वनि कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी ध्वनि की परिभाषा बहुत कुछ इसी आधार पर दी है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में—

'वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्या ध्वनिर्नामोत्तम काव्यम्।'

अर्थात् ध्वनि वह काव्य होता है जिसमें अभिधेयार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ में अतिशय चमत्कार की प्रतीति होती है और वही काव्य उत्तम भी है। विश्वनाथ के पश्चात् पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है—

'शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्।'

तथा

'काव्यजीवितं चमत्कारित्व।'

अर्थात् जिस काव्य में शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारपूर्ण अर्थ की प्रतीति करायें, व्यंजना वृत्ति द्वारा समझाएँ उसे सर्वोत्तम काव्य कहते हैं तथा चमत्कारयुक्त अर्थात् पूर्ण व्यंग्यार्थ ही काव्य की आत्मा होती है।

ध्वनि सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ध्वनि की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की जा सकती हैं—

(1) ध्वनि का मूलाधार व्यंग्यार्थ होता है। काव्य में अभिधेयार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ ही अधिक प्रमुख होता है।

(2) यह ध्वनि तत्त्व काव्य का प्राणतत्त्व होता है अथवा कहा जा सकता है कि काव्य का सम्पूर्ण काव्यत्व ध्वनि पर निर्भर करता है।

(3) यह व्यंग्यार्थ अथवा प्रतीयमान अर्थ सहृदयों के मन में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करता है। जिस समय कोई सहृदय कविता का अध्ययन करता है उस समय उसके हृदय में प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार विद्यमान रहता है।

(4) व्यंग्यार्थ अथवा प्रतीयमान अर्थ की उत्पत्ति केवल प्रतिभासम्पन्न कवि ही कर सकते हैं।

(5) काव्य के दो अर्थ होते हैं—अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ और इन दोनों अर्थों में भी व्यंग्यार्थ अपेक्षतया चारुतर होता है। यह व्यंग्यार्थ किसी सुन्दर स्त्री के विभिन्न अंगों, उपांगों के सौंदर्य की तरह नहीं, अपितु उसके सम्पूर्ण लावण्य की भाँति एकरूप होता है।

(6) 'ध्वनि-काव्य' ही सर्वश्रेष्ठ काव्य होता है और इसका एकमात्र कारण उसका व्यंग्यार्थ अथवा प्रतीयमान अर्थ होता है जो कि निश्चय ही उसके वाच्यार्थ से अधिक चारुतर होता है

(7) चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ ही काव्य की आत्मा है और वही काव्य सर्वश्रेष्ठ होता है।

इस प्रकार निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि ध्वनि-सिद्धान्त का मूलाधार

'अर्थान्तर' होता है और अर्थान्तर का आधार व्यंग्यार्थ होता है। केवल वाच्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ के बल पर यह अर्थान्तर उत्पन्न नहीं किया जा सकता। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने इस व्यंग्यार्थ के लिए प्रतीयमान अर्थ का प्रयोग किया है और प्रतीयमान अर्थ का स्वरूप-निर्धारण करते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि प्रतीयमान अर्थ :

(क) वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे ···।
(अर्थात् व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है)

(ख) सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु ···।
(अर्थात् व्यंग्यार्थ स्वादु होता है)

(ग) तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्यभावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा····।
(अर्थात् व्यंग्यार्थ चर्वणीय होता है)

(घ) तस्य सहृदयमन: प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदु:···· ।
(अर्थात् व्यंग्यार्थ सहृदय के मन में प्रकाशमान होता है)

इस प्रकार व्यंग्यार्थ का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् यह उल्लेख्य है कि सहृदय इसकी प्राप्ति स्वयं अपने विशिष्ट और भावप्रवण मन के माध्यम से करता है। जिस प्रकार इस व्यग्यार्थ की उत्पत्ति के लिए महान् कवि में विशिष्ट कवि-प्रतिभा अपेक्षित होती है ठीक उसी प्रकार इस प्रकार के अर्थ-ग्रहण के लिए पाठक में भी भावप्रवण और कल्पनाशील हृदय अपेक्षित होता है। सहृदय अपने कल्पनाशील हृदय के बल पर ही वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ को प्राप्त करता है। शास्त्रीय भाषा में इसी प्रक्रिया को अर्थान्तर कहते हैं। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि " 'ध्वनित' अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ काव्य के प्रणयन के लिए कवि को तो निश्चय ही विशेष प्रतिभावान् होना ही चाहिए, साथ ही पाठक के पास भी इस ध्वन्यर्थ को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट भावप्रवण, कल्पनाशील तथा सजग मन की सम्पदा अपेक्षित है। अपनी कल्पना से वह वाच्यार्थ में चारुतर अर्थान्तर ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रतीयमान व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यर्थ का आनन्द एक प्रकार से वाच्यार्थ के कल्पनात्मक अर्थान्तरण का आनन्द है।"

शब्द-शक्ति और ध्वनि-सिद्धान्त—प्रत्येक शब्द से उसके अर्थ की प्राप्ति उस शब्द में व्याप्त एक विशिष्ट शक्ति द्वारा होती है जिसे शास्त्रीय भाषा में शब्द-शक्ति कहा जाता है। शब्द और अर्थ के मध्य एक अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति रहती है और कदाचित् इसी कारण शब्द के उच्चारणमात्र से उस वस्तु की एक बौद्ध आकृति उभर आती है। उदाहरण के लिए 'लेखनी' शब्द लीजिए। लेखनी का एक विशिष्ट अर्थ है जिसका उद्घाटन उसके उच्चारणमात्र से ही हो जाता है और अर्थ-बोध की यह शक्ति उसी शब्द में वर्तमान रहती है। 'लेखनी' शब्द से 'लिखने के काम आने वाले एक उपकरण' की आकृति उभर आती है और इस प्रकार अर्थ का 'अभिधान' हो जाता है। शब्द की इस शक्ति को शास्त्रीय भाषा में अभिधा शब्द-शक्ति कहा जाता है।

तथापि कई बार शब्द का प्रयोग इतने कौशल के साथ किया जाता है कि उसकी शक्ति तो किसी अर्थ में होती है और उसका प्रयोग किसी अन्य अर्थ में किया जाता है और इसमें शब्द की मुख्य वृत्ति नहीं होती। ऐसे स्थलों पर शब्द की अमुख्य वृत्ति मानी जाती है। साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयोगों को लेकर पर्याप्त विवेचन-विश्लेषण हुआ और शब्दों के इस औपचारिक प्रयोग को विधिवत् स्वीकृति मिल गयी। इस औपचारिक प्रयोग से उपचारजन्य अर्थ की प्रतीति हुई और शब्द के मुख्यार्थ के स्थान पर अन्य अर्थ की प्रतिष्ठा हो गयी। शब्दों की इस वृत्ति अथवा शक्ति को लक्षणा-वृत्ति के नाम से अभिहित किया गया। लक्षणा-वृत्ति के अन्तर्गत पहले शब्द का प्रयोग किया जाता है और पाठक तत्काल उसका मुख्यार्थ समझ लेता है किन्तु तभी उसे यह भी आभास हो जाता है कि वक्ता का आशय मुख्यार्थ से कुछ भिन्न है अर्थात् वक्ता ने उस शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ से हटकर किसी अन्य अर्थ के लिए किया है। ऐसी स्थिति में पाठक उस शब्द से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को समझ लेता है जो कि वक्ता के मन्तव्य से मेल खाता हुआ होता है। कई बार प्रयोग परम्परा के कारण कई शब्दों के अर्थ रूढ़ हो जाते हैं और उनके प्रयोग और अर्थ-प्रत्यायन में पाठकों को तनिक भी कठिताई नहीं होती।

इस लक्षणा-वृत्ति के मुख्यतः दो भेद होते हैं—निरूढ़ा और प्रयोजनवती। निरूढ़ा लक्षणा के प्रयोग परम्परा के कारण शब्दों का रूढ़िगत प्रयोग होता है और प्रयोजनवती लक्षणा में किसी विशिष्ट प्रयोजन के कारण लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। प्रयोजनवती लक्षणा के पुनः दो उपभेद किये जाते हैं—गौणी और शुद्धा। गौणी के अन्तर्गत गुणों का सादृश्य होने के कारण अर्थान्तर का बोध होता है और शुद्धा-लक्षणा में अभिधेयार्थ के साथ सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों के कारण अर्थान्तर की प्रतीति होती है। दूसरे शब्दों में, गौणी लक्षणा में गुणों का सादृश्य सम्बन्ध होता है और शुद्धा लक्षणा में गुण-सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध होते हैं। शुद्धा लक्षणा के भी पुनः दो उपभेद और होते हैं—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। उपादान लक्षणा में लक्ष्यार्थ के साथ शक्यार्थ का भी कुछ सम्बन्ध बना रहता है और लक्षण-लक्षणा में शक्यार्थ का पूर्ण परित्याग हो जाता है। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के तीन भेद हो गये—शुद्धा-उत्पादन लक्षणा, शुद्धा लक्षण लक्षणा और गौणी लक्षणा। इन तीनों भेदों के पुनः दो-दो उपभेद और होते हैं—सारोपा और सध्यवसाना। स्पष्टतः प्रयोजनवती लक्षणा के कुल छः भेद हो गये जिनका विस्तृत परिचय 'शब्द-शक्तियों' के अन्तर्गत किया गया है।

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त एक अन्य शब्द-शक्ति भी होती है जिसे व्यंजना शब्द-शक्ति कहते हैं। अभिधा में केवल अभिधेयार्थ का बोध होता है और लक्षणा में 'अभिधेयार्थ' के साथ सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ का बोध होता है। व्यंजना का क्षेत्र इन दोनों शब्द-शक्तियों के बाद आरम्भ होता है। व्यंजना का शाब्दिक अर्थ है प्राकट्य अर्थात् कहीं कोई वस्तु किसी आवरण में छिपी है, उसे आवरण हटाकर समक्ष

ला दिया जाये तो कहा जायेगा कि उस वस्तु की व्यंजना हो गयी। कई बार कोई बात लज्जा, संकोच अथवा शिष्टाचारवश स्पष्टतः कही नहीं जा सकती किन्तु वक्ता उसे कहना भी चाहता है। ऐसी स्थिति में वक्ता व्यंजना शक्ति का आश्रय लेता है। उदाहरण के लिए, राम के प्रथम दर्शन कर, सीता उनकी मनोहर छवि पर मुग्ध हो रही है, उन्हें वापस लौटने का भी ध्यान नहीं रहा। ऐसे समय उसकी सखियाँ केवल यही कहती हैं कि 'पुनि आउब एहि बेरियाँ काली' और सीता तत्काल सखियों का वास्तविक आशय समझ लेती हैं और लजाती हुई 'भएउ बिलंबु मातु भय मानी'। यद्यपि इस प्रकार कवि ने स्पष्टतः सखियों से यह नहीं कहलवाया कि "देर हो गयी है, घर लौटना आवश्यक है", फिर भी उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया। श्रोता को यह सारा प्रसंग समझने में तनिक भी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। यह सब व्यंजना शब्द-शक्ति का चमत्कार है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए प्रसंग, वक्ता की मनःस्थिति, प्रकरण, वातावरण आदि का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि इन सभी के सम्यक् ज्ञान से ही वक्ता का मूल मन्तव्य स्पष्ट हो सकता है। व्यंग्यार्थ की एक अन्य विशेषता यह भी होती है कि उसका मूलाधार अभिधेयार्थ ही होता है। यही नहीं, एक ही अभिधेयार्थ से अनेक व्यंग्यार्थों की प्रतीति भी हो सकती है जो कि श्रोताओं की मनःस्थिति पर निर्भर करते हैं।

ध्वनि और व्यंग्यार्थ—शास्त्रकारों के अनुसार सम्पूर्ण साहित्य का मूल तत्त्व व्यंग्यार्थ ही होता है। आचार्यों के मतानुसार व्यंग्यार्थ सर्वव्यापी ब्रह्म की तरह होता है और जिस प्रकार ब्रह्म सृष्टि के कण-कण में विद्यमान रहता है ठीक उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी सम्पूर्ण वाङ्मय में स्थित होता है। तथापि ध्वनि और व्यंग्यार्थ दो नितान्त भिन्न अवधारणाएँ हैं। सभी व्यंग्यार्थ ध्वनि की स्थिति को नहीं पहुँच सकते। व्यंजना के ध्वनि-रूप प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार का काव्य-शरीर अपेक्षित है। ध्वनि और व्यंग्यार्थ की भेद-स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् कहते हैं कि "जब शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति इत्यादि काव्य-तत्त्वों से नियन्त्रित होकर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो और वह व्यंग्यार्थ चमत्कार-जनकता के साथ रस का भी संचार करे, इसी प्रकार के प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं।" अतः स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी व्यंग्यार्थ ध्वनि-रूप को तभी प्राप्त कर पाता है जबकि वह सहृदय को चमत्कृत करने के साथ-साथ रस का भी संचार कर सके। जब ध्वनि को काव्य की आत्मा का गौरवपूर्ण स्थान देने की बात कही जाती है तो निश्चय ही ध्वनि के इसी रूप को दृष्टिगत रखा जाता है। दूसरे शब्दों में, वही ध्वनि काव्य की आत्मा का रूप प्राप्त कर सकती है जो प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ रूप में हो और जो पाठक को चमत्कृत करने के साथ-साथ रस का भी संचार कर सके।

ध्वनि के भेद, उपभेद आदि—ध्वनि के स्वरूप-निर्धारण के पश्चात् उसके भेदों उपभेदों पर विचार किया जा सकता है। ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक काव्यशास्त्रियों ने मुख्यतः दो भेद किये हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला ध्वनि के भी दो

भेद किये गये हैं जिन्हें अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के नाम से भी अभिहित किया जाता है। लक्षणामूला ध्वनि के मूल में लक्षणा होती है और इसमें केवल वाच्यार्थ के माध्यम से वक्ता का मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार लक्षणामूला ध्वनि में वाच्यार्थ की बाधा स्वाभाविक रूप से होती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि इस प्रकार के बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग किसी न किसी प्रयोजन से किया जाता है और उस प्रयोजन की प्रतिपत्ति में व्यंजना-वृत्ति का ही आश्रय लिया जाता है। अविवक्षित वाच्य में वाच्यार्थ का पूर्ण परित्याग होता है। उदाहरण के लिए एक पंक्ति लीजिए—

'होमति सुखु करि कामना, तुमहिं मिलन को लाल।'

इस पंक्ति में 'होम' शब्द के वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया गया है। विवक्षितान्यपरवाच्य में लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ का परस्पर सहयोग बना रहता है। उदाहरण के लिए एक पंक्ति लीजिए—

'बड़े बोली बलि होत कत बड़े दृगनु के जोर।'

इस पंक्ति में बड़े दृग केवल दृगों का ही नहीं अपितु शरीर के पूर्ण सौन्दर्य के परिचायक हैं।

ध्वनि का दूसरा भेद अभिधामूला होता है। अभिधामूला ध्वनि में केवल अभिधेयार्थ के बल पर ही ध्वनि निकल जाती है। शास्त्रकारों ने इसके भी दो भेद किये हैं—असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य और संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य। असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य को रस-ध्वनि भी कहा जाता है क्योंकि सम्पूर्ण रसव्यंजना की एक प्रक्रिया होती है जो कि असंल्लक्ष्यक्रम में पूर्णतः फलित होती है। रसव्यंजना में सर्वप्रथम वाक्य का प्रयोग होता है, उसका अभिधेयार्थ स्पष्ट होता है और उसके पश्चात् विभावादि के सहयोग से रसनिष्पत्ति होती है। तथापि यह सम्पूर्ण प्रक्रिया अपने आप में इतनी सहज, स्वाभाविक और क्षिप्र होती है कि उसमें कोई क्रम नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार की ध्वनि में रसानुकूल वर्णों के प्रयोग की भी अपेक्षा रहती है। शृंगार रस के लिए कोमल और श्रुतिमधुर वर्ण-योजना का प्रयोग किया जाता है और उसके श्रवण-मात्र से ही (अर्थ को समझे बिना ही) कुछ न कुछ रस प्रौढ़ होने लग जाता है। अतः इस प्रकार की ध्वनि में क्रम का लक्षित न होना नितान्त स्वाभाविक है। असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य अथवा रसध्वनि में रस और उसका समस्त विस्तार सहज ही सिमट आता है। इसकी व्यंजना के भी अनेक माध्यम होते हैं जैसे कि गुण, वृत्ति, रीति, संघटना, रस तथा अलंकार आदि। पूरे काव्य की आत्मा यही रसध्वनि होती है और सभी महान् तथा प्रतिभासम्पन्न कवि इसी रसध्वनि को दृष्टिगत रखते हुए काव्य के अन्य तत्त्वों की योजना बनाते हैं।

अभिधामूला व्यंग्य के दूसरे भेद अर्थात् संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य में वाच्यार्थ के बोध होने पर व्यंग्यार्थ लक्षित होता है। इस प्रकार की ध्वनि में पूर्वापर का समुचित ज्ञान बना रहता है। असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य और संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य में एक महत्त्वपूर्ण

अन्तर यह है कि असंल्लक्ष्यक्रम में वाच्यार्थ से ही रसव्यंजना सम्भव होती है जबकि संल्लक्ष्यक्रम में रस का निष्पादन वाच्यार्थ से नहीं होता अपितु वाच्यार्थ से एक नितान्त नये अर्थ का बोध होता है और वह नया अर्थ या तो वाच्यार्थ से नितान्त विपरीत होता है अथवा इतना भिन्न अवश्य होता है कि वह नितान्त रूप से पृथकतः लक्षित किया जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की ध्वनि में पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और बाद में व्यंग्यार्थ की, और इस प्रकार एक क्रम अवश्य लक्षित होता है। यदि इस प्रकार की ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ रस-निष्पत्ति के लिए सक्षम होता है तो उसे शास्त्रीय भाषा में वस्तु-व्यंजना का नाम दिया जाता है। एक उदाहरण से सारी बात स्पष्ट हो सकेगी। मान लीजिए कि कोई नायिका अपनी माता से कहती है, "माँ, अब शाम हो गयी है, मुझे बतला दो कि बाजार से क्या कुछ लाना है।" प्रकटतः इस वाक्य का अर्थ केवल यही होगा कि लड़की वस्तुतः घर का काम जल्दी करने के लिए आतुर है और इस कारण अपनी माँ से अनुमति ले रही है किन्तु उसकी निकट सखी को यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि उसकी वह सखी अपने प्रेमी से मिलने जा रही है और बाजार जाना तथा घर का काम तो केवल बहाना है। यह दूसरा अर्थ ही व्यंग्यार्थ कहलायेगा और यही व्यंग्यार्थ रसप्रवर्तक है जिसे वस्तु-व्यंजना कहा जा सकता है।

संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के पुनः दो भेद और किये गये हैं—शब्द-शक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। शब्द-शक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत दो अर्थों वाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है और एक अर्थ का बोध हो जाने के पश्चात् शब्द-शक्ति के माध्यम से एक अन्य अर्थ का बोध होता है जो कि चमत्कारपूर्ण होता है। अर्थ-शक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के भेद-उपभेद आदि दो आधार पर किये जाते हैं—वाच्यार्थ के आधार पर और व्यंग्यार्थ के आधार पर वाच्यार्थ के भी दो उपभेद किये जाते हैं—वस्तु रूप और अलंकार रूप और इन दोनों रूपों के पुनः तीन-तीन उपभेद किये जाते हैं—सम्भव, कविकल्पित और पात्रकल्पित। वाच्यार्थ की भाँति ही व्यंग्यार्थ भी दो प्रकार का होता है—वस्तुरूप और अलंकाररूप। वाच्यार्थ के उपर्युक्त छः भेदों को दो-दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है और वे दो रूप हैं। वस्तु रूप तथा अलंकार रूप इस आधार पर अर्थ-शक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के बारह भेद किये जा सकते हैं—सम्भव वस्तु से वस्तुध्वनि, सम्भव वस्तु से अलंकारध्वनि, कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि, कविकल्पित वस्तु से अलंकारध्वनि, पात्रकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि, पात्रकल्पित वस्तु से अलंकारध्वनि, सम्भव अलंकार से वस्तुध्वनि, सम्भव अलंकार से अलंकारध्वनि, कविकल्पित अलकार से वस्तुध्वनि, कविकल्पित अलंकार से अलंकार-ध्वनि पात्रकल्पित अलंकार से वस्तु ध्वनि तथा पात्रकल्पित अलंकार से अलंकार ध्वनि। ध्वनि के अन्तर्गत शास्त्रकारों ने अनेक भेदों-उपभेदों का निर्धारण किया है और उन भेदों की संख्या इक्यावन तक पहुँच गयी है। यद्यपि विस्तार-भय के कारण सभी भेदों-उपभेदों का विवेचन नहीं किया जा सकता तथापि उनकी नामावली अग्रांकित है।

ध्वनि—मुख्यत: दो भेद लक्षणामूलक और अभिधामूलक ।

लक्षणामूलक—(कुल चार भेद)—के पुन: दो भेद—अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत । अर्थान्तरसंक्रमित के दो प्रकार—पदगत और वाक्यगत । इसी प्रकार अत्यन्त-तिरस्कृत के भी दो प्रकार—पदगत और वाक्यगत । इस प्रकार लक्षणामूलक के कुल चार भेद हुए –पदगत अर्थान्तरसंक्रमित, वाक्यगत अर्थान्तर-संक्रमित; पदगत अत्यन्त तिरस्कृत तथा वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत ।

अभिधामूलक के मुख्यत: दो भेद—असंल्लक्ष्यक्रम और संल्लक्ष्यक्रम । असंल्लक्ष्य-क्रम (कुल छ: भेदों) के पुन: छ: भेद—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, रचनागत, प्रबन्ध-गत और अर्थगत ।

संल्लक्ष्यक्रम के तीन मुख्य भेद शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और शब्दार्थो-भयशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम ।

शब्दशक्तिमूलक (कुल चार भेद)—पदगत वस्तुध्वनि, वाक्यगत वस्तुध्वनि, परगत अलंकारध्वनि, वाक्यगत अलंकारध्वनि ।

अर्थशक्तिमूलक (कुल छत्तीस भेद)—मुख्यत: तीन भेद स्वत:सम्भवी, कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध तथा कविनिबद्धपात्र, प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध । स्वत:सम्भवी के मुख्यत: चार प्रकार—वस्तु से वस्तुध्वनि, वस्तु से अलंकारध्वनि, अलंकार से वस्तुध्वनि तथा अलंकार से अलंकारध्वनि । इन चारों के भी तीन भेद—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत । इस प्रकार स्वत:सम्भवी अर्थशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के कुल बारह भेद हुए । इसी प्रकार कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध के चार भेद—वस्तु से वस्तुध्वनि, वस्तु से अलंकारध्वनि, अलंकार से वस्तुध्वनि और अलंकार से अलंकारध्वनि । इन चार भेदों के भी तीन-तीन भेद किये हैं—पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगत । इस प्रकार कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अर्थशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के कुल बारह भेद हो गये । ठीक इसी आधार पर कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध व्यंग्य के भी बारह भेद किये गये हैं । इस प्रकार संल्लक्ष्यक्रम अर्थशक्तिमूलक अभिधामूलक व्यंग्य के कुल छत्तीस भेद हो गये । शब्दार्थोभयशक्तिमूलक के रूप में केवल एक ही भेद माना जाता है ।

ध्वनि के इन 51 भेदों के पूरे नाम अध्ययन की सुविधा के लिए नीचे दे दिये गये हैं—

1. पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि ।
2. वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि ।
3. पदगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षित वाच्य ध्वनि ।
4. वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षित वाच्य ध्वनि ।
5. पदगत असंल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।
6. पदांशगत असंल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।
7. वाक्यगत असंल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।

8. रचनागत असंल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।
9. प्रबन्धगत असंल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।
10. वर्णगत असंल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।
11. पदगत शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तुध्वनि ।
12. वाक्यगत शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तुध्वनि ।
13. पदगत शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकारध्वनि ।
14. वाक्यगत शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकारध्वनि ।
15. पदगत अर्थशक्तिमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
16. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक स्वत.सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
17. प्रबन्धगत अर्थमूलक स्वतःसम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
18 पदगत अर्थमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षिनान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
19. वाक्यगत अर्थमूलक स्वतः सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि ।
20. प्रबन्धगत अर्थमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि ।
21. पदगत अर्थशक्तिमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि ।
22. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि ।
23. प्रबन्धगत अर्थशक्तिमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि ।
24. पदगत अर्थशक्तिमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि ।
25. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि ।
26. प्रबन्धगत अर्थशक्तिमूलक स्वत:सम्भवी संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलकारध्वनि ।
27. पदगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य से वस्तुध्वनि ।
28. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।

29. प्रबन्धगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
30. पदगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि ।
31. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि ।
32. प्रबन्धगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि ।
33 पदगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलकार से वस्तुध्वनि ।
34. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि ।
35. प्रबंधगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि ।
36. पदगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि ।
37. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि ।
38. प्रबंधगत अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपर-वाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि ।
39 पदगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमार्त्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षि-तान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
40. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षि-तान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
41. प्रबन्धगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षि-तान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
42. पदगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षि-तान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि ।
43. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षि-तान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकार ध्वनि ।
44. प्रबंधगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्यपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षि-तान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि ।
45. पदगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षि-तान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि ।

46. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि।
47. प्रबन्धगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि।
48. पदगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि।
49. वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि।
50. प्रबन्धगत अर्थशक्तिमूलक कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि।
51. शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि।

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य—काव्य में ध्वनि के स्थान पर विचार करने के पश्चात् काव्य के एक अन्य भेद अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य पर विचार किया जा सकता है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के व्यापक रूप का विवेचन करते हुए व्यंग्यार्थ के तारतम्य की दृष्टि से काव्य के तीन भेद निर्धारित कर दिये—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। इन्हीं तीनों को मम्मट के अनुसार क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम काव्य-श्रेणियों की सज्ञाएँ भी दी जा सकती हैं। मम्मट के पश्चात् आचार्य जगन्नाथ ने काव्य के इन तीनों भेदों में एक अन्य भेद भी जोड़ दिया। आचार्य जगन्नाथ के अनुसार अर्थालंकारों को मध्यम काव्य, शब्दालंकारों को अधम काव्य, गुणीभूतव्यंग्य को उत्तम और ध्वनि को उत्तमोत्तम काव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यंग्यार्थ के तारतम्य की दृष्टि से ध्वनि के पश्चात् गुणीभूत व्यंग्य का स्थान आता है, यह बात दूसरी है कि उसे (मम्मट के मत से) मध्यम काव्य का अथवा (जगन्नाथ के मत से) उत्तम काव्य के नाम से अभिहित किया जाये। गुणीभूतव्यंग्य की एक अन्यतम विशेषता व्यंग्यार्थ की गौणता है और कदाचित् इसी कारण इसे ध्वनि-काव्य से निम्नतर स्थान दिया जाता है। व्यंग्यार्थ की इस गौणता के स्पष्टतः दो कारण हो सकते हैं—व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार न हो अर्थात् ध्वन्याभास हो और दूसरा कारण यह हो सकता है कि व्यंग्यार्थ परमुखापेक्षी हो। गुणीभूतव्यंग्य के मुख्यतः आठ भेद स्वीकृत किये गये हैं—अगूढ़ व्यंग्य, अपरांग व्यंग्य, वाच्यसिद्धयांग, अस्फुट व्यंग्य, संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य, तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, काक्वाक्षिप्त व्यंग्य तथा असुन्दर व्यंग्य। गुणीभूतव्यंग्य के इन आठों भेदों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(1) **अगूढ़ व्यंग्य**—अगूढ़ व्यंग्य में व्यंग्यार्थ बिल्कुल स्पष्ट होता है और वह वाक्यार्थ की भाँति ही प्रतीतिगोचर होता है। उदाहरण के लिए कवि मैथिलीशरण गुप्त की अग्रांकित पंक्तियाँ देखिये—

'भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य।
भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।'

इन पंक्तियों में मंथरा अपनी कुटिल बुद्धि का परिचय देते हुए कैकेयी को समझा रही है। पाठक को मंथरा की कुटिलता समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती, अर्थात् इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट और निर्भ्रान्त है। इसीलिए इस प्रकार के व्यंग्य को अगूढ़ कहा गया है (गूढ़ का अर्थ रहस्यपूर्ण होता है और अगूढ़ स्वभावतः उसका विलोम होने के कारण विपरीतार्थक है।)

(2) **अपरांग व्यंग्य**—अपरांग व्यंग्य ऐसे व्यंग्य को कहते हैं जो किसी अन्य तत्त्व का अंग हो और स्वयं अप्रधान रहते हुए भी अन्य व्यंग्यार्थ अथवा वाच्यार्थ को और अधिक शोभापूर्ण बनाता हो। उदाहरण के लिए, कवि प्रसाद की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'अब न कपोलों पर छाया-सी,
पड़ती मुख की सुरभित भाप।
भुज-मूलों में शिथिल वसन की,
व्यस्त न होती है अब माप।'

उक्त पंक्तियों में मनु का चिन्तन चल रहा है और उनमें व्याप्त काम-रति का मूल भाव शोर से ग्रसित होने के कारण अपरांग कहलायेगा क्योंकि अन्ततः काम-रति का भाव शोक का ही अंग बन गया है।

(3) **वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य**—वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य ऐसे व्यंग्य को कहते हैं जो कि वाच्य-सिद्धि में सहायक हो अर्थात् जिसका एक मात्र प्रयोजन वाच्यार्थ की सिद्धि करना हो और वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए व्यंग्यार्थ अनिवार्यतः आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए निम्न दो पंक्तियाँ देखिये—

'करत प्रकास सुदिसिन कौं रही ज्योति अति जागि।
है प्रताप तेरो नृपति बैरी-बंस-दवागि।'

इन पंक्तियों में दूसरी पंक्ति का वाच्यार्थ है कि "हे राजा, तेरा प्रताप और कीर्ति शत्रु-वंश के लिए दावाग्नि की तरह है।" इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि दावानल तो जंगल की आग होती है और शत्रु-वंश के लिए दावानल का प्रयोग सार्थक नहीं है। निस्सन्देह यह वाच्यार्थ पूर्ण सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। इस वाच्यार्थ की सिद्धि 'बंस' के श्लेषार्थ को सम्भव है। 'बंस' के दो अर्थ होते हैं—वंश और बाँस। वंश तो अभिधेयार्थ है जिसकी समाप्ति के पश्चात् 'बाँस' व्यंग्यार्थ निकलता है। इसी व्यंग्यार्थ के सहारे वाच्यार्थ की सिद्धि होती है। अतः इस पंक्ति का व्यंग्यार्थ हुआ—"हे राजा, तुम्हारा प्रताप शत्रु-वंशरूपी बाँस के लिए दावानल की तरह है।"

(4) अस्फुट व्यंग्य—अस्फुट व्यंग्य का आशय ऐसे व्यंग्य से है जिसका बोध श्रमसाध्य हो। अस्फुट व्यंग्य का अर्थ सहृदयों के लिए भी कठिन होता है। उदाहरण के लिए निम्न दो पंक्तियाँ उल्लेख्य हैं—

'बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।'

पहली पंक्ति में 'विधु' का लक्ष्यार्थ है 'मुख' और इसी प्रकार 'जंजीर' तथा फणि का लक्ष्यार्थ है केशराशि। 'बाँधा था' का व्यंग्यार्थ यह है कि चन्द्रमा का सौंदर्य चंचल था जबकि मुख का सौंदर्य स्थिर था। इस आधार पर पहली पंक्ति का व्यंग्यार्थ इस प्रकार हुआ "काली केशराशि से घिरे हुए स्थिर मुख का सौन्दर्य अत्यन्त चित्ताकर्षक था।" दूसरी पंक्ति के व्यंग्यार्थ दो हो सकते हैं—लहराती हुई केशराशि को हीरों आदि से जटित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी अर्थात् वह केशराशि हीरों आदि के अभाव में भी अत्यन्त चित्ताकर्षक थी। इसी पंक्ति का दूसरा व्यंग्यार्थ इस प्रकार हो सकता है—उन अलंकारों से युक्त केशों का चित्ताकर्षक सौन्दर्य प्राण हर लेने वाला था हीरे को चाटने से मृत्यु हो जाती है—यह एक सिद्ध मान्यता है)। इस प्रकार स्पष्टतः दूसरी पंक्ति का व्यंग्यार्थ अत्यन्त गूढ़ और अस्फुट है;

(5) सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य—संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य में यह निर्णय देना दुष्कर होता है कि वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार है अथवा व्यंग्यार्थ में। इस प्रकार के व्यंग्य के उदाहरण के रूप में निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

'नाविक! इस सूने तट पर किन लहरों में ले लाया।
इस बीहड़ बेला में क्या अब तक था कोई आया।'

इन पंक्तियों का वाच्यार्थ इस प्रकार है: "हे नाविक, तू मुझे इस निर्जन तट पर किन लहरों में ले आया, क्या मुझसे पहले भी कोई यहाँ आया था।" इस वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ इस प्रकार है: "प्रेम-पत्र अथवा प्रेम ने प्रेमी को (अथवा विधाता ने मनुष्य को) अत्यन्त जटिल और प्रतिकूल परिस्थितियों में ला दिया।" स्पष्टत वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की तुलना करने पर यह निर्णय देना दुष्कर है कि वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है अथवा व्यंग्यार्थ।

(6) तुल्यप्राधान्य व्यंग्य—तुल्यप्राधान्य व्यंग्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ समान रूप से चमत्कारपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए, कवि पंत की निम्न पंक्तियाँ देखिये—

'आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अंधकार अज्ञात।'

इन पंक्तियों का वाच्यार्थ है—बालपन का कोमल, सुकुमार शरीर वृद्धावस्था में पीले पत्ते की भाँति कान्तिविहीन हो जाता है और यह चाँदनी रात कुछ ही दिनों तक रहती है, फिर घना अंधकार छा जाता है। इन्हीं पंक्तियों का व्यंग्यार्थ होगा—इस परिवर्तनशील जगत् में सुख और आशा की घड़ियाँ गिनी हुई अर्थात् बहुत सीमित

होती है और उनके बीत जाने के पश्चात् निराशा का घना अन्धकार छा जाता है। निस्सन्देह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ समान रूप से चित्ताकर्षक बन पड़े हैं।

(7) **काक्वाक्षिप्त व्यंग्य**—काक्वाक्षिप्त व्यंग्य का आक्षेप काकु अर्थात् कण्ठ-ध्वनि से ही कर लिया जाता है। 'काकु' का अर्थ होता है संवेगादि के कारण उत्पन्न होने वाला स्वरविकार। काक्वाक्षिप्त व्यंग्य भी अगूढ़ व्यंग्य की भाँति बिल्कुल स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए, रावण द्वारा अंगद को कहे गये निम्न शब्द देखिये—

'खल तब कठिन बचन सहऊँ।
नीति धर्म मैं जानत अहऊँ।'

उत्तर में अंगद कहता है :

'कह कपि धर्मसीलता तेरी। हमहूँ सुनीकृत परित्रय चोरी।'

इस पंक्ति का वाच्यार्थ है—हे रावण, हमने भी तेरी धर्मपरायणता की बात सुनी है, तूने परनारी की चोरी की थी। काकु की सहायता से उत्पन्न व्यंग्यार्थ है—हे रावण तू महापापी है क्योंकि तूने परनारी अर्थात् सीता का अपहरण कर लिया था।

(8) **असुन्दर व्यंग्य**—असुन्दर व्यंग्य में व्यंग्य की तुलना में व्यंजक व्यंग्यार्थ अधिक चित्ताकर्षक होता है और कदाचित् इसी कारण इस प्रकार के व्यंग्य को असुन्दर कहा जाता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिये—

'बैठी गुरुजन बीच में सुनि मुरली की तान।
मुरझति अति अकुलाय उर परे सांकरे प्रान।'

इन पंक्तियों का वाच्यार्थ है—गुरुजनों के मध्य बैठी हुई गोपी को जब मुरली की तान सुनायी पड़ती है तो उसका मुखमण्डल मुरझा जाता है, हृदय व्याकुल हो उठता है और उसके प्राण संकट में पड़ जाते हैं। इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ इस प्रकार होगा—"यद्यपि श्रीकृष्ण की मुरली की तान सुनकर गोपी उनसे मिलने के लिए अत्यन्त आतुर है किन्तु गुरुजनों आदि की उपस्थिति के कारण वह अपने मिलनातुर मन को मसोस कर रह जाती है।" निस्सन्देह इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में असुन्दर है और इस कारण यहाँ असुन्दर व्यंग्य की स्थिति है।

ध्वनि और अव्यंग्य काव्य—ध्वनि के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में, यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वही ध्वनि काव्य के उपयुक्त होती है जिसका व्यंग्यार्थ केवल सहृदयों को चमत्कृत ही न करे अपितु रस का भी संचार करे। इसी प्रकार के प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहा गया है। अतः ध्वनि का मूलाधार व्यंग्यार्थ हुआ। जिस ध्वनि में व्यंग्य का सर्वथा अभाव होता है उसे अव्यंग्य काव्य कहते हैं। तथापि कतिपय विद्वानों के अनुसार काव्य का प्राणतत्त्व होता है लालित्य। अतः लालित्य के रहने पर और व्यंग्य के अभाव में भी काव्य की स्थिति मानी गयी है। केवल शब्द-लालित्य अथवा वाच्य-वैचित्र्य के बल पर भी काव्य की स्थिति हो सकती है। शास्त्रकारों ने इस प्रकार के लालित्य के मुख्यतः दो भेद माने हैं—वाच्यालंकृत और

शब्दालंकृत-वाच्यालंकृत काव्य का समस्त सौंदर्य केवल वाच्यार्थ में ही निहित रहता है और इस कारण वाच्य रूप में प्रयुक्त उपमा आदि अर्थालंकार वाच्यालंकृत काव्य की श्रेणी में आ जाते हैं। वाच्यालंकृत काव्य के उदाहरण रूप में कवि भूषण की निम्न पंक्तियाँ उल्लेख्य हैं—

'आदि बड़ी रचना है विरंच की जामें रह्यो रचि जीव जड़ो है।
ता रचना महि जीव बड़ो अति काहे तें ता उर ज्ञान गड़ो है।
जीवन में नरलोक बड़ो कवि भूषन भाषत पैज अड़ो है।
है नरलोक में राजबड़ो सब राजन में सिवराज बड़ो है।

इन पंक्तियों में कवि ने 'सार' अलंकार का प्रयोग वाच्य रूप में किया है और इस कारण यहाँ वाच्यालंकृत अव्यंग्य काव्य की स्थिति मानी जा सकती है।

इसके विपरीत शब्दालंकृत काव्य में काव्य का समस्त सौंदर्य केवल शब्दों पर ही आधारित होता है। उदाहरण के लिए, कविवर बिहारी का निम्न दोहा देखिए—

'तो पर वारों उरबसी सुन राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरवसी समान।'

इस दोहे में 'यमक' शब्दालंकार का ही सौंदर्य दीख पड़ता है। 'यमक' अलंकार के प्रयोग के कारण 'उरबसी' के तीन अर्थ हो गये—एक प्रकार का आभूषण विशेष मन में बसी हुई नायिका तथा उर्वशी नाम की एक देवलोक की अप्सरा।

ऐसे भी कई उदाहरण देखे जा सकते हैं जिनमें शब्दालंकृत और वाच्यालंकृत—दोनों प्रकार के काव्यों का सफल निर्वाह होता है। इस दृष्टि से कवि पद्माकर की निम्न पंक्तियाँ देखिये जिनमें वाच्यार्थ और शब्द—दोनों का चमत्कार स्पष्टतः लक्षित होता है—

'कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलित कलीन में बिकसंत है।
कहै पद्माकर पराग हू में पौन हू में
पातन में पीकन पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगरयो बसंत है।'

इस पद में वृत्यानुप्रास और यमक शब्दालंकार के प्रयोग से शब्दों का लालित्य बन पड़ा है जिससे सम्पूर्ण पद चित्ताकर्षक बन पड़ा है।

ध्वनि और रस—रस की निष्पत्ति की प्रक्रिया में विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का संयोग बताया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य में रसवाच्य

नहीं होता अपितु केवल विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का संयोग होता है। रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन तो एक प्रकार का काव्य-दोष माना गया है। अतः काव्य में परिपाक रूप रस की अभिव्यंजना तो होती है किन्तु रस के वाच्य रूप के दर्शन नहीं होते। रस की अभिव्यंजना कैसे होती है—यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। किसी भी काव्योक्ति के वाच्यार्थ से रस की प्रतीति नहीं होती, केवल अर्थ-बोध होता है और वह अर्थ-बोध निश्चय ही रस नहीं होता। रस का स्वरूप-विवेचन करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "रस सहृदय की हृदय-स्थित वासना की आनन्दमयी परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में 'व्यंजना' या 'ध्वनन' होता है।" कदाचित इसी कारण आनन्दवर्द्धन रस को रसध्वनि कहते हैं और इसे ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद मानते हैं। ध्वनिवादियों ने ध्वनि के मुख्यतः दो भेद माने हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला ध्वनि के पुनः दो भेद किये गये हैं। असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य और संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य। संल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के दो उपभेद और किये गये हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। इस प्रकार यद्यपि ध्वनि के भेद-उपभेदों की संख्या तो 51 तक पहुँच गयी है फिर भी मुख्य भेद यही पाँच हैं। इन पाँचों भेदों में भी ध्वनिवादी आचार्यों ने रसादि ध्वनि को केवल सर्वोत्कृष्ट ही नहीं कहा अपितु यहाँ तक कहा है कि ध्वनि के अन्य चार भेदों की चमत्कार-शक्ति भी रसादि-ध्वनि पर निर्भर करती है।

इस प्रकार ध्वनिवादियों ने रसादि-ध्वनि की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की और इसके साथ ही उन्होंने शब्दार्थ में चारुत्व उत्पन्न करने वाले तत्त्वों अर्थात् गुण, रीति और अलंकारों को भी रसध्वनि से सम्बद्ध कर दिया। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में :

'वाक्यवाचकचारुत्वहे तूनां विवधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स-ध्वनेविषयो तः॥'

अर्थात् जहाँ विविध प्रकार के शब्द और अर्थ तथा उनके चारुत्व-हेतु (शब्दालंकार और अर्थालंकार) रसपरक अर्थात् रसादि के अंग होते हैं वह ध्वनि का विषय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता कि ध्वनिवादियों ने रस की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने में पूरा योगदान दिया। यही नहीं, ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य-दोषों का समस्त विवेचन रस की अवधारणा पर ही आधृत किया। निस्सन्देह रस के इसी महिमान्वित रूप ने आचार्य विश्वनाथ को रस को काव्य की आत्मा का-सा महत्त्वपूर्ण स्थान देने की प्रेरणा दी होगी।

समग्र आकलन—ध्वनि-सिद्धान्त और ध्वनि एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक आचार्यों के अनुसार, "इस सिद्धान्त का सार यही है कि कविता का लक्ष्य अर्थ-बोध मात्र नहीं है किन्तु परिशीलन में संवेदना जगाना और

उसके हृदय का विस्तार कर उसे विश्व हृदय में मिला देना भी है।" अतः यह स्पष्ट है कि केवल शब्दार्थ के बल पर ही कोई उक्ति काव्य कहलाने की अधिकारिणी नहीं हो जाती।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा से पूर्व प्रवर्तमान शब्द-शक्तियों अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से व्यंजना को ही ध्वनि-सिद्धान्त का मूलाधार स्वीकार किया। व्यंग्यार्थ की अतिशयता ही ध्वनि-काव्य का मूलाधार होती है। इसी आधार पर ध्वनिवादियों ने काव्य का कोटि-क्रम भी निर्धारित किया और यह निर्विवाद है कि व्यंग्यार्थ के तारतम्य पर आधृत काव्य के इस कोटि-क्रम ने परवर्ती काव्यशास्त्रीय चिन्तन को पूरी तरह प्रभावित किया। काव्य का यह कोटि-क्रम इस प्रकार था—उत्तम (ध्वनिकाव्य), मध्यम (गुणीभूतव्यंग्य) तथा अधम (व्यंग्य चमत्कारशून्य काव्य)।

ध्वनिवादी आचार्यों का एक महत्त्वपूर्ण योगदान काव्य के विभिन्न तत्त्वों में रस की महत्ता प्रतिष्ठित करना था। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रसध्वनि को सर्वाधिक आदरपूर्ण स्थान दिया और उसे वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि की तुलना में श्रेष्ठ स्वीकार किया। कदाचित् उन्हीं की स्थापनाओं से प्रेरित होकर आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' सिद्धान्त की घोषणा की।

ध्वनिवादी आचार्यों की अन्यतम विशेषता उसकी समन्वयवादी दृष्टि कही जा सकती है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त को अत्यन्त व्यापक आधार प्रदान करके विभिन्न काव्य-तत्त्वों अर्थात् रस, गुण, अलंकार, रीति को इस ध्वनि-सिद्धान्त में समाहित कर लिया। गुण, अलंकार, रीति आदि विभिन्न काव्य-सिद्धान्त काव्य के सौंदर्य के एक ही अंग की व्याख्या और विवेचन करते हैं और अपने आप में पूर्ण नहीं कहे जा सकते। ध्वनिकार के इस कथन में बहुत सत्य है कि ये सभी आचार्य काव्यात्मा की खोज के मार्ग में ही भटकते रहे और अन्तिम लक्ष्य तक कोई भी नहीं पहुँच पाया। इसके विपरीत ध्वनि-सिद्धान्त में इन सभी तत्त्वों का सहज ही समन्वय हो जाता है।

5
औचित्य सिद्धान्त

अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की भाँति ही औचित्य-सिद्धान्त के एक सम्प्रदाय रूप में प्रतिष्ठित होने से पूर्व ही इसके संकेत भारतीय काव्यशास्त्र में सहज सुलभ हैं। वस्तुतः प्रत्येक काव्य-सिद्धान्त की विधिवत् प्रतिष्ठा होने से पूर्व उसकी एक पृष्ठ-भूमि तैयार हो जाती है और फिर कोई न कोई काव्याचार्य अथवा काव्यशास्त्री उस सिद्धान्त को एक सम्प्रदाय का रूप दे देता है। इसी प्रकार यद्यपि औचित्य सिद्धान्त को सम्प्रदाय-रूप देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को जाता है फिर भी औचित्य सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन औचित्य सम्बन्धी अवधारणा के विषय में किये गये पूर्ववर्ती चिन्तन के अभाव में अधूरा ही कहा जायेगा। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "किन्तु जो बात अन्य भारतीय चिन्ता-धाराओं के विषय में कही जाती है कि सम्प्रदायरूपता में आने के बहुत पहले, इसके संकेत काव्यशास्त्र में प्राप्त होने लगते हैं और सिद्धान्त-रूप में इसको लगभग स्वीकृति मिल ही चुकी होती है, वही बात औचित्य सिद्धान्त पर भी अक्षरशः चारितार्थ होती है। अतएव क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त पर विचार करने से पहले प्राग्वर्ती काव्यशास्त्र में उसके मूल सूत्रों का अनुसंधान कर लेना क्षेमेन्द्र की प्रेरणा और उनके योगदान के मूल्यांकन में सहायक होगा।"

आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व औचित्य सम्बन्धी अवधारणा मुख्यतः दो रूपों में प्राप्य है—एक तो उन आचार्यों की स्थापनाएँ जो कि आग्रहपूर्वक कहते हैं कि काव्य के सभी तत्त्वों की योजना लोक-स्वभाव के अनुरूप होनी चाहिए और दूसरे ऐसे आचार्यों की मान्यताएँ जो कि दोष-विवेचन के प्रसंग में यह मानते हैं कि काव्य के कई तत्त्व अनौचित्य के कारण ही दोष बन जाते हैं और औचित्य से पुष्ट होने पर कभी-कभी दोष भी गुण हो जाता है। वस्तुतः इन आचार्यों का समस्त दोष-विवेचन औचित्य की एकमात्र अवधारणा पर आधृत है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि जहाँ कहीं अनौचित्य होगा, वहीं दोष की स्थिति होगी। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम भरतमुनि का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने सर्वप्रथम नाट्य-विवेचन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नाट्य-त्रैलोक्यानुकृति है अर्थात् त्रैलोक्य की अनुकृति ही नाट्यशास्त्र सम्बन्धी

विवेचन में विभिन्न नाट्यांगों के मध्य अनुकूलता और अनुरूपता पर अत्यधिक बल दिया है और अनुरूपता, अनुकूलता वस्तुतः औचित्य ही है। भरतमुनि के शब्दों में—

'वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषा,
वेषानुरूपश्च गति-प्रचारः ।
गति-प्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ।'

अर्थात् पात्रों की वेशभूषा उनकी आयु के अनुरूप होनी चाहिए और उनके क्रियाकलाप उसी वेशभूषा के अनुसार होने चाहिए। उन पात्रों के वचन भी उनके क्रियाकलापों के अनुरूप होने चाहिए और उन वचनों के अनुरूप ही उनका अभिनय भी होना चाहिए। भरतमुनि के अनुसार नाट्य की सिद्धि और उसकी एकमात्र कसौटी लोक-व्यवहार अथवा लोकधर्म होना चाहिए। भरतमुनि के शब्दों में :

'लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते'

अर्थात् जो बात लोक में सिद्ध हो, वही बात नाट्य में भी सिद्ध कही जायेगी। नाट्य सदैव लोक-स्वभाव के अनुकरण से उद्भूत होता है और इस कारण नाट्य के प्रयोग में लोक ही प्रमाण रूप में आता है। इसी क्रम में आगे भरतमुनि यह भी कहते हैं कि—

'नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्माल्लोकः प्रमाणं हि कर्त्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ।'

अर्थात् संसार में (देशकाल तथा परम्परा आदि के अनुसार) नाना प्रकार के शील-स्वभाव आदि होते हैं। शील में नाट्य की प्रतिष्ठा होती है; नाट्य योजना करने वालों को सदैव लोक को ही प्रमाण मानना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भरतमुनि ने अनेकशः नाट्य को लोक-व्यवहार के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयास किया है। भरतमुनि के अनुसार केवल नाट्यशास्त्र के बल पर ही सक्षम और समर्थ नाट्य-योजना तैयार नहीं की जा सकती। सफल नाट्य-योजना के लिए शास्त्र-ज्ञान की नहीं अपितु लोक-व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान की अपेक्षा रहती है। नाट्य में कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित—इसकी निर्णायक कसौटी केवल लोक-व्यवहार है। इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि भरतमुनि ने यद्यपि औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है तथापि लोक-व्यवहार के अनुकरण का आशय अन्ततः औचित्य ही होगा। इसी प्रसंग में भरतमुनि ने अनौचित्य का विश्लेषण करते हुए कहा है कि—

'अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसिबन्धे तु हास्यायैवोपकल्प्यते ।'

अर्थात् जो वेशभूषा देश और परम्परा के विपरीत होती है वह शोभाकारक

नहीं होती। यदि मेखला को हार रूप में धारण किया जाय तो वह केवल हास्यास्पद ही होगा। दूसरे शब्दों में, सभी नाट्य तत्त्वों की योजना रसानुकूल होनी चाहिए और जहाँ कहीं भी कोई नाट्य-तत्त्व लोक व्यवहार के प्रतिकूल होगा, वहीं रसानुभूति में व्याघात उत्पन्न हो जायेगा।

औचित्य सिद्धान्त के मूल स्रोतों की चर्चा में भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने अलंकार-सिद्धान्त के अन्तर्गत दोष-विवेचन करते समय परोक्षतः औचित्य-सम्बन्धी अवधारणा की ही प्रतिष्ठा की है। आचार्य भामह ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि दोष का मूल अनौचित्य में स्थित होता है और औचित्य के सद्भाव का संस्पर्श कभी-कभी दोष को भी गुण का रूप दे देता है। आचार्य भामह के शब्दों में :

'सन्निवेशाविशेषात्तु दुरुक्तिमपि शोभते।
नीलंपलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।'

अर्थात् विशेष संयोजन के कारण दोषपूर्ण उक्ति भी उसी प्रकार शोभावान् हो जाती है जिस प्रकार कि माला के मध्य स्थित पलाश। इसी प्रकार भामह यह भी कहते हैं कि यदि आश्रय सुन्दर हो तो असाधु भी उसी प्रकार शोभावान् हो जाता है जिस प्रकार कि किसी कमनीय रमणी के नेत्रों में पड़ा हुआ काजल उसके लावण्य की श्रीवृद्धि ही करता है। भामह के शब्दों में—

'किंचित आश्रयसौन्दर्यात् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ता-विलोचनन्यस्तं मलीमसीवाञ्जनम्।'

भामह ने जिस 'सन्निवेशविशेषात्तु' की बात आग्रहपूर्वक कही है, वह वस्तुतः औचित्य का ही दूसरा नाम है। भामह का दोष-विवेचन के अन्तर्गत भामह ने यह स्पष्ट किया है कि काव्य-दोष अथवा अदोषत्व की स्थिति का एकमात्र आधार औचित्य का निर्वाह होता है। यदि किसी काव्य-दोष को भी औचित्य का आश्रय प्राप्त हो जाये तो वह काव्य-दोष भी काव्यगुण हो जाता है और इस प्रकार काव्य-दोष भी औचित्य का स्पर्श पाकर काव्य की श्रीवृद्धि में सहायक हो जाता है। इसी क्रम में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य भामह कहते हैं कि यद्यपि सामान्य स्थिति में किये एक ही शब्द को बार-बार कहने से पुनरुक्ति दोष हो जाता है, फिर भी यदि भय अथवा शोक आदि के भावों की अभिव्यक्ति के प्रसंग में कोई वक्ता घबराकर एक ही शब्द को बार-बार दोहराता है तो वह पुनरुक्ति दोष न होकर रस-वृद्धि करने वाला एक गुण हो जायेगा।

दण्डी ने भी यद्यपि अपने दोष-विवेचन में औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है फिर भी उसका मूलाधार औचित्य सम्बन्धी अवधारणा ही है। दण्डी के मतानुसार देश, काल, लोक आदि के प्रतिकूल बातें भी कवि-कौशल से औचित्य का स्पर्श पाकर काव्यगुण का रूप धारण कर लेती हैं। दण्डी के शब्दों में—

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।'

इस प्रकार दण्डी के मतानुसार दोष स्थिति केवल अनौचित्य मे होती है और औचित्य के निर्वाह के कारण काव्य में गुणवत्ता उत्पन्न होती है । दूसरे शब्दों में, जो कुछ अनौचित्य के कारण दोष होता है, औचित्य का संस्पर्श पाकर वही गुण बन जाता है ।

यशोवर्मन पहले नाटककार हैं जिन्होंने औचित्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपयुक्त सन्दर्भ में किया था । यशोवर्मन ने अपने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक में औचित्य की आवश्यकता पर प्रभाव डाला है । यशोवर्मन के शब्दों में—

'औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गेन चातिक्रमः ।
शुद्धिः प्रस्तुत संविधानकीवधौ, प्रौढ़िश्च शब्दार्थयोः ।
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहि तैः एतावदेवास्तु नः ।'

इन पंक्तियों में यशोवर्मन ने मुख्यतः तीन बातें कही हैं—पहली तो यह कि नाटक में वचनों का औचित्य होना चाहिए अर्थात् नाटक के पात्रों की प्रकृति के अनुसार ही उनकी भाषा होनी चाहिए । दूसरी यह कि उपयुक्त अवसर पर पात्रों के अनुकूल रस की पुष्टि होनी चाहिए । तीसरी यह कि कथा की योजना में कोई अतिक्रम नहीं होना चाहिए । इस दृष्टि से भरतमुनि और यशोवर्मन के चिन्तन में अद्भुत साम्य दिखायी देता है । भरत की ही भाँति यशोवर्मन ने भी समस्त नाटकीय तत्त्वों की सफल योजना का एकमात्र आधार औचित्य को ही माना है ।

यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य सम्बन्धी अवधारणा के बीज-रूप में भरत, भामह आदि काव्याचार्यों ने औचित्य सिद्धान्त के लिए एक सुदृढ़ आधारभूमि तैयार कर दी थी किन्तु औचित्य का प्रयोग काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम रुद्रट ने किया । यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से रुद्रट विशुद्ध अलंकारवादी आचार्य हैं तथापि शब्द का उल्लेख करने वालों में रुद्रट ही पहले भारतीय काव्यशास्त्री हैं । रुद्रट ने पहली बार विभिन्न काव्यांगों में औचित्य के निर्वाह की बात आग्रहपूर्वक कही । रुद्रट ने अपने अलंकार विवेचन के साथ-साथ रसौचित्य की बात कही है । अलंकारों में ही नहीं, वृत्तियों आदि के विवेचन में भी रुद्रट ने औचित्य के निर्वाह पर बल दिया है । रुद्रट के शब्दों में :

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्याभुहुश्चैवगृहीतमुक्ताः ।।'

अर्थात् इन वृत्तियों को पूरे प्रयत्न से समझ लेना चाहिए और इसके पश्चात् पात्रगत और अर्थगत औचित्य पर सम्यक् ढंग से विचार कर लेना चाहिए और फिर इन वृत्तियों को परस्पर मिश्रित रूप में काव्य में निबद्ध करना चाहिए जो कि संगत न

हों, बहुत विस्तृत भी न हों और न अत्यन्त अल्प ही हों। यही नहीं, रुद्रट ने अपने दोष-विवेचन में ऐसे स्थलों की ओर संकेत किया है जहाँ दोष भी काव्य के गुण बन जाते हैं। रुद्रट ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यही कहा है कि काव्य में दोषों की स्थिति मुख्यतः अनौचित्य के कारण होती है।

रुद्रट के पश्चात् औचित्य सम्बन्धी अवधारणा का अत्यधिक व्यापक स्तर पर विवेचन करने वालों में ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का नाम उल्लेखनीय है। काव्य के बहुविध अंगों में औचित्य के निर्वाह की बात कहने के साथ-साथ आनन्दवर्द्धन ने रसौचित्य की व्यापक परिकल्पना भी प्रस्तुत की है जिसमें सभी प्रकार के औचित्य अन्तर्भूत हो जाते हैं। अपने रस-सम्बन्धी विवेचन में आनन्दवर्द्धन ने स्पष्टतः कहा है कि सर्गबद्ध काव्य अर्थात् महाकाव्य में रस के अनुसार औचित्य होना चाहिए। आनन्दवर्द्धन के अनुसार, औचित्य का विस्तार केवल काव्य तक ही नहीं, छंदरहित गद्यात्मक रचनाओं में भी होता है, यहाँ तक कि कथात्मक साहित्य में भी औचित्य के निर्वाह की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन के अनुसार, औचित्य के सम्यक् निर्वाह से गद्य और पद्य दोनों ही सुशोभित होते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि रस-प्रकाशन का औचित्य ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रसंग में ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने प्रबन्धगत रस के पाँच हेतुओं (औचित्य) का विवेचन किया है जो कि निम्नानुसार हैं—

(क) विभाव, स्यायीभाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा-शरीर का निर्माण—विभाव का औचित्य तो सर्वविदित ही है और स्थायीभाव का औचित्य (प्रकृति के औचित्य) पर निर्भर करता हैं। प्रकृति के विभिन्न रूपों के अनुसार ही स्थायीभाव का औचित्य होता है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार, ऐतिहासिक कथा के पात्रों के क्रिया-कलापों का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन निश्चय ही औचित्य के प्रतिकूल कहा जायेगा और जहाँ कहीं ऐसी स्थिति होगी, अनौचित्य होगा और स्वभावतः रसभंग भी हो जायेगा। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में—

'अनौचित्याहृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धुस्तु रसस्योपनिषत् परा।'

अर्थात् अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का कोई अन्य कारण नहीं होता और रस का मूल रहस्य औचित्य का अनुसरण करने में ही छिपा हुआ है। अपने मन्तव्य की पुष्टि में आनन्दवर्द्धन कई उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, श्रृंगार रस चित्रण में उत्तम देवी-देवता को लेकर किया गया संभोग वर्णन अनुचित कहा जायेगा। यही नहीं, आनन्दवर्द्धन तो यहाँ तक कहते हैं कि श्रृंगार रस के संयोग पक्ष के वर्णन में शारीरिक यौन-चित्रण भी उचित नहीं कहा जा सकता। श्रृंगार रस ही नहीं, अपितु अन्य रसों के सम्बन्ध में भी प्रकृत्यौचित्य पहली शर्त होती है।

(ख) ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त कथा के भी रस के प्रतिकूल अंशों को त्याग देना चाहिए और अभीष्ट रसानुकूल नवीन कल्पना करके कथा का संस्कार—प्रबन्ध-

गत रस के दूसरे हेतु के रूप में आनन्दवर्द्धन यह कहते हैं कि इतिहास-प्रसिद्ध कथा में इस प्रकार की परिकल्पनाओं का समावेश उचित है जिनसे रसोत्कर्ष की सम्भावना हो। यही नहीं, यदि ऐतिहासिक कथा में कतिपय स्थल रस के विपरीत हों तो उनका त्याग करके ऐसी परिकल्पना कर लेनी चाहिए जिससे रसोत्कर्ष होता हो। केवल इतिहास का ही अक्षरशः अनुसरण करना पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इतिहास और काव्य में भेद होता है। इतिहास ज्ञान की वृद्धि करता है जबकि काव्य एक प्रकार का अनूठा आनन्द भी प्राप्त कराता है। अतः केवल इतिवृत्तात्मक निष्ठा अर्थात् इतिहास की कथा को यथावत् अपना ने से काव्यानन्द की सृष्टि नहीं हो सकती।

(ग) केवल शास्त्रीय विधान के पालन से नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से ही सन्धि और संध्यांगों की रचना—प्रबन्धगत रसौचित्य के तीसरे हेतु का विवेचन करते हुए आनन्दवर्द्धन यह कहते हैं कि पाँचों सन्धियों और उनके उपांगों की योजना शास्त्रीय मर्यादा के निर्वाह की दृष्टि से नहीं अपितु रसोत्कर्ष की दृष्टि से की जानी चाहिए। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नामक पाँचों सन्धियों और उनके 64 अंगों की योजना रसोत्कर्ष की दृष्टि से की जानी चाहिए।

(घ) यथावसर रसों के उद्दीपन, प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान—प्रबन्धगत रसौचित्य के चौथे हेतु का विवेचन करते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि यथावसर रस के उद्दीपन और प्रशमन की योजना होनी चाहिए और जैसे ही रस का अपकर्ष होने लगे, उसे तत्काल सँभाल लेना चाहिए। काव्य में कई ऐसे स्थल आते हैं जहाँ रस विश्रान्त-सा होने लगता है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार, ऐसे ही दुर्बल स्थलों का उद्धार करना अर्थात् उनमें पुनः रसोत्कर्ष उत्पन्न करना आवश्यक है।

(ङ) रसानुरूप अलंकार योजना—प्रबन्धगत रसौचित्य का पाँचवाँ हेतु रसानुरूप अलंकार योजना होती है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार, कई बार कवि अलंकारों की योजना में इतने अधिक लीन हो जाते हैं कि उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि अलंकारों की एकमात्र सार्थकता रसोत्कर्ष में छिपी है। अलंकारों की चकाचौंध से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-रस होता है, अतः अलंकारों की योजना पूर्णतः रसानुरूप होनी चाहिए।

प्रबन्धगत रसौचित्य के इन पाँच हेतुओं का विवेचन करने के साथ-साथ आनन्दवर्द्धन ने अनौचित्य का भी सम्यक् विवेचन किया है। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार यह अनौचित्य वस्तुतः रस-विरोधी तत्त्व ही उत्पन्न करते हैं। निस्सन्देह औचित्य सम्बन्धी अवधारणा का विवेचन अनौचित्य अथवा रस-विरोधी हेतुओं के अभाव में पूर्ण नहीं कहा जा सकता, कदाचित् इसलिए आनन्दवर्द्धन ने रसौचित्य

के पाँच हेतुओं के साथ ही छः रस-विरोधी हेतुओं का भी विवेचन किया है जो निम्नानुसार है—

(च) **विरोधी रस से सम्बन्धित विभाव, अनुभाव, संचारी भाव का वर्णन**— इस प्रकरण में आनन्दवर्द्धन ने तीन प्रकार की सम्भावनाओं का विवेचन किया है जिनमें रस-भंग होता है। ये तीनों सम्भावनाएँ क्रमशः विरोधी रस के विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के वर्णन से सम्बन्धित हैं। जहाँ तक विरोधी रस के विभाव का प्रश्न है, रस-भंग की स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि किसी रस के विभावादि के वर्णन के तुरन्त बाद किसी विरोधी रस के विभावादि का वर्णन किया जाये। उदाहरण के लिए, शृंगार रस के विभावादि के वर्णन के पश्चात् शान्त रस के विभावादि का वर्णन करना अनुचित होगा। यही स्थिति विरोधी रस के अनुभावों के वर्णन की है। यदि कोई मानिनी नायिका अनुहार करने पर भी नहीं मानती है और यदि उसके न मानने पर नायक रौद्रानुभावों का प्रदर्शन करने लगे तो वह निश्चित रूप से अनुचित कहा जायेगा। विरोधी रस के संचारी भावों का वर्णन भी समान रूप से अनुचित होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई नायिका अपने प्रेमी के साथ परिणय का अपूर्व सुख भोग रही है और तभी किसी बात को लेकर दोनों में क्षण भर के लिए कलह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो ऐसी स्थिति में यदि वह नायिका वैराग्य-भाव से अपने दैन्य का प्रकाशन करने लगे तो वह अनुचित ही कहा जायेगा।

रस-भंग की दूसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि प्रस्तुत रस की विरोधी वस्तुओं का विस्तृत वर्णन किया जाये। उदाहरण के लिए, यदि प्रस्तुत रस के रूप में शृंगार रस का वर्णन चल रहा है तो अलंकारों का चमत्कार दिखाने के उद्देश्य से वनों और सरिताओं आदि का विस्तार से वर्णन करना अनुचित ही कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में, काव्य की सम्पूर्ण योजना प्रस्तुत रस के अनुरूप ही होनी चाहिए। इसी प्रकार रस-भंग की तीसरी स्थिति वह होती है जबकि अवसर न होने पर भी प्रस्तुत रस को विच्छिन्न कर दिया जाये अथवा अनावश्यक विस्तार वर्णन कर दिया जाये। उदाहरण के लिए, किसी महान् और पराक्रमी राजा द्वारा किये जा रहे युद्ध के वर्णन के बीच किसी भी उपयुक्त कारण के बिना शृंगार आदि के प्रसंगों का वर्णन अनुचित कहलायेगा। रस-भंग की एक अन्य सम्भावना तब होती है जबकि रस-परिपुष्टि होने के पश्चात् भी पुनः अकारण ही रस को उद्दीप्त किया जाता है। इसी प्रकार व्यवहारौचित्य के अभाव में भी रस-भंग हो जाता है। उदाहरण के लिए, युद्ध में प्रयाण करते हुए किसी शूरवीर की शौर्यता और पराक्रम सम्बन्धी हाव-भावों का वर्णन किये बिना ही उसे सीधे युद्ध में धकेल देना व्यावहारिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता और इस प्रकार रस-भंग की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार काव्य-वृत्तियों को विषयानुरूप प्रयोग न करने से भी रस-भंग की स्थिति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने अनौचित्य सिद्धान्त का विस्तार से विवेचन करके क्षेमेन्द्र के लिए उपयुक्त आधार भूमि तैयार कर दी थी। आनन्दवर्द्धन ने काव्य के विभिन्न अंगों में औचित्य के निर्वाह पर बल दिया और इस प्रकार औचित्य सिद्धान्त को एक अत्यन्त व्यापक आधार प्रदान किया। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में—"औचित्य सिद्धान्त को एक व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का समस्त श्रेय आनन्दवर्द्धन को ही है। उन्होंने काव्य के भिन्न-भिन्न अंगों में औचित्य की महत्ता पर पूर्ण प्रकाश डाला। क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्द्धन से ही संकेत, प्रेरणा और विचार-दिशा प्राप्त करके केवल स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में औचित्य का नवीन अभिधान किया।" इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्द्धन ने औचित्य सिद्धान्त को इतना व्यापक और सुदृढ़ आधार प्रदान कर दिया कि उनके समय के (9वीं-10वीं शताब्दी) अनेक विचारकों ने औचित्य को ही काव्य का सर्वस्व मानना आरम्भ कर दिया। औचित्य की महत्ता बहुत बढ़ गयी और काव्य के मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी औचित्य का निर्वाह मानी जाने लगी। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने ऐसे विचारकों का भ्रम-निवारण करते हुए अत्यन्त मौलिक ढंग से औचित्य का स्वरूप-विवेचन किया। यह निर्विवाद है कि औचित्य सम्बन्धी अवधारणा के स्वरूप का विश्लेषण करने में अभिनवगुप्त का सराहनीय योगदान है। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि औचित्य कोई स्वतन्त्र काव्यांग अथवा काव्य-तत्त्व नहीं है; वह काव्य की आत्मा भी नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार, काव्य का सर्वस्व तो रस ही है और औचित्य तो एक प्रकार का सम्बन्ध-विशेष है। यदि किसी काव्य में रस नहीं है तो केवल औचित्य के सफल निर्वाह के आधार पर ही उसे काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य की आत्मा रस ही है और वह रस ध्वनि का रूप लेकर प्रकाशित होता है, व्यक्त होता है अतः ध्वनि की महत्ता स्वतःसिद्ध है। औचित्य तो वस्तुतः रस की सत्ता का ही प्रमाण है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य के तीन अनिवार्य तत्त्व होते हैं—रस, ध्वनि और औचित्य।

इसी प्रसंग में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक का विवेचन भी उल्लेखनीय है। यद्यपि आचार्य कुन्तक को वक्रोक्ति-सिद्धान्त के जनक के रूप में ही जाना जाता है तथापि उन्होंने वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों के विवेचन में औचित्य के निर्वाह की बात आग्रहपूर्वक कही है। कुन्तक के मतानुसार काव्य का प्राण-तत्त्व तो वक्रता ही है किन्तु वक्रता का मूल आधार औचित्य ही है। कुन्तक के शब्दों में, 'उचिताभिधानजीवितत्वाद्' अर्थात् उचित अर्थात् यथानुरूप कथन अथवा वक्रता ही जीवन है। इस प्रकार कुन्तक ने काव्य-गुणों का विवेचन करते हुए औचित्य गुण की सर्वोपरि महत्ता मुक्त कंठ से स्वीकार की है। कुन्तक के अनुसार प्रत्येक मार्ग में दो

सामान्य गुणों के अतिरिक्त चार विशेष गुण भी होते हैं। सामान्य गुण हैं—औचित्य और सौभाग्य। ये दोनों गुण तीनों मार्गों में अनिवार्यतः रहते हैं। वक्रोक्तिकार के शब्दों में—

एतद् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते।'

अर्थात् इन तीनों मार्गों में दो सामान्य गुण अर्थात् औचित्य और सौभाग्य पद, वाक्य तथा पूर्ण प्रबन्ध में व्यापक और उज्ज्वल रूप में स्थित रहते हैं। इस प्रकार आचार्य कुन्तक के अनुसार औचित्य काव्य का एक अनिवार्य गुण है। यही नहीं, कुन्तक ने वक्रता के विभिन्न भेदों-उपभेदों का विवेचन करते हुए भी औचित्य के निर्वाह पर बल दिया है। उदाहरण के लिए, वर्ण-विन्यास वक्रता का विवेचन करते हुए आचार्य कुन्तक कहते हैं—

'वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः।
शिष्टाश्चराविसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्य शोभिनः।'

अर्थात् वक्रतापूर्ण वर्ण-योजना अनिवार्यतः प्रस्तुतौचित्य-शोभिनी होती है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि वाक्य का वर्ण-विन्यास प्रस्तुत प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, उससे अलग हटकर नहीं। इसी प्रकार पदपूर्वार्द्धवक्रता और प्रत्यय-वक्रता के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत कुन्तक ने औचित्य की चर्चा की है। पदपूर्वार्द्ध-वक्रता के अन्तर्गत पर्याय-वक्रता, विशेषण-वक्रता, वृत्ति-वक्रता तथा लिंग-वक्रता आदि उपभेदों का मूल आधार औचित्य ही है। इसी प्रकार प्रत्यय-वक्रता के कारक 'वक्रता, पुरुष-वक्रता, संख्या-वक्रता, काल-वक्रता तथा उपग्रह-वक्रता आदि विभिन्न उपभेदों में भी औचित्य की अनिवार्यता सिद्ध की गयी है। इसी प्रकार कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता का विवेचन करते हुए भी औचित्य की महत्ता सिद्ध की है।

इस क्रम में कुन्तक के पश्चात् रसवादी आचार्य महिमभट्ट का नाम उल्लेखनीय है जिनके मतानुसार रसात्मक काव्य में अनौचित्य का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं हो सकता। महिमभट्ट के शब्दों में, 'रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौचित्य संस्पर्शः संभाव्यते', अर्थात् रसात्मक काव्य में अनौचित्य का संस्पर्श हो ही नहीं सकता। महिम-भट्ट ने अनौचित्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि जहाँ रस की प्रतीति नहीं होती, वहाँ अनौचित्य होता है। महिमभट्ट के मतानुसार यह अनौचित्य भी दो प्रकार का होता है—अर्थ-विषयक अनौचित्य तथा शब्द-विषयक अनौचित्य। अर्थ-विषयक अनौचित्य के अन्तर्गत रस, भाव आदि से सम्बन्धित अनौचित्य आता है और क्योंकि रस, भाव आदि काव्य के अन्तरंग तत्त्व होते हैं अतः महिमभट्ट ने इस प्रकार के अर्थ-विषयक अनौचित्य को अन्तरंग औचित्य का नाम दिया है। इसके विपरीत शब्द-विषयक औचित्य का क्षेत्र काव्य का बहिरंग ही होता है, अतः शब्द-विषयक अनौचित्य को बहिरंग अनौ-चित्य कहा गया है। स्वभावतः अन्तरंग अनौचित्य को काव्य का प्रमुख दोष स्वीकार किया गया है।

औचित्य सिद्धान्त की इस आधारभूमि के पश्चात् आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी विवेचन पर विचार किया जा सकता है। आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी विवेचन पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्टतः समझ लिया जाना चाहिए कि क्षेमेन्द्र को औचित्य सिद्धान्त के उद्भावक का गौरवपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता और उन्हें केवल इसी बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने औचित्य सम्बन्धी अवधारणा को लेकर उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये चिन्तन-विवेचन को एक व्यवस्थित रूप दिया। जैसा कि पहले निवेदन किया जा चुका है कि क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि के एतद्विषयक चिन्तन का अत्यधिक ऋणी है। निस्सन्देह आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के प्रश्न पर मौलिक ढंग से विचार किया और उसकी सर्वोपरि महत्ता सिद्ध की। क्षेमेन्द्र के सामने औचित्य सम्बन्धी अवधारणा को एक व्यवस्थित रूप देने का प्रश्न था। औचित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं—

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तद्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते।'

अर्थात् जिसके जो अनुरूप है, उसे उचित कहते हैं। तथापि क्षेमेन्द्र यह नहीं मानते कि औचित्य को काव्य की आत्मा का गौरवपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। वस्तुतः क्षेमेन्द्र मूलतः एक रसवादी आचार्य हैं और वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि काव्य की आत्मा तो रस ही है और औचित्य तो रस का जीवित ही है। क्षेमेन्द्र के अनुसार—

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।'

अर्थात् मैं अलंकार और गुण-दोषों का विवेचन करने के पश्चात् आनन्दानुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाले तथा रस के जीवितभूत (अर्थात् जीवन) औचित्य तत्त्व पर विचार करता हूँ। क्षेमेन्द्र के अनुसार, काव्य का प्राण-तत्त्व रस-भाव आदि होते हैं और जिस काव्य में रस अथवा भाव आदि में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न हो जाता है वह काव्य अपने मूल प्रयोजन से भ्रष्ट हो जाता है। क्षेमेन्द्र के मतानुसार गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि विभिन्न काव्यांगों की योजना ऐसी होनी चाहिए कि वे सभी मिलकर रसास्वादन में सहायक हों। यदि इन काव्यांगों की योजना दोषपूर्ण होगी तो रसास्वादन में व्याघात उत्पन्न होगा और ऐसा काव्य आदर्श काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकेगा। रसास्वादन का आशय यही होता है कि पाठक अथवा श्रोता के हृदय में आलोच्य काव्यकृति अथवा नाटक के प्रति आस्था उत्पन्न हो और उसका मन सहज ही प्रशंसा कर उठे। यह आस्था तभी उत्पन्न होगी जबकि कवि की अभिव्यक्ति सहज और स्वाभाविक लगे। यदि कवि ने कल्पना का भी आश्रय लिया हो तो वह कल्पना ऐसी होनी चाहिए जो कि लोकसम्मत हो। दो शब्दों में कहा जा सकता है कि क्षेमेन्द्र के मतानुसार काव्य के अलंकार आदि तत्त्वों की योजना ऐसी होनी चाहिए कि सम्पूर्ण

काव्यकृति नितान्त सहज और स्वाभाविक प्रतीत हो। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विवेचन करते हुए वस्तुतः औचित्य और रस, भावादि के साथ औचित्य के सम्बन्धों का ही विवेचन किया है। काव्य के विविध अंगों के साथ औचित्य का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैं—

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणाश्चारुचर्वणे
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।
काव्यस्यालंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितवौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।
अलंकारस्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्यस्थिरं काव्यस्यजीवितम्।
उचितस्थानविन्यासादलकं तिग्लङ्कृतिः।
औचित्यावच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥'

अर्थात् काव्य का चमत्कार और चारुता तथा औचित्य में कार्य-कारण सम्बन्ध है। औचित्य कारण है और चमत्कार तथा चारुता कार्य हैं जो कि औचित्य नामक कारण से उत्पन्न होते हैं। काव्य के अन्य तत्त्व जैसे कि रस, अलंकार, गुण आदि का तो जीवन ही औचित्य है। रस के अतिरिक्त अन्य काव्य-तत्त्वों के साथ औचित्य का सम्बन्ध शरीर तथा शरीरी का-सा सम्बन्ध है और रस एवं औचित्य का सम्बन्ध आत्मा और जीव का सम्बन्ध है। काव्य में अलंकारों का महत्त्व अलंकारों तक और गुणों की महत्ता गुणों तक होती है, किन्तु औचित्य तो रससिद्ध काव्य की स्थिर जीवन-शक्ति है। अलंकारों का अलंकारत्व उन्हें उचित स्थान पर रखने में है अर्थात् अलंकारों के प्रयोग में औचित्य का निर्वाह होना चाहिए अन्यथा काव्य-गुण भी गुण नहीं रहते। इसी प्रसंग में क्षेमेन्द्र यह भी कहते हैं कि यदि अलंकारों और गुणों के प्रयोग में औचित्य की उपेक्षा की जाती है तो यही गुण, अलंकारादि काव्य की शोभावृद्धि करने के स्थान पर उसे हास्यास्पद बना देते हैं। अलंकारो की सार्थकता उनके उचित प्रयोग पर ही निर्भर करती है। अलंकारों आदि के अनुचित प्रयोग के कारण उत्पन्न होने वाली हास्यास्पद स्थिति का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि—

'कण्ठे मेखलया नितम्बफल के तारेण हारेणवा,
पाणो नूपुर-बंधनेन चरणे केयूर-पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ का करुणया नायन्ति'के हास्यताम्।
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।'

अर्थात् गले में मेखला, कटि में हार, हाथों में नूपुर तथा पैरों में पहनने और शरणागत के शौर्य दिखाने तथा शत्रु के प्रति करुणा का प्रदर्शन करने से किसकी नहीं उड़ती। औचित्य के बिना न तो अलंकार ही रुचिकर होते हैं और न गुण। उपर्युक्त उदाहरण द्वारा क्षेमेन्द्र वस्तुतः औचित्य सम्बन्धी अवधारणा की व्यावहारिक

उपादेयता की ओर भी इंगित करते हैं। इस प्रकार क्षेमेन्द्र की दृष्टि में अलंकारों और गुणों आदि के प्रयोग में औचित्य की उपेक्षा केवल हास्यास्पद ही हो सकती है।

औचित्य के भेद-उपभेद आदि—पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त कुन्तक तथा आनन्दवर्द्धन आदि के एतद्‌विषयक चिन्तन से अत्यधिक प्रवाहित है। जिस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति का विस्तार काव्य में वर्ण आदि से लेकर सम्पूर्ण प्रबन्ध तक दिखाया है, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य सम्बन्धी अवधारणा को अत्यन्त व्यापक आधार प्रदान किया है। औचित्य की स्थिति काव्य के सभी तत्त्वों आदि में होती है। क्षेमेन्द्र के शब्दों में—

'पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे, गुणे अलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुलव्रते।
तत्त्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।
प्रतिभायां अवस्थायां विचारे नाम्नि अथाऽशिषि।
काव्यस्याऽङ्गेषु च प्राहुर औचित्यं व्यापिजीवतम्।'

उपर्युक्त पंक्तियों में क्षेमेन्द्र ने 27 प्रकार के मुख्य औचित्य भेदों का वर्णन किया है जो कि इस प्रकार हैं—पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद। यही नहीं, क्षेमेन्द्र ने अन्तिम पंक्ति में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि काव्य के अवशिष्ट अंगों के प्रसंग में भी इसी प्रकार का औचित्य भेद किया जा सकता है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र के मतानुसार, औचित्य के केवल यही 27 भेद नहीं होते, और भी अनेक भेद हो सकते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से औचित्य के इन 27 भेदों को वर्गीकृत किया जा सकता है। विद्वानों ने इन 27 भेदों को चार मुख्य वर्गों में रखा है जो कि निम्नानुसार हैं :—

(क) **भाषा तथा शैलीगत औचित्य**—इस वर्ग के अन्तर्गत व्याकरण सम्बन्धी औचित्य भेदों को परिगणित किया जा सकता है। इस वर्ग के औचित्य भेदों में—क्रियौचित्य, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल आदि का औचित्य, पद-औचित्य, वाक्य-औचित्य, वृत्त अर्थात् छंद-औचित्य, गुण-औचित्य, अलंकार-औचित्य, स्वभाव-औचित्य, नाम अर्थात् शब्द-औचित्य, आशीष-वचन अर्थात् अर्थ-औचित्य आदि 17 प्रकार के औचित्य भेद परिगणित किये जा सकते हैं।

(ख) **रचना-विधानौचित्य**—इस औचित्य वर्ग के अन्तर्गत केवल प्रबन्ध-औचित्य ही आता है।

(ग) **विषय-औचित्य**—विषय-औचित्य एक व्यापक औचित्य वर्ग है जिसके अन्तर्गत तीन और उपवर्गों को रखा गया है। पहले उपवर्ग में रसौचित्य रखा जा

सकता है। विचार-औचित्य नामक दूसरे उपवर्ग में विचार-औचित्य, तत्त्व-औचित्य तथा सार-संग्रह-औचित्य आते हैं। तीसरा उपवर्ग व्यवहार-औचित्य का है जिसके अन्तर्गत देश-औचित्य, कुल-औचित्य, व्रत-औचित्य, सत्व-औचित्य तथा अवस्था-औचित्य—ये पाँच प्रकार के औचित्य परिगणित किये जा सकते हैं।

(घ) **कल्पना-औचित्य**—इस उपवर्ग के अन्तर्गत प्रतिमा औचित्य आता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य सिद्धान्त और औचित्य के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण करते हुए कई उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें अनेक स्थलों पर भ्रान्तियाँ दीखती हैं। इस प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण उदाहरण की एक बानगी निम्नानुसार है—

"यह बन्दर अस्तबल से भागकर राजगृह में घुस रहा है। अधकटी सोने की सांकल इसके गले में लटककर घिसट रही है। द्वारों को लांघता है तो हेला से उछलते समय चलायमान चरणों में किंकिणियों का समूह बज उठता है। अंगनाएँ आतंकित हो गयी हैं। सईस लोग संभ्रम से उसके पीछे दौड़ रहे हैं। हिजड़े लज्जा न करते हुए भाग गये क्योंकि उनकी तो मनुष्यों में गणना ही नहीं थी। वामन लोग अपने आकार का लाभ उठाकर कंचुकियों के कंचुकों के अन्दर घुस रहे हैं। किरात लोग दूर किनारों पर जा खड़े हुए हैं और कुबड़ियाँ धीरे-धीरे से नीचे आ रही हैं कि कोई देख न ले।" आचार्य क्षेमेन्द्र ने उपर्युक्त उदाहरण भयानक रस की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए प्रस्तुत किया है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अन्तःपुर के कंचुकी, वामन और कुब्जाओं के लिए बन्दर के तीखे दाँतों से आतंकित होना स्वाभाविक ही है। बन्दर के भय से इन सबका हड़बड़ाकर भाग उठना भयानक रस के सर्वथा अनुरूप है। वस्तुतः भयानक रस का उपर्युक्त उदाहरण सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि इस सारे प्रसंग से पाठक में भय का नहीं, हास्य का उद्रेक होता है। अस्तबल से छूटा हुआ एक बन्दर सारे अन्तःपुर को आतंकित नहीं कर सकता।

औचित्य का व्यापक क्षेत्र—औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। केवल काव्य अथवा साहित्य में ही नहीं, लोक-व्यवहार में भी औचित्य का अपना अलग महत्त्व है। सामान्य लोक-व्यवहार में भी जहाँ कहीं औचित्य का उल्लंघन होता है, वह सभी को अखरता है। समाज में वही व्यक्ति आदर और सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी होता है जो कि नीति-अनीति और पाप-पुण्य का उचित विवेक रखता हो और तदनुसार आचरण करता हो। यही नहीं, सौंदर्य की अवधारणा का भी मूल आधार औचित्य ही है। लोक-व्यवहार में केवल गौर वर्ण वाली नायिका को सुन्दर नहीं कह सकते और इसी प्रकार पुष्प को भी केवल इसीलिए सुन्दर नहीं कहा जा सकता कि उसकी पंखुड़ियाँ कोमल हैं अथवा उसका रंग मनमोहक है। कोई भी वस्तु तभी सुन्दर होती है जबकि उसके अंग-प्रत्यंगों की योजना औचित्यपूर्ण हो। कदाचित् इसीलिए सौंदर्य और औचित्य का अनिवार्य सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। केवल लोक व्यवहार में ही नहीं अपितु साहित्य अथवा काव्य में भी सौंदर्य का महत्त्व होता है, अतः

काव्य में औचित्य की महत्ता स्वतः स्पष्ट है। कोई भी काव्यकृति तभी सुन्दर कही जा सकती है जबकि उसके अंगों-प्रत्यंगों की सम्पूर्ण योजना में औचित्य का सम्यक् निर्वाह हुआ हो। जहाँ कहीं औचित्य की उपेक्षा हो जाती है अथवा की जाती है, वहीं दोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः औचित्य अपने आप में एक ऐसी दृष्टि अथवा विवेक है जो कि काव्य के विभिन्न अंगों-उपांगों के उचित-अनुचित प्रयोग का निर्धारण करती है। उचित-अनुचित का विवेक किसी भी कवि अथवा कलाकार के लिए आवश्यक है। काव्य अथवा कला की बात छोड़िये, संसार के किसी भी क्रियाकलाप में उचित-अनुचित की विवेक दृष्टि आवश्यक है। पाप-पुण्य भले-बुरे कार्यों के मूल में यही औचित्य दृष्टि कार्यरत होती है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि यह औचित्य दृष्टि मानव स्वभाव की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। उचित-अनुचित की विवेक दृष्टि मनुष्य में बराबर बनी रही है। कला अथवा साहित्य का विकास बाद में हुआ है, उचित-अनुचित का विवेक मनुष्य में सृष्टि के आरम्भ से चला आ रहा है। जिस प्रकार किसी भौंड़ी आकृति को देखकर मनुष्य सहज ही नाक-मुंह सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार किसी सुन्दर आकृति को देख-देखकर वह अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है। उसकी ये दोनों प्रतिक्रियाएँ कितनी सहज और स्वाभाविक हैं, यह स्वतः सिद्ध है। वस्तुतः उसकी ये प्रतिक्रियाएँ अर्थात् एक के प्रति घृणा, उपेक्षा का भाव और दूसरे के प्रति आकर्षण का अथवा प्रशंसा का भाव उसकी औचित्य बुद्धि का ही परिचायक है। सभी दृष्टियों से औचित्यपूर्ण वस्तु के प्रति मनुष्य का आकर्षण सहज और स्वाभाविक होता है। ठीक यही स्थिति काव्य अथवा साहित्य की भी है। यदि काव्य के विभिन्न अंगों-उपांगों की योजना औचित्यपूर्ण ढंग से हुई है तो पाठक स्वतः ही उसकी प्रशंसा कर उठेगा और इसके विपरीत यदि किन्हीं काव्यांगों का अत्यधिक प्रदर्शन और अन्य की उपेक्षा हुई है तो पाठक भी स्वभावतः उसमें दोष-दर्शन ही कर पायेगा।

औचित्य और साहित्य—क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर साहित्य अथवा काव्य में औचित्य के स्थान को लेकर पाँच महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहली बात तो यह कि औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसके अन्तर्गत केवल काव्य ही नहीं साहित्य की सभी विधाओं पर विचार किया जा सकता है। काव्य, नाटक, कहानी, प्रबन्धक, मुक्तक—साहित्य की इन सभी विधाओं में औचित्य का निर्वाह एक अनिवार्य शर्त है। औचित्य के अभाव में साहित्य की कोई भी विधा आकर्षक अथवा हृदय को स्पर्श करने वाली नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि औचित्य की नित्य-स्थिति केवल साहित्य की इन विभिन्न विधाओं में ही नहीं अपितु प्रत्येक विधा के अंगों-उपांगों में भी होती है। उदाहरण के लिए, काव्य के कई तत्त्व होते हैं—रीति, गुण, वृत्ति,

अलंकार आदि और इन सभी तत्त्वों में औचित्य की अनिवार्य स्थिति होती है। तीसरी बात यह कि जहाँ तक काव्य में औचित्य के स्थान का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में प्रायः मतैक्य ही है कि काव्य की आत्मा रस है, औचित्य उसे चिरस्थायी जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र के अनुसार रस तो काव्य का प्राण रूप तत्त्व होगा जिससे काव्य की सिद्धि होती है और औचित्य उसकी स्थिरता का द्योतक जीवन-तत्त्व कहलायेगा। चौथी बात यह है कि औचित्य की स्थिति केवल साहित्य की विधाओं के अंगों-उपांगों में ही नहीं अपितु उन अंगों-उपांगों का नियोजन करने वाले साहित्यकार के मानस में भी होती है। इस प्रकार औचित्य कवि-मानस में भी स्थायी रूप से विद्यमान रहता है। पाँचवीं और अन्तिम बात यह है कि उचित-अनुचित की विवेक दृष्टि केवल कवि अथवा साहित्यकार में ही नहीं अपतु उसकी काव्य-कृतियों का मूल्यांकन करने वाले आलोचक में भी होती है। आलोचक भी अपनी इसी विवेक दृष्टि के बल पर काव्य-निर्णय करता है और इस प्रकार आलोचक के मानस में भी औचित्य दृष्टि स्थायी रूप से रहती है। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि औचित्य की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है और वह पाँच महत्त्वपूर्ण स्थलों में स्थायी रूप से वास करती है। अन्यथा भी किसी काव्यकृति के समग्र मूल्यांकन के प्रसंग में इन्हीं पाँच दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। ये पाँच दृष्टियाँ इस प्रकार हैं—काव्य-कृति, काव्यांग, काव्य की आत्मा, कवि और आलोचक।

औचित्य सिद्धान्त और रस—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की आत्मा रस है और रस को स्थिरता प्रदान करने वाला जीवन-तत्त्व औचित्य है। पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य, काव्य के विभिन्न अंगों, काव्य की रचना करने वाले कवि, काव्य का मूल्यांकन करने वाले आलोचक तथा काव्य की आत्मा रस—इन सभी में औचित्य की नित्य स्थिति बनी रहती है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या औचित्य अपने आप में एक स्वतन्त्र और नियामक तत्त्व है जो कि काव्य के आत्मा-रूप रस-भाव आदि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। कदाचित इसी आधार पर विद्वानों के एक वर्ग ने औचित्य को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया है। इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार काव्य के सभी अंगों में—भाव, भाषा, रूप, रस, रीति, गुण, अलंकार आदि में औचित्य की नित्य-स्थिति होती है और वही एक ऐसा तत्त्व है जिसका इन सभी काव्यांगों में समान महत्त्व रहता है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि औचित्य की महत्ता भी तभी है जबकि रस की सिद्धि हो चुकी है अथवा यूँ कहा जा सकता है कि जिस काव्य में रस नहीं है, वह औचित्य के बल पर ही काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। वस्तुतः औचित्य काव्य का, काव्य के विभिन्न अंगों का, उसके सम्पूर्ण विधान का होता है किन्तु काव्य, उसके अंग, उसका सम्पूर्ण विधान—सभी की एकमात्र कसौटी सौंदर्य-प्रतिष्ठा का मूल आधार रस ही है। अतः रस ही काव्य की आत्मा है और उसी के

भीतर काव्य के सभी तत्त्व समाहित हो जाते हैं, यहाँ तक कि औचित्य भी रस के भीतर ही समा जाता है। क्षेमेन्द्र के अनुसार, औचित्य ही रस की आत्मा अर्थात् 'रसजीवित भूतस्य' है।

औचित्य का विवेक कवि के लिए ही नहीं, आलोचक के लिए भी अपेक्षित है। कवि के पास ऐसी औचित्य दृष्टि अवश्य होनी चाहिए कि उसकी रचनाओं के प्रति पाठक के मन में आस्था उत्पन्न हो सके। निस्सन्देह यह औचित्य दृष्टि काव्य की सृजन-प्रक्रिया के आरम्भिक क्षणों में भी अपेक्षित होती है। काव्य का सृजन अपने आप में रसानुभूति की एक योजना होती है जिसकी पहली शर्त औचित्य विवेक होता है। यदि रसानुभूति की इस योजना में औचित्य का अभाव रह जाता है तो वह योजना निश्चित रूप से दोषपूर्ण-हो जायेगी। कवि की भाँति ही काव्यकृति का मूल्यांकन करने वाले आलोचक के पास भी औचित्य विवेक होना आवश्यक है। रस और औचित्य का सम्बन्ध समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है। भगवान् रामचन्द्र को मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से स्मरण किया जाता है किन्तु क्या केवल मर्यादा को पुरुषोत्तम कह सकते हैं ? निस्सन्देह नहीं, मर्यादा कभी भी पुरुषोत्तम नहीं हो सकती, तथापि पुरुषोत्तम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। मर्यादा तो पुरुषोत्तम के साथ संपृक्त है किन्तु पुरुषोत्तम नहीं है। ठीक इसी प्रकार औचित्य रस से संपृक्त होता है, फिर भी रस का पर्याय नहीं है। औचित्य का स्वरूप-विवेचन करते हुए एक आलोचक कहते हैं : "अतः रस पर औचित्य को वरीयता तो नहीं दी जा सकती, न ही वरीयता देने का कोई प्रश्न है क्योंकि औचित्य कोई काव्यांग विशेष नहीं है—रस, अलंकार आदि की तरह यह कोई विधानात्मक तत्त्व नहीं है। यह तो सब काव्यांगों की मर्यादा है। न यह कान, नाक, ओठ की तरह शरीरांग है, न प्राण आत्मा आदि की तरह जीवित ही है, यह तो सबमें व्याप्त रहने वाली मर्यादा है, दृष्टि है। इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। रस है तो औचित्य है, अलंकार है तभी उसके औचित्य का प्रश्न होगा, यदि रस-अलंकार ही नहीं तो औचित्य कहाँ से आयेगा ?" अतः यह स्पष्ट है कि औचित्य का होना रस अलंकार आदि पर निर्भर करता है। रस, ध्वनि, अलंकारों के अभाव में औचित्य की बात करना सर्वथा अर्थहीन है।

औचित्य के भेदों का संक्षिप्त परिचय

(क) **भाषा-शैलीगत औचित्य**—औचित्य के इस भेद के अन्तर्गत क्षेमेन्द्र ने 17 प्रकार के औचित्यों की गणना की है। तथापि इसके मुख्यतः पाँच उपभेद किये जा सकते हैं—भाषा-औचित्य, पदरचना-औचित्य, अलंकार-औचित्य वर्णवृत्ति-औचित्य तथा वृत्ति अथवा छंद-औचित्य।

(1) **भाषा-औचित्य**—इसके अन्तर्गत भाषा के प्रयोग में औचित्य के निर्वाह पर बल दिया जाता है। कवि को अपनी कविता का प्रत्येक शब्द, वाक्य आदि में अनुरूपता की रक्षा करनी चाहिए और भावों की समर्थ अभिव्यंजना के लिए उचित

शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। भाषा के औचित्य में भाषा की अनेक विशेषताओं का समावेश हो जाता है जैसा कि प्रवाहात्मकता, भावानुरूपता, पात्रानुकूलता, स्वाभाविकता, सुबोधता, प्रभावात्मकता, आदि। भाषा का प्रयोग एक व्यापक अवधारणा है और क्रिया, कारक, लिंग, वचन आदि के औचित्य इसी भाषा-औचित्य के अन्तर्गत आते हैं।

(2) **पद-रचना औचित्य**—इस प्रकार के औचित्य को संघटना औचित्य भी कहते हैं। वस्तुतः संघटना अथवा पद-रचना ही काव्य-रीति होती है। काव्य-रीतियों का विवेचन करते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन दो महत्त्वपूर्ण बातें कहते हैं—एक तो यह है कि पद-रचना अथवा काव्य-रीति का मूल आधार गुण होते हैं और दूसरी यह कि वह रसों की अभिव्यंजना करने वाली होती है। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में—

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसांस्तान्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्योः।

इसी प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्द्धन यह भी कहते हैं कि पद-रचना पूर्णतः रस के अनुरूप होनी चाहिए ताकि वह रसोत्कर्ष में सहायक सिद्ध हो सके। इसी क्रम में आनन्दवर्द्धन ने पद-रचना अथवा रीति का विवेचन करते हुए यह भी कहा है कि रीति पात्रों के अनुरूप होनी आवश्यक है। पात्रों को सजीव और सशक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी भाषा भी उन्हीं के अनुरूप हो। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि पद-रचना अथवा रीति प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप भी होनी चाहिए। यदि प्रतिपाद्य विषय शृंगार से सम्बन्धित है तो उसकी रीति भी तदनुरूप होनी चाहिए। किसी प्रेम-मग्ना नायिका के मुख से शान्त रस के अनुरूप शब्दों का उच्चारण केवल हास्यास्पद ही लग सकता है। इस सम्बन्ध में तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रीति अथवा पद-रचना का प्रयोग साहित्य की विधा के अनुरूप किया जाना चाहिए। काव्य, नाटक, कहानी और उपन्यास—साहित्य की इन विभिन्न विधाओं के लिए उनके अनुरूप ही रीति का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। कदाचित् इसी आधार पर आनन्दवर्द्धन ने गद्य के लिए समासबहुला पदावली और नाटक के लिए सरल और समास रहित पदावली के प्रयोग पर बल दिया है।

भोज ने भी शैलीगत औचित्य का विवेचन करते हुए विचारात्मक विषयों के लिए गद्य को ही सर्वाधिक उपयुक्त शैली घोषित किया है। भोज के मतानुसार गम्भीर और शास्त्रीय विषयों के विवेचन के लिए गद्य ही सर्वाधिक उपयुक्त शैली हो सकती है। दूसरी ओर कोमल भावों की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए पद्य का प्रयोग श्रेयस्कर होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्दवर्धन, भोज आदि काव्याचार्यों ने रीतियों के प्रयोग में विविध प्रकार के औचित्यों के निर्वाह की बात कही है। कुन्तक ने भी रीतियों का विवेचन करते हुए औचित्य के निर्वाह

की बात आग्रहपूर्वक कही है और उनके मतानुसार औचित्य रीति का एक नित्य गुण होता है। निस्सन्देह प्रत्येक प्रकार के विषय की अभिव्यक्ति के लिए तद्नुरूपी रीति का प्रयोग वांछनीय है।

(3) अलंकार-औचित्य—इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतैक्य है कि अलंकार काव्यगत सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करते हैं और उनके उचित प्रयोग से काव्य की शोभा देखते ही बनती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न काव्याचार्यों ने घुमा-फिराकर वस्तुतः एक ही बात कही है और वह है—अलंकारों की योजना रस के अनुकूल होनी चाहिए और उनका प्रयोग तभी सार्थक है जबकि उन्हें अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में रखा गया हो। अलंकारों के प्रयोग में तो औचित्य के निर्वाह की बात और भी अधिक सार्थक हो जाती है क्योंकि अलंकारों का अनुचित प्रयोग काव्य का बहुत अधिक अहित करता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग काव्य का शोभाकारक नहीं हो सकता। अतः कवियों को रस-प्रसंग की उपेक्षा करके अलंकारों का मनमाना प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्षेमेन्द्र के अनुसार, काव्य का प्राण-तत्त्व रस है और किसी भी स्थिति में इस प्राण-तत्त्व की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। अलंकारों का वही प्रयोग सार्थक हो सकता है जो कि उस प्राण-तत्त्व अर्थात् रस के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हो। अलंकारों के उचित प्रयोग के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने भी विस्तार के साथ विचार किया है और उन्होंने अलंकार-औचित्य की दो कसौटियाँ निर्धारित की हैं—पहली तो यह कि अलंकारों का प्रयोग तभी सार्थक होगा जबकि अलंकार्य की स्वतन्त्र सत्ता हो और दूसरी यह कि अलंकार्य का औचित्य सिद्ध हो। अलंकारों का कार्य अलंकरण करना होता है और जिस वस्तु का वे अलंकरण करते हैं उसे अलंकार्य कहते हैं। काव्य में रस, भाव आदि अलंकार्य होते हैं और रस ही काव्य का प्राण-तत्त्व होता है। यदि किसी काव्य में रस अथवा अलंकार्य ही नहीं है तो अलंकारों का प्रयोग नितान्त अर्थहीन होगा। अलंकार्य की अनुपस्थिति में अलंकार्य का प्रयोग ठीक उसी तरह का होगा जैसे कि किसी मृत युवती को आभूषणों से सजाना। दूसरी बात यह कि यदि अलंकार्य विद्यमान हों तो अलंकारों का प्रयोग विषयानुकूल होना चाहिए। काव्य में रस-भाव होने पर भी अलंकारों का प्रयोग विषयौचित्य के अनुरूप किया जाना चाहिए।

(4) वर्ण-वृत्ति औचित्य—वृत्ति-विवेचन में आनन्दवर्द्धन ने विषयौचित्य के निर्वाह पर अत्यधिक बल दिया है। यदि वृत्तियों का प्रयोग विषय के अनुरूप न होकर अन्यथा होगा तो काव्य में दोष की स्थिति अनिवार्यतः उत्पन्न हो जायगी। यही स्थिति वर्णों के प्रयोग में देखी जा सकती है। वर्णों का प्रयोग प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप होना आवश्यक है। ओज गुण की स्थिति में परम वर्णों का प्रयोग अत्यधिक रसानुकूल होता है और उसी प्रकार कोमल रस-भावादि के वर्णन के लिए माधुर्य गुण

युक्त मधुर वर्णों का प्रयोग रसोत्कर्ष में सहायक होता है। इसी प्रसंग में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक का विवेचन भी उल्लेखनीय है। कुन्तक के मतानुसार वृत्तियों का उचित प्रयोग रसोत्कर्ष में सहायक होता है। कदाचित् इसी आधार पर कुन्तक ने विषय और प्रसंग के अनुरूप वर्णों और वृत्तियों के प्रयोग पर बल दिया है।

(5) **वृत्ति अथवा छंद-औचित्य**—क्षेमेन्द्र ने विषयानुरूप वृत्तौचित्य तथा छंद योजना पर अत्यधिक बल दिया है।

(ख) **रचना-विधान औचित्य**—औचित्य के इस प्रकार को कथा अथवा घटना-औचित्य भी कहते हैं। कतिपय विद्वानों के मतानुसार कथा और घटना-औचित्य आदि का प्रबन्धौचित्य की व्यापक अवधारणा में समाहार हो जाता है। कथा का संघटन अथवा योजना रस के अनुकूल होनी चाहिए। कथा अथवा घटना-औचित्य पर विचार करते हुए यशोवर्मन कहते हैं कि कथा की योजना ऐसी होनी चाहिए कि प्रासंगिक कथाएँ मूल कथा की ही सहयोगी हों। प्रासंगिक कथाओं की बहुलता के कारण मूल कथा के आच्छादित हो जाने की सम्भावना रहती है और उस स्थिति में समूची कथा-योजना दोषपूर्ण कहलायेगी। गौण और महत्त्वहीन विषयों का अनावश्यक विस्तृत वर्णन सम्पूर्ण कथा के लिए अहितकारी होता है। अतः यशोवर्मन के मतानुसार कथा में पूर्वापर सम्बन्ध की रक्षा करते हुए उसका क्रमिक विकास वांछनीय होता है। इसी प्रकार की बात भट्ट लोल्लट ने भी कही है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार, महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन तो होना चाहिए किन्तु उसमें अत्यधिक विस्तार के कारण रस-भंग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भट्ट लोल्लट ने ऐसे कवियों की खुले शब्दों में निन्दा की है जो कि केवल ख्याति अर्जित करने के लिए वन, पर्वत, नदी, रथ, घोड़ों आदि का सविस्तार वर्णन करते हैं। भट्ट लोल्लट के शब्दों में—

'यस्तु सरिताद्रिसागर पुर तुरगरथादि-वर्णने यत्नः।
कविशक्ति ख्यातिफलः विततधियां नो मतः स इह।'

इसी प्रसंग में आनन्दवर्द्धन का विवेचन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके मतानुसार सम्पूर्ण कथा की योजना रसानुकूल होनी चाहिए। आनन्दवर्द्धन के अनुसार ऐतिहासिक परम्परा के रूप में प्राप्त कथाओं में भी रसोत्कर्ष के प्रयोजन से किंचित हेर-फेर किया जा सकता है। तथापि यह हेर-फेर केवल कथा को रसपूर्ण बनाने के लिए ही किया जाना चाहिए। निस्सन्देह इस प्रकार के हेर-फेर के लिए रसपूर्ण कल्पना का आश्रय लिया जा सकता है।

प्रबन्धौचित्य के सम्बन्ध में मम्मट ने भी मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। उन्होंने ऐसी स्थितियों का वर्णन किया है जहाँ प्रबन्धौचित्य की उपेक्षा किये जाने के कारण रस-भंग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् दोष उत्पन्न हो जाते हैं। मम्मट के अनुसार, अंग का अत्यन्त विस्तृत वर्णन कथा अथवा घटना के सम्पूर्ण

औचित्य के लिए घातक होता है। इस सम्बन्ध में मम्मट ने दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि कवि अथवा नाटककार को मूल कथा अथवा मुख्य पात्र के प्रति पूर्ण निष्ठावान रहना चाहिए। मूल कथा अथवा मुख्य पात्र को विस्मृत करने से सम्पूर्ण कथा-योजना दोषपूर्ण हो जायेगी। प्रबन्धौचित्य की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कवि अथवा नाटककार मूल कथा अथवा मुख्य पात्र के समुचित विकास के प्रति सदैव सचेत रहे। इसी क्रम में मम्मट ने तीसरी बात यह कही है कि कवि अथवा नाटककार को इस सम्बन्ध में बराबर जागरूक रहना चाहिए कि उसके पात्र, प्रसंग तथा परिस्थितियाँ आदि प्रकृति के अनुरूप हों। नाटक के पात्रों के स्वभाव अथवा क्रिया-कलापों में यथार्थता का होना आवश्यक है अन्यथा सहृदय के लिए उनमें कोई भी आकर्षण नहीं रह जायेगा। अतः मम्मट के अनुसार, नाटक की सम्पूर्ण कथा-योजना का विकास प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए। प्रबन्धौचित्य के अन्तर्गत अन्य कई प्रकार के औचित्यों को भी परिगणित किया जा सकता है जैसे कि संवादों का औचित्य, चरित्र-चित्रण का औचित्य, देशकाल-वातावरण का औचित्य आदि।

(ग) विषय-औचित्य—विषय-औचित्य एक व्यापक अवधारणा है जिसके अन्तर्गत मुख्यतः तीन प्रकार के औचित्य परिगणित किये जा सकते हैं—रसौचित्य, विचार-औचित्य तथा व्यवहार-औचित्य। इन तीन प्रकार के औचित्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(1) रस-औचित्य—अधिकांश काव्याचार्यों में इस सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य है कि काव्य की आत्मा रस होती है। वही काव्य सहृदय के मन को झकझोर सकता है जो कि रसपूर्ण हो। अतः काव्य के सभी तत्त्वों और अंगों आदि की योजना रस के अनुरूप होनी चाहिए। गुण, अलंकार, रीति आदि सारे काव्यांगों की सार्थकता केवल इसी एक बात में निहित है कि वे सब मिलकर काव्य को कितना रसयुक्त बना पाये हैं। रस-सामग्री के अन्तर्गत विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव आदि आते हैं और रस का उत्कर्ष वस्तुतः इन्हीं विभावादि के उचित प्रयोग पर आश्रित होता है। अतः रसौचित्य की दृष्टि से यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण रस-सामग्री अर्थात् विभाव, अनुभावादि अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में प्रकट हों।

(2) विचार-औचित्य—विचार-औचित्य के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काव्य के माध्यम से विचारों की अभिव्यंजना इतने रसपूर्ण ढंग से की जानी चाहिए कि काव्य वस्तुतः काव्य ही बना रहे और नीतिशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र का स्थान न ले ले। अतः यह आवश्यक है कि नैतिक और धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति रसभाव आदि के अंग रूप में हो, स्वतन्त्र रूप से दिये गये उपदेशों के रूप में नहीं। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि काव्य के माध्यम से ऐसे ही विचारों की अभिव्यंजना की जानी चाहिए जो कि जीवन की गहराई और ईमानदारी से संपृक्त हों। संकीर्णता अथवा धार्मिक कट्टरता से युक्त विचारों की अभिव्यंजना कुल मिलाकर अहितकर ही हो सकती है।

(3) **व्यवहार-औचित्य**—व्यवहार-औचित्य की एकमात्र कसौटी लोक-व्यवहार है; अतः काव्य में ऐसे प्रसंगों, व्यवहार अथवा आचरण आदि से बचना चाहिए जो कि उक्त कसौटी पर खरे न उतरते हों। यह निर्विवाद है कि असंभाव्य, अतिमानवीय तथा प्रकृतिविरुद्ध प्रसंगों के प्रति सहृदय की कोई भी रुचि नहीं हो सकती। अतः यह आवश्यक है कि काव्य में वर्णित सभी प्रसंग, व्यवहार और आचरण आदि देशकाल अथवा युगानुरूप हों। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों, में "कवि को ध्यान रखना पड़ता है कि वह जिस देश, काल, वंश इत्यादि का वर्णन कर रहा है उसके औचित्य का सर्वथा निर्वाह किया जाये। यदि लोक के औचित्य का ध्यान नहीं रखा जायेगा तो काव्य सत्य की सीमा से च्युत होकर परिशीलकों के विराग का ही कारण बनेगा।"

समग्र आकलन—औचित्य एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है जिसका क्षेत्र सामान्य जीवन से लेकर काव्य और कला तक फैला हुआ है। जिस प्रकार लौकिक जीवन के क्षुद्रतम तथा महत्तम क्रिया-कलापों में औचित्य की अपेक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार काव्य के सभी छोटे-बड़े अंगों में औचित्य का निर्वाह आवश्यक है। जीवन के क्रिया-कलाप असंख्य होते हैं। इसी प्रकार काव्य के अनेकशः अंगों-उपांगों में औचित्य की नित्य-स्थिति मानी गयी है।

औचित्य सिद्धान्त की व्यापकता अशक्य है। काव्य के क्षेत्र में यह एक सार्वजनीन सिद्धान्त है जिसकी तनिक-सी उपेक्षा काव्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। भारतीय काव्यशास्त्र में ही नहीं, पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी औचित्य की अवधारणा को बहुत आदर प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से स्पिंगर्न, राबर्ट, ब्रिजेज, अरस्तू, लौंजाइनस तथा होरेस आदि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी काव्यशास्त्रियों ने किसी न किसी रूप में औचित्य के निर्वाह की बात आग्रहपूर्वक कही है।

काव्य में औचित्य का क्या स्थान है—यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि तर्कशास्त्रीय पद्धति के अनुसार जो तत्त्व सभी कार्यों का कारण कहला सकता है उसे किसी एक कार्य के कारण के रूप में नहीं जाना जा सकता। उदाहरण के लिए, इस सम्पूर्ण सृष्टि का नियामक ईश्वर को माना जाता है किन्तु ऐसा कभी नहीं कहा जाता कि ईश्वर ने नदी को जन्म दिया अथवा लेखनी का सृजन किया। ठीक इसी प्रकार औचित्य का क्षेत्र तो सर्वव्यापक है। लोक, शास्त्र, काव्य—सभी में औचित्य की अपेक्षा रहती है तो फिर वह एकमात्र काव्य का तत्त्व कैसे हो सकता है। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि औचित्य अपने आप में काव्य का एक स्वतन्त्र अंग होते हुए अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान का अधिकारी है। यदि रस को काव्य का प्राणतत्त्व मान लिया जाता है तो रस का मूल आधार औचित्य ही होगा।

6

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

काव्यशास्त्र के एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना दसवीं शताब्दी में आचार्य कुन्तक के हाथों हुई, तथापि वक्रोक्ति-सिद्धान्त अपने बीज रूप में कुन्तक से बहुत पहले विद्यमान था। दूसरे शब्दों में, वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना अचानक ही नहीं हो गयी अपितु उसके पीछे वक्रोक्ति की एक सुदीर्घ विचार-परम्परा अवश्य रही है। आचार्य कुन्तक से पूर्व बाणभट्ट, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट तथा ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन आदि ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया है, भले ही इन काव्यशास्त्रियों ने वक्रोक्ति का प्रयोग अपने-अपने विवेकानुसार नये-नये ढंग से किया हो। वक्रोक्ति का प्रयोग करने वाले भारतीय कवियों में बाणभट्ट सबसे पहले हैं जिन्होंने वक्रोक्ति को एक अत्यन्त व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए कहा, 'वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचय चतुरेण।' निस्सन्देह प्रस्तुत प्रसंग में बाणभट्ट ने वक्रोक्ति का अर्थ वाक्छलरूप शब्दालंकार के रूप में किया होगा, तथापि बाणभट्ट के मतानुसार वक्रोक्ति का अर्थ केवल शब्द-क्रीड़ा मात्र भी नहीं है और आगे चलकर उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।'

अर्थात् वक्रोक्ति-मार्ग अक्लिष्ट श्लेष और नवीन अर्थों से युक्त है और वह शब्द तथा अर्थ दोनों के चमत्कार से भी युक्त है।

वक्रोक्ति का विधिवत् विवेचन करने वालों में भी भामह सबसे पहले काव्यशास्त्री हैं। भामह ने वक्रोक्ति का सम्बन्ध केवल शब्द से ही नहीं अपितु शब्द और अर्थ दोनों के साथ माना है। भामह ने अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति को सारे अलंकारों का मूलाधार स्वीकार किया है और उनके मतानुसार इनके प्रयोग के बिना अर्थ-चमत्कार उत्पन्न हो नहीं हो सकता। वक्रोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए भामह कहते हैं—

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।'

अर्थात् वक्रोक्ति की स्थिति शब्द और अर्थ दोनों में होती है। आगे चलकर

भामह यह भी कहते हैं कि 'वाचा वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते' अर्थात् वक्रोक्ति का आशय शब्द और अर्थ की वक्रता से होता है। दूसरे शब्दों में, भामह के अनुसार शब्द और अर्थ की समन्वित वक्रता ही वक्रोक्ति कहलाती है। इसी प्रसंग में भामह ने अतिशयोक्ति का अर्थ भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है और इस क्रम में भामह ने वस्तुतः वक्रोक्ति के स्वरूप को ही और अधिक स्पष्ट किया है, अर्थात् अतिशयोक्ति का वर्णन करके भी भामह ने वक्रोक्ति का ही स्वरूप-विवेचन किया है। भामह के शब्दों में—

> 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
> मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा।
> इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
> सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्।

अर्थात् अतिशयोक्ति उस उक्ति अथवा कथन को कहते हैं जिसमें गुणों की अतिशयता विद्यमान हो और अतिशयता का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचर अर्थात् लोक सामान्य से वैचित्र्य। इस प्रकार अतिशयोक्ति का अर्थ हुआ लोक-सामान्य से वैचित्र्य उक्ति। इसी क्रम में भामह यह भी कहते हैं कि अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति होती है—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः'। इस प्रकार भामह के मतानुसार अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति पर्यायवाची अवधारणाएँ हैं, क्योंकि दोनों में ही लोकसामान्य से हटकर बात कही जाती है और कहने में एक प्रकार का वैचित्र्य अनिवार्यतः बना रहता है। बाद में कई विद्वानों तथा आचार्यों ने भामह द्वारा प्रतिपादित अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति का अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए कहा है कि अतिशयोक्ति में अतिशयता अर्थात् बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है, जबकि वक्रोक्ति में वक्रता अर्थात् बात को घुमा-फिराकर कहा जाता है। तथापि यह भेद-निरूपण भामह को स्वीकार नहीं था और कदाचित् इसी कारण उन्होंने अतिशयोक्ति और वक्रता को एक ही मानकर विवेचन किया है।

वक्रोक्ति सम्बन्धी विवेचन में भामह ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध किया है कि वक्रोक्ति सारी अलंकार-पद्धति का मूलाधार होती है। वक्रोक्ति के अभाव में काव्य में किसी भी प्रकार के अलंकारों की स्थिति नहीं हो सकती। भामह के शब्दों में—

> 'हेतुः सूक्ष्मोऽथलेशश्च नालङ्कारतया मतः।
> समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।'

अर्थात् वक्रोक्ति के अभाव में हेतु, सूक्ष्म, लेश अलंकार नहीं हो सकते। वक्रोक्ति के बिना काव्य काव्य नहीं केवल वार्ता ही रह जाता है। इस प्रकार भामह के अनुसार वक्रोक्ति का बहुत व्यापक आधार होता है और वही सब अलंकारों का मूल है। महाकाव्य, रूपक आदि सभी प्रकार के काव्यों में जो सौन्दर्य और चमत्कार दिखायी

देता है, वह वस्तुतः वक्रोक्ति अलंकार ही का चमत्कार है। जहाँ शब्द और अर्थ की वक्रता नहीं है वहाँ अलंकार कोई महत्त्व नहीं रखते। इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूण बातें कहीं—पहली तो यह कि वक्रोक्ति की मूलभूत विशेषता शब्द और अर्थ का वैचित्र्य होती है, दूसरी यह कि वक्रोक्ति के प्रयोग से अर्थ का विचित्र रूप से भावन होता है और तीसरी यह कि वक्रोक्ति सभी अलंकारों का मूल है और वक्रोक्ति के बिना काव्य में अलंकारत्व की स्थिति हो ही नहीं सकती। वक्रोक्ति एक मूलभूत काव्यगत विशेषता है।

भामह के पश्चात् दण्डी ने वक्रोक्ति का स्वरूप-विवेचन किया। उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य को दो मुख्य भागों में विभाजित किया है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। दण्डी के शब्दों में 'द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्'। स्वभावोक्ति में वस्तुओं, घटनाओं का साक्षात् और सहज बर्णन होता है जबकि वक्रोक्ति में यही वर्णन सहज न होकर वक्रतापूर्ण होता है अर्थात् उसमें चमत्कार होता है। अन्य सभी अलंकार (उपमा आदि) इसी वक्रोक्ति के प्रकार हैं। इसी प्रसंग में दण्डी ने भी अतिशयोक्ति का वर्णन करते हुए उसे सभी अलंकारों का मूल स्वीकार किया है—'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।' इस प्रकार दण्डी ने भी (भामह की भाँति अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्यायवाची सिद्ध किया है क्योंकि इन दोनों के पीछे एक ही मानवीय वृत्ति कार्य करती है, यथा—'लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा' अर्थात् वस्तुओं, घटनाओं आदि का लोकोत्तर वर्णन।

इस प्रकार भामह और दण्डी—दोनों ने वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल सिद्ध कर अत्यन्त महिमान्वित किया है। दोनों के वक्रोक्ति सम्बन्धित चिन्तन में एकमात्र अन्तर यही है कि भामह स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति के व्यापक आधार में समेट लेते हैं और इस प्रकार वक्रोक्ति की एकछत्र प्रभुता सिद्ध कर देते हैं जबकि दण्डी वक्रोक्ति के अतिरिक्त स्वभावोक्ति की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। दण्डी के मतानुसार काव्य में स्वभावोक्ति की स्थिति भले ही होती हो किन्तु वह वक्रोक्ति की भाँति अनिवार्य नहीं होती।

भामह और दण्डी के पश्चात् वामन ने वक्रोक्ति के स्वरूप का विवेचन किया और इसकी व्याप्ति बहुत ही सीमित कर दी। वामन के मत से वक्रोक्ति का क्षेत्र 'सादृश्याश्रित लक्षणा' तक ही सीमित है। उन्हीं के शब्दों में, 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'। वामन के पश्चात् आचार्य रुद्रट ने तो वक्रोक्ति का क्षेत्र और भी अधिक संकुचित करके उसे केवल एक शब्दालंकार ही माना। रुद्रट ने वस्तुतः वक्रोक्ति सम्बन्धी समग्र चिन्तन में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। रुद्रट ने वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार के दो भेद किये हैं—काकुवक्रोक्ति और सभंग-श्लेष वक्रोक्ति। काकु वक्रोक्ति उच्चारण और स्वरों के उतार-चढ़ाव से उक्ति में वक्रता उत्पन्न की जाती है जबकि सभंग-श्लेष वक्रोक्ति में यह कार्य श्लेष की सहायता से सम्पन्न होता है। रुद्रट

का यह वक्रोक्तिविषयक चिन्तन अपने आप में नितान्त नया था और इस परवर्ती कवि तथा आचार्य उसके वक्रोक्ति-विवेचन से प्रभावित भी हुए।

आनन्दवर्द्धन ने भामह की ही स्थापनाओं को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को लेकर स्वतन्त्र चिन्तन कहीं नहीं किया; तथापि उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्पष्टतः स्वीकार की है। भामह की स्थापनाओं की पुष्टि करते हुए आनन्द-वर्द्धन कहते हैं कि—

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो नयाविना।

इस प्रकार भामह की भाँति ही आनन्दवर्द्धन भी अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति की पर्यायता स्वीकार करते हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि वक्रोक्ति अथवा अति-शयोक्ति का प्रयोग प्रतिभावान् कवि ही कर सकता है। इस सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन यह भी कहते हैं कि अतिशयता अथवा वक्रोक्ति का प्रयोग प्रसंगानुकूल होना चाहिए अर्थात् उनके प्रयोग में औचित्य का निर्वाह आवश्यक है।

यद्यपि प्रत्यक्षतः आनन्दवर्द्धन ने वक्रोक्ति का केवल इतना ही विवेचन किया है किन्तु सचाई यह है कि उनका समूचा ध्वनि-सिद्धान्त वक्रोक्ति की महत्ता से प्रभा-वित है। आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर दोनों में आश्चर्यजनक साम्यता का भाव दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार ध्वनि का चमत्कार वर्ण, प्रत्यय, विभक्ति आदि से लेकर सम्पूर्ण काव्य के भीतर समाहित रहता है उसी प्रकार वक्रोक्ति का चमत्कार भी काव्य में सर्वव्यापी होता है। वक्रोक्ति सिद्धान्त के विवेचन में कुन्तक ने कई ऐसे अर्थ-चमत्कारों का उल्लेख किया है जो कि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रसंग में भी वर्णित हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को एक सामान्य अलंकार माना है। अभिनव-गुप्त के अनुसार 'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम् लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ को वक्रता का आशय उनका लोकोत्तर रूप से अवस्थित होना है और लोकोत्तर का अर्थ होता है अतिशयता। अतः अतिशयोक्ति एक सामान्य अलंकार हुआ। इसके पश्चात् भोज ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। भोज ने दण्डी की भाँति ही सम्पूर्ण वाङ्मय को तीन भागों में विभाजित किया है—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति एवं रसोक्ति। भोज के शब्दों में—'वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।' साहित्य के इन तीनों रूपों का विश्लेषण करते हुए भोज कहते हैं कि 'त्रिविधा खलु अलंकारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति। तत्रोपमालंकार प्राधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति' अर्थात् काव्य-सौंदर्य (अलंकार) तीन प्रकार का होता है—

वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति। जहाँ उपमा आदि अलंकारों का प्राधान्य होता है वहाँ वक्रोक्ति होती है, जहाँ गुणों का प्राधान्य होता है वहाँ स्वभावोक्ति होती है और जहाँ विभावों, अनुभावों तथा संचारी भावों के योग से रस-निष्पत्ति होती है वहाँ रसोक्ति होती है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वक्रोक्ति की जो व्याप्ति भामह ने की थी, वह धीरे-धीरे संकुचित होती गयी और अन्ततः भोज तक आते-आते वक्रोक्ति केवल उपमादि-अलंकार रूप ही रह गयी।

वक्रोक्ति और उसका स्वरूप-विवेचन—कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन पर भामह के एतद् विषयक चिन्तन का पूरा प्रभाव देखा जा सकता है क्योंकि वक्रोक्ति को जो सम्मान भामह ने दिया था, वह सम्मान भामह के पश्चात् कुन्तक ने ही प्रदान किया। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का आधारभूत तत्त्व सिद्ध किया और स्पष्ट शब्दो में कहा कि काव्य का काव्यत्व वक्रोक्ति पर ही आश्रित है अर्थात् वक्रोक्ति के अभाव में काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी—'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभाव. कविकर्मकौशलं तस्यभंगीविच्छितिः तथा भणितिः। विचित्रैवाभिधाः वक्रोक्तिरित्युच्यते, अर्थात् प्रसिद्ध उक्ति से भिन्न विचित्र वर्णन-शैली को वक्रोक्ति कहते हैं। वैदग्धपूर्ण शैली के माध्यम से व्यक्त उक्ति ही वक्रोक्ति कहलाती है और वैदग्ध्य का आशय है विदग्धता—कवि-कर्म-कौशल, उसकी भंगिमा अथवा चारुता उसके आधार पर कही गयी उक्ति। विचित्र अभिधा को ही वक्रोक्ति कहते हैं। इस प्रकार आचार्य कुन्तक के अनुसार, वक्रोक्ति का आशय विचित्र अभिधार्थ से है और विचित्र का अर्थ है प्रसिद्ध कथन-पद्धति से भिन्न पद्धति का प्रयोग। कुन्तक ने प्रसिद्ध का अर्थ भी स्पष्ट किया है। कुन्तक के अनुसार, प्रसिद्ध का आशय है 'शास्त्र और व्यवहार' में प्रयुक्त शैली। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है—प्रसिद्ध कथन-पद्धति से भिन्न विचित्र कथन-शैली और विचित्र का तात्पर्य वैदग्ध-जन्य चारुता से शोभित। इस वैदग्ध-जन्य चारुता के लिए कवि-कौशल की अपेक्षा रहती है। कुन्तक ने कवि-कौशल के लिए 'कवि-व्यापार' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है, 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि' यह कवि-कौशल अथवा कवि-व्यापार पुनः कवि की प्रतिभा का चमत्कार होता है और यह प्रतिभा जन्मजात संस्कारों के रूप में विकसित होती है।

वक्रोक्ति के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में कुन्तक ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कही है कि उसमें 'तद्विदाह्लादकारित्व' अर्थात् सहृदय के मन को आह्लादित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। इस प्रकार वक्रोक्ति के सम्बन्ध में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति का अर्थ है विचित्र उक्ति और विचित्र उक्ति की चार महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं—(क) पहली तो यह कि वह सामान्य कथन-शैली से भिन्न होती है; (ख) दूसरी यह कि यह विचित्र उक्ति लोक अथवा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ

प्रयोग से भिन्न ढंग की होती है; (ग) इस प्रकार की विचित्र उक्ति के लिए कवि-प्रतिभा की अपेक्षा रहती है और चौथी तथा अन्तिम विशेषता यह कि (घ) वह सहृदय के मन का प्रसादन करने वाली होती है।

वक्रोक्ति के प्रकार—आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को समस्त काव्य-व्यापार का मूलाधार माना है। उसके मतानुसार काव्य में शब्द और अर्थ—प्रत्यक्षतः यही दो तत्त्व होते हैं और इन तत्त्वों का अलंकरण करने वाला तत्त्व वक्रोक्ति है। काव्य में हमें जहाँ कहीं भी सौन्दर्य अथवा चमत्कार के दर्शन होते हैं, वह वस्तुतः वक्रोक्ति के कारण ही होते हैं। वक्रोक्ति के अभाव में काव्योचित सौन्दर्य की सृष्टि ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य के क्षेत्र में सर्वाधिक व्यापार आधार प्रदान किया। कुन्तक ने छः मुख्य भेद निर्धारित किये हैं और उसका यह भेद-निरूपण निराधार अथवा निरुद्देश्य नहीं है। कुन्तक का यह भेद-निरूपण पूर्णतः वैज्ञानिक आधार लिये है। इन छः भेदों में कुन्तक ने काव्य के लघुतम अवयव अर्थात् वर्ण से लेकर काव्य के महत्तम रूप अर्थात् महाकाव्य तक वक्रोक्ति के प्रसार का वर्णन किया है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के छः भेद हैं—वर्ण-विन्यास वक्रता, पदपूर्वार्द्ध वक्रता, पदपरार्द्ध वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता। वक्रोक्ति के इन भेदों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(1) **वर्ण-विन्यास वक्रता**—वक्रोक्ति के इस भेद का सम्बन्ध वर्ण-विन्यास से है। इस प्रकार की वक्रता में एक, दो अथवा कई वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तराल के पश्चात् उसी रूप में बार-बार ग्रथित होते हैं। इस सम्बन्ध में कुन्तक ने यह भी स्पष्ट किया है कि वर्ण का आशय व्यंजन से है। कुन्तक के शब्दों में—

'एको द्वौ बहवो वर्णाः बध्यमानाः पुनः पुनः
स्वल्पान्तरविधा सोक्ता वर्ण-विन्यास वक्र तो।'

आगे चलकर कुन्तक ने यह भी स्पष्ट किया है कि वर्ण-विन्यास की यह वक्रता प्राचीन काव्यशास्त्रियों में अनुप्रास के रूप में प्रसिद्ध है। कुन्तक के मतानुसार वर्ण-विन्यास की यह वक्रता पुनः तीन प्रकार की होती है—(क) एक वर्ण की आवृत्ति (ख) दो वर्णों की आवृत्ति तथा (ग) दो से अधिक वर्णों की आवृत्ति। वर्ण-विन्यास की वक्रता को लेकर ही कुन्तक ने एक और ढंग का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है जो कि इस प्रकार है—पहले भेद में वर्गान्तियोगी स्पर्शों की आवृत्ति होती है (वर्गान्तियोगी ऐसे वर्ण होते हैं जिनमें वर्ग का अन्तिम ङ्कार का योग हो), दूसरे भेद में त, ल, न आदि वर्णों की द्वित्व रूप में आवृत्ति होती है और तीसरे भेद में उपर्युक्त दोनों भेदों में उल्लिखित वर्णों के अतिरिक्त वर्णों की रूर आदि सहित आवृत्ति होती है। कदाचित् इसी आधार पर प्राचीन आचार्यों ने अनुप्रास का भेद-निरूपण भी किया है। कुन्तक ने बाद में चलकर यमक और उससे साम्य रखने वाले अलंकारों को भी इसी वर्ण-विन्यास वक्रता में समाहित कर लिया। यही नहीं, कुन्तक ने प्राचीन काव्याचार्यों

द्वारा निर्धारित काव्यरीतियाँ अर्थात् उपनागरिका, परुषा और कोमला भी वर्ण-विन्यास वक्रता के अन्तर्गत मानी। इस प्रकार कुन्तक की वर्ण-विन्यास वक्रता एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा के रूप में अवतरित हुई जिसमें अनुप्रास के समस्त भेद, तीनों काव्यरीतियाँ, यमक और उससे साम्य रखने वाले अलंकार समाहित हो गये।

तथापि कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता पर कतिपय प्रतिबन्ध भी लगा दिये हैं। सबसे पहला प्रतिबन्ध तो यह है कि वर्ण-योजना मूलतः विषय के अनुरूप होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, वर्ण-योजना में औचित्य सिद्धान्त का निर्वाह भी होना चाहिए। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि वर्ण-विन्यास वक्रता में न तो असुन्दर वर्णों का प्रयोग होना चाहिए और न इस प्रकार की वक्रता का अत्यधिक प्रयोग होना चाहिए। तीसरी बात यह है कि वर्ण-विन्यास वक्रता में वैचित्र्य होना चाहिए। चौथी बात यह है कि यमक आदि अलंकारों में प्रसाद गुण की स्थिति होनी चाहिए। पाँचवीं बात यह है कि वर्ण विन्यास वक्रता में इन सभी गुणों के अतिरिक्त श्रुति माधुर्य अवश्य होना चाहिए अर्थात् कर्णकटु वर्णों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

(2) **पदपूर्वार्द्ध वक्रता**—वर्णों की वक्रता के पश्चात् कुन्तक वर्णों के समुदाय अर्थात् पदों की वक्रता का उल्लेख करते हैं। पदों के भी दो अंग होते हैं—पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध। कुन्तक ने इन दोनों पद-अंगों को लेकर अलग-अलग ढंग की वक्रता का वर्णन किया है। जहाँ तक पदपूर्वार्द्ध का सम्बन्ध है, संस्कृत में इसे प्रकृति कहते हैं। कुन्तक ने इस प्रकार की वक्रता के पुनः आठ भेद किये हैं—रूढ़िवैचित्र्य वक्रता, पर्याय वक्रता, उपचार वक्रता, विशेषण वक्रता, संवृत्ति वक्रता वृत्तिवैचित्र्य, वक्रता, लिंग वक्रता और क्रियावैचित्र्य वक्रता।

रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता—रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता में 'लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा का कथन करने के अभिप्राय से वाच्यार्थ की रूढ़ि से असम्भव अर्थ का अध्यारोपण अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप गर्भित रूप में कहा जाता है।' इस प्रकार की वक्रता का मूलाधार रूढ़ि का वैचित्र्य होता है। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर रूढ़ अर्थ का ही ऐसा प्रयोग करता है कि मूल पाठ में किसी कमनीय असम्भाव्य अर्थ की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार की वक्रता के उदाहरण के रूप में निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिनमें कमल के रूढ़ अर्थ पर कमनीय असम्भाव्य अर्थ का अध्यारोपण करके रूढ़वैचित्र्य वक्रता उत्पन्न की गयी है—

'तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल:है तबहिं जब रविकर सों बिकसाहिं।'

तुलसीदास के निम्न दोहे में भी राम के रूढ़ अर्थ में अर्थ-चमत्कार उत्पन्न किया गया है—

'सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुलसहित कहहि दसानन आइ॥'

पर्याय-वक्रता—पर्याय-वक्रता का मूलाधार पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होता है। भाषा में एक ही शब्द के अर्थ का बोध कराने वाले कई-कई शब्द होते हैं और प्रतिभावान कवि उन्हीं पर्यायवाची शब्दों में से प्रत्येक शब्द के मूल आशय की पहचान करके उनका प्रयोग करता है और इस प्रकार अर्थ-चमत्कार उत्पन्न करता है। प्रतिभावान कवि विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से कहीं तो वाच्य अर्थ के मूल रहस्य का उद्घाटन करता है तो कहीं उसकी अतिशयता को व्यक्त करता है। कभी-कभी सौन्दर्य की अतिशयता के कारण वह स्वयं ही मनोहर लगता है तो कभी लोकोत्तर अर्थ प्रकट करने के कारण सुशोभित हो जाता है। पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग के इन्हीं विभिन्न आधारों को लेकर कुन्तक ने पर्याय वक्रता के पुनः छः भेद किये हैं। पर्याय वक्रता के उदाहरण के रूप में निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

'लख कर सायर अरु तुम्हें कर सायक सर चाप।
देखत हूँ छेदत मनो मृगहिं पिनाकी आप॥'

इस दोहे में शिवजी के लिए 'पिनाकी' शब्द का प्रयोग उल्लेख्य है।

उपचार-वक्रता—उपचार-वक्रता का निरूपण करते हुए कुन्तक कहते हैं कि 'जहाँ प्रस्तुत दूरान्तर अर्थात् सर्वथा भिन्न-स्वभाव वस्तु पर अप्रस्तुत वस्तु के सामान्य धर्म का लेश मात्र सम्बन्ध से आरोप किया जाता है, वहाँ उपचार होता है। यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत एक दूसरे से बहुत दूर होते हैं, उनमें देशकाल की नहीं, वरन् मूल स्वभाव की दूरी होती है।'' जब कुन्तक प्रस्तुत और अप्रस्तुत में मूल स्वभाव की दूरी की बात कहते हैं तो उनका स्पष्ट आशय यही होता है कि इन दोनों अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक चेतन होता है तो दूसरा अचेतन; एक मूर्त होता है, तो दूसरा अमूर्त आदि-आदि। कुन्तक ने उपचार-वक्रता के पुनः चार भेद और किये हैं और साथ ही यह भी कह दिया है कि इसके सहस्र भेद हो सकते हैं। उपचार-वक्रता के उदाहरण के रूप में कवि पन्त की एक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिसमें मानवीकरण अलंकार का चमत्कार उल्लेख्य है—

'नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।
पत्रों के आनत अधरों पर, सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

× × ×

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर
सन्ध्या प्रशांति को कर गम्भीर
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा तीक्ष्ण धार,
ज्यों वेध रही हो आर-पार।'

विशेषण-वक्रता—विशेषण का प्रयोग सामान्यतः दो प्रयोजनों से होता है—एक तो विशेष्य वस्तु का सौन्दर्य उद्‌घाटन करने के लिए और दूसरा अलंकार के सौन्दर्य का अभिवर्द्धन करने के लिए। विशेषण भी दो प्रकार से चमत्कार उत्पन्न करता है—कारक रूप में और क्रिया रूप में। इस प्रकार के प्रयोग से विशेष्य में अतिशयता उत्पन्न हो जाती है और समस्त काव्य चमत्कृत हो जाता है। काव्य में विशेषण की महत्ता निर्विवाद है। चित्रात्मक विशेषण वर्ण्य विषय अथवा वस्तु का पूरा चित्र उभार देते हैं तो चिन्तन-प्रधान विशेषण मनुष्य की चिन्तन-शक्ति को उद्‌बुद्ध करता है। यही नहीं, विशेषण के प्रयोग से संक्षिप्तता आ जाती है जिसे शास्त्रीय भाषा में समास: गुण कहते हैं। समाज-बहुल कविता का सृजन प्रतिभावान् कवि ही कर सकते हैं।

इस प्रकार विशेषण वक्रता के मुख्यतः दो भेद हुए—कारक वक्रता और क्रिया-विशेषण वक्रता। कारक वक्रता के उदाहरण के रूप में घनानन्द की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'आँखें जो न देखें तो कहाहैं कछु देखति ये,
ऐसी दुखहाइनि की दसा आप देखिए।'

इन पंक्तियों में 'आँखें' का प्रयोग कर्त्ता के रूप में किया गया है जबकि आँखें वस्तुतः करणकारक होती हैं। कवि ने 'आँखें' का प्रयोग कर्त्ता के रूप में करके समूचे प्रसंग में विशेषता उत्पन्न कर दी है।

क्रिया-विशेषण के उदाहरण के रूप में कुन्तक ने निम्न पंक्तियाँ वर्णित की हैं :—

'सस्मार वारणपतिर्विनिमीलिताक्षः
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्।'

अर्थात् हाथी अपनी आँखें बन्द करके अपने नूतन जीवन के वन-महोत्सवों की याद करने लगा जबकि वह स्वच्छन्द रूप में वन-विहार किया करता था। इन पंक्तियों में 'सस्मार' क्रिया है और निमीलिताक्षः उसका क्रिया-विशेषण है।

चित्रमय विशेषणों का सर्वाधिक प्रयोग छायावादी काव्य में हुआ है। उदाहरण रूप में कवि पंत की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जड़ित पद, नमित-पलक-दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण
मधुरता-में-सी भरी अजान।'

भावमय विशेषण के उदाहरण के रूप में निराला की अग्रलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'खिच गये सामने सीता के राममय नयन।
भेंट है तुमको सखे ये अश्रु-गीले गीत।
यह स्वप्न-मुग्ध कौमार्य तुम्हारा चिर-सलज्ज।'

विचारगर्भित विशेषण के उदाहरण के रूप में पुनः कवि पंत की निम्न पंक्तियाँ दखिए—

'तुम पूर्ण इकाई जीवन की।
जिसमें असार भव-सिन्धु लीन।

संवृति-वक्रता—संवृति-वक्रता का विवेचन करते हुए कुन्तक कहते हैं कि "जहाँ वैचित्र्य कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण (गोपन) किया जाता है वहाँ संवृति वक्रता होती है।" उदाहरण के रूप में निम्न पंक्ति देखिए—

'मन में कछु पीर नई उमही है।'

इस पंक्ति में मन की पीड़ा का वर्णन करते हुए कवि ने वस्तुतः यही कहा है कि मन की पीड़ा केवल अनुभव ही की जा सकती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार बिहारी की पंक्ति 'वह चितवन' और 'कछू जेहि बस होत सुजान' में इसी संवृति वक्रता का चमत्कार देखने को मिलता है।

वृत्ति-वक्रता—वृत्ति वक्रता का सम्बन्ध मानवसुलभ परुषा, कोमला आदि वृत्तियों से नहीं है अपितु समासों, तद्धित आदि से होता है। समासजन्य चमत्कार भी इसी वृत्तिवक्रता के अधीन आते हैं। उदाहरण के रूप में निम्न पंक्तियाँ देखिए, जिसमें कुसुम और विहग के योग से तितली का एक नया अर्थ प्रकट होता है—

'तुमने यह कुसम-विहग लिबास।
क्या अपने सुख से स्वयं बुना।'

समास-वक्रता के एक अन्य उदाहरण के रूप में महाकवि निराला की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिसमें समास-युक्त शैली का अपना अलग सौन्दर्य दीख पड़ता है—

'आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्रकर, वेग-प्रखर,
शतशेलसवरणशील, नीलनभ गर्जित स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह-भेद-कौशल-समूह,
राक्षर-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विछूरि तवह्नि-राजीवनयन- हत-लक्ष्य-बाण
लोहितलोचन-रावण-मद-मोचन महीयान।'

लिंग-वैचित्र्य वक्रता—लिंग-वैचित्र्य वक्रता का मूलाधार लिंग का प्रयोग होता है। कुन्तक ने इस प्रकार की वक्रता के पुनः तीन भेद किये हैं—विभिन्न लिंगों का समानाधिकरण, स्त्रीलिंग का प्रयोग तथा विशिष्ट लिंग का प्रयोग। विभिन्न लिंगों के

समानाधिकरण के उदाहरण के रूप में निम्न पंक्ति उल्लेख्य हैं जिसमें (प्रतिभा) स्त्रीलिंग और (धाम) पुल्लिग का समानाधिकरण कर दिया गया है—

'हृदय की सौंदर्य-प्रतिभा ! कौन तुम छवि-धाम ।'

स्त्रीलिंग के प्रयोग के उदाहरण छायावाद में बिखरे पड़े हैं और इसका मूल कारण यह है कि प्रकृति पर नारी-रूप का आरोपण छायावाद की एक मुख्य प्रवृत्ति रही है ।

विशिष्ट लिंग के प्रयोग के उदाहरण के रूप में कविवर पंत की निम्न पंक्तियाँ उल्लेख्य हैं—

'प्रथम रश्मि का आना रंगिणी
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ-कहाँ हे बाल-विहगिनि
सीखा तूने वह गाना ।
× × ×
सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि ।
मुझे भी अपने मीठे गान ।'

क्रिया-वैचित्र्य वक्रता—क्रिया-वैचित्र्य वक्रता का विवेचन करते हुए कुन्तक कहते हैं कि 'धातु-रूप पदपूर्वार्ध पर आश्रित वैचित्र्य क्रिया-वक्रता के अन्तर्गत आता है ।'' कुन्तक ने इस प्रकार की वक्रता के पुनः पाँच भेद किये हैं जो इस प्रकार हैं—जब क्रिया कर्ता के अत्यन्त अंतरंगभूत हो जाती है, अर्थात् क्रिया और कर्ता में अभिन्नता हो जाती है । दूसरे भेद में कर्त्ता की अन्य कर्त्ताओं से विभिन्नता प्रकट होती है जैसे कि एक वाक्य है—''शिव जी की वह शराग्नि तुम्हारे दुखों को दूर करे'—इस वाक्य में शराग्नि कर्त्ता है जिसका कार्य दुःख देना होता है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वह दुख-शामक के रूप में वर्णित हुई है । क्रिया-वैचित्र्य वक्रता के तीसरे भेद में क्रिया के विशेषण का वैचित्र्य प्रकट होता है जैसे कि एक पंक्ति है—'घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर'—इस पंक्ति में 'घनाकार' का प्रयोग 'घुमा रहे हैं' क्रिया के विशेषण के रूप में किया गया है । इस वक्रता का चौथा भेद है उपचार-मनोज्ञता, जिसमें सादृश्य आदि के आधार पर अन्य धर्म का आरोपण किया जाता है । उदाहरण के लिए निम्न पंक्ति देखिए—'उन्नत वक्षों में आलिंगन-सुख लहरों-सा तिरता' । पाँचवाँ भेद है 'कर्मादि-संवृति' जिसमें क्रिया के कर्म आदि का गोपन करके सौंदर्य-सृष्टि की जाती है जैसे कि किसी नायिका के सम्बन्ध में यह कहा जाये कि ''उसके रागपूर्ण मन में प्रेम की शोभा नेत्रों के भीतर 'कुछ' माधुर्य भर रही है''—इस वाक्य में 'कुछ' सर्वनाम का प्रयोग करके कवि ने मूल कार्य का गोपन कर दिया है ।

(3) **पदपरार्ध-वक्रता**—पदपरार्ध-वक्रता में कुन्तक ने पदों के उत्तरार्ध से उत्पन्न होने वाले काव्य-सौन्दर्य का विवेचन किया है । निस्सन्देह इस प्रकार का काव्य-

सौंदर्य सामान्यतः प्रत्यय रूप में ही होता है। कुन्तक ने इस प्रकार की वक्रता के छः भेद और किये हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

कालवैचित्र्य वक्रता—इस प्रकार की वक्रता में काल-विशेष का प्रयोग करके सौन्दर्य-सृष्टि की जाती है तथापि इस सम्बन्ध में कुन्तक ने औचित्य के निर्वाह पर अवश्य बल दिया है। उदाहरण के लिए, बिहारी का निम्न दोहा देखिये—

'नासा मोरि नचाय दृग-करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हियें गड़ी कंटीली भौंह।'

कारक वक्रता—इस प्रकार की वक्रता का मूलाधार कारक प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए निराला की यह पंक्ति देखिए, 'हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त।' इस पंक्ति में हाथ का प्रयोग कर्त्ता के रूप में हुआ है जबकि वह वस्तुतः करण कारक होता है।

संख्या वक्रता—इस प्रकार की वक्रता में संख्या का विपर्यास कर दिया जाता है जैसे कि निम्न पंक्ति में राजा संख्या में एक होते हुए भी अपने लिए 'मैं' का प्रयोग करने के स्थान पर 'हम' का प्रयोग करते हैं—

'हम पूछत जाहिहि पाँति भरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू।'

पुरुष वक्रता—इस प्रकार की वक्रता में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का प्रयोग विपरीत रूप में होता है, अर्थात् इन दोनों के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'किवा वह देव हैं दया शरीर
देखकर भूतल के तप्त क्षेत्र
प्रभु के सहस्र-नेत्र
तप्त हो उठे थे प्राणियों के दुखपात से
और इसी हेतु बिना जाने ही, बिना कही
प्राप्त हुई आज्ञा वही
सेवक को अपने ही आप से।'

प्रस्तुत पद की अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त 'सेवक' इसी पुरुष-वक्रता का परिचायक है।

उपग्रह-वक्रता—उपग्रह का अर्थ धातु होता है और धातु दो प्रकार की मानी गयी हैं—परस्मैपद और आत्मनेपद। उपग्रह वक्रता में इन दोनों प्रकार की धातुओं में से किसी एक का (औचित्य का निर्वाह करते हुए) प्रयोग होता है और काव्य-शोभा का अभिवर्द्धन किया जाता है। यद्यपि हिन्दी में आत्मनेपद धातुओं का यथावत् प्रयोग नहीं होता फिर भी कर्म कर्तृवाक्य प्रयोग प्रायः किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, 'हाथ टूट गया, जीभ कट गयी, आँख खुल गयी' आदि मुहावरों में इसी प्रकार की

वक्रता का चमत्कार दीख पड़ता है। निम्न पंक्तियों में भी इसी वक्रता का चमत्कार देखा जा सकता है—

'मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ।'
× × —
हौं तो याही सोच में विचारत रही हो काहे।
दर्पन हाय ते न छिन बिसरत है।'

प्रत्यय-वक्रता—इस प्रकार की वक्रता का प्रयोग अधिकतर संस्कृत काव्य में ही होता रहा है क्योंकि प्रत्यय की अवधारणा हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत में अधिक स्पष्ट होती है। इस प्रकार की वक्रता के अधीन कुन्तक ने दो प्रकार से चमत्कार उत्पन्न करने की बात कही है—पहली तो प्रत्ययों के प्रयोग से और दूसरी प्रत्ययों के दोहरे प्रयोग से अर्थात एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगाकर। हिन्दी में इस प्रकार की वक्रता का अधिकांशतः दूसरा भेद ही दीखता है अर्थात् हिन्दी में प्रायः दोहरे प्रत्ययों के प्रयोग से इस प्रकार की वक्रता उत्पन्न की जाती है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'आग लागि घर जरिगा विधि भल कीन्ह।
पिय के हाथ घइलवा भरि-भरि दीन्ह।
पिय सो कहहु संदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
वह धनि बिरहै जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग।'

उक्त पंक्तियों में घइलवा (दूसरी पंक्ति) और संदेसड़ा (तीसरी पंक्ति) में इसी प्रकार की प्रत्यय-वक्रता का चमत्कार देखा जा सकता है।

कुन्तक ने पद-वक्रता के ही दो अन्य भेदों का विवेचन भी किया है—उपसर्ग-वक्रता और निपात-वक्रता। उपसर्ग-वक्रता में उपसर्गों के विशिष्ट प्रयोग से वक्रता का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। हिन्दी में इस प्रकार के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'विकम्पित मृदु उर पुलकित गात।
× × ×
इन्दु विचुम्बित बाल जलद-सा मेरी आशा का अभिनय।'

निपात-वक्रता में निपात अर्थात् अव्ययों के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। अव्यय अवयव-रहित होते हैं और इस कारण उनका केवल अर्थगौरव ही होता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी ही जान न पायी जिसको।'

दूसरी पंक्ति में 'ही' का प्रयोग निपात-वक्रता का द्योतक है।

(4) **वाक्य-वक्रता तथा वस्तु-वक्रता**—कई पदों के संयोग से वाक्य का निर्माण होता है और इस प्रकार कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त का विस्तार वर्ण से पद और पद से वाक्य तक कर लिया है। वाक्य का अर्थ कई पदों के अर्थों से मिल-जुलकर बनता है, अतः वाक्य की वक्रता का आशय वस्तुतः अर्थगत वक्रता से होता है। कदाचित् इसी कारण वाक्य-वक्रता को वस्तु-वक्रता का नाम भी दिया गया है। कुन्तक ने इस प्रकार की वक्रता के पुनः दो भेद किये हैं—सहजा और आहार्या। सहजा वक्रता का आशय तथा वस्तु के सहज वर्णन से उत्पन्न चमत्कार से होता है और आहार्या का अर्थ शिक्षा तथा अभ्यास द्वारा अर्जित कौशल के बल पर उत्पन्न किया गया चमत्कार होता है।

इसी प्रसंग में कुन्तक ने वस्तु का स्वरूप-निर्धारण करते हुए उसके दो मुख्य प्रकारों का विवेचन किया है—सहज और आहार्य। सहज का आशय वस्तु के सहज अथवा प्राकृत रूप से है। आहार्य का अर्थ शिक्षा-अभ्यास से अर्जित कवि कौशल द्वारा सम्पादित वस्तु है। सहज के भी उन्होंने पुनः दो उपभेद किये हैं—स्वभाव-प्रधान और रस-प्रधान। कुन्तक ने स्वभाव-प्रधान के भी आगे और दो भेद किये हैं—सामान्य और शोभामय। जिन वस्तुओं के वर्णन में कवि-कौशल का संस्पर्श नहीं होता, वे काव्योजित नहीं हो सकतीं और स्वभावतः उनका काव्य-सौन्दर्य भी नहीं होता। कवि-कौशल का संस्पर्श पाकर वस्तुओं का सहज रूप भी रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करता है और इस प्रकार सरस काव्य कहलाने का अधिकारी हो जाता है। अतः वस्तुओं के सहज रूप में जो अलंकरण दीखता है, उसका एकमात्र कारण यही वस्तुगत वक्रता होती है न कि स्वभावोक्ति अथवा रसवदलंकार।

आहार्य वस्तु में उपमादि अलंकारों का प्रयोग किया जाता है तथापि इस सम्बन्ध में कुन्तक यह भी कहते हैं कि यदि प्रतिपाद्य वस्तु स्वभावतः सौन्दर्ययुक्त हो तो अलंकारों का अतिशय प्रयोग वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को क्षति ही पहुँचा सकता है। अतः कुन्तक के मतानुसार "यदि वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य ही प्रतिपाद्य हो तब तो कवि द्वारा अलंकारों का अधिक प्रयोग समुचित नहीं है और यदि आहार्य सौन्दर्य प्रदर्शित करना है तब अलंकारों का प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन तब भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके द्वारा स्वाभाविक सौकुमार्य का ही उन्मीलन हो न कि अलंकारिक वैचित्र्य मात्र का।" वस्तु-वक्रता के उदाहरण के रूप में कवि प्रसाद की निम्न पंक्तियाँ उल्लेख्य हैं—

घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।'

इन पंक्तियों में कवि ने श्रद्धा के कान्तिपूर्ण मुख के निकट कन्धों तक बिखरी

हुई अलकों को नीलघन कवकों की भाँति विधु-मण्डल के पास भेजने को आतुर चित्रित करके श्रद्धा के रसमय स्वभाव को ही मुखरित किया है। कवि का उद्देश्य अलंकारों का प्रयोग निश्चित रूप से नहीं है। एक अन्य उदाहरण लीजिए जिसमें पुन: किसी नायिका से स्वाभाविक रूप-सौन्दर्य को ही उभारा गया है—

'वह पृष्ठ बाहुओं पर फला इतराता,
टुक उलझ सुलझ वक्षःस्थल पर लहराता।
तेरा चिर कुंचित केश-कलाप सुकोमल
ज्यों नग्न कनक-कुच पर आंचल घनश्यामल।
वह अंग रंग से मिली रेशमी सारी
मलयानिल में लहराती केसर-क्यारी।

(5) **प्रकरण-वक्रता**—कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त में प्रकरण-वक्रता के सम्बन्ध में कुन्तक का चिन्तन अत्यधिक स्पष्ट नहीं हो सका है। तथापि कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता का जो विवेचन किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि "सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तु-वर्णन में जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है, वह प्रकरण-वक्रता है।" आगे चलकर कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के आठ-नौ भेद और गिनाये हैं—(क) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना—जहाँ कहीं ऐसे भाव-पूर्ण स्थिति उत्पन्न की जाये जो पात्रों के चारित्रिक उत्कर्ष का साधन सिद्ध हो वहाँ प्रकरण-वक्रता का प्रस्तुत भेद देखा जा सकता है। (ख) उत्पाद्य लावण्य—इस प्रकार की प्रकरण-वक्रता में इतिहास-सम्मत प्रसंग में किंचित कल्पना का संस्पर्श देकर काव्य-सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है। (ग) प्रधान कार्य से सम्बन्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव—इस प्रकार की प्रकरण वक्रता में सारे प्रकरण एक दूसरे के प्रति उपकार्य-उपकारक का सम्बन्ध रखते हुए भी प्रधान कार्य के उपकारक होते हैं। (घ) विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना—इस प्रकार की वक्रता में एक ही प्रसंग को नये-नये ढंगों से प्रस्तुत करके उसकी एकरसता नष्ट कर दी जाती है। (ङ) जल-क्रीणा आदि रोचक प्रसंगों का विस्तारसहित वर्णन। (च) प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए अप्रधान अथवा गौण प्रसंगों की उद्भावना। (छ) गर्भांक—एक नाटक के भीतर दूसरे नाटक का प्रयोग गर्भांक कहलाता है। (ज) प्रकरणों का पूर्वापर-अन्वितिक्रम।

(6) **प्रबन्ध-वक्रता**—प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से काव्य कई प्रकार का होता है—महाकाव्य, नाटक आदि। प्रबन्ध-वक्रता का आशय समूचे प्रबन्ध के समग्र सौन्दर्य से है। कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता के पुन: छ: भेद और किये हैं जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

मूलरस परिवर्तन—इस प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता में कवि इतिहास प्रसिद्ध मूल कथा की उपेक्षा करते हुए किसी अन्य रस से निर्वहण हेतु मूल कथा में ही

आमूल परिवर्तन कर देता है। यह तो सर्व-विदित है कि समूचे कथा-विधान का प्राणतत्त्व रस होता है और कथा का विकास भी तदनुसार किया जाता है तथापि जब कवि अथवा लेखक मूलरस में परिवर्तन करना चाहता है तो कथा-विधान को भी तदनुसार बदलना होता है। इस प्रकार की वक्रता को मूलरस परिवर्तन कहा जाता है।

नायक के चरित्र की उत्कर्ष करने वाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार—इस प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता में कवि कई बार चरित्र-प्रधान ग्रन्थों में पूर्ण इतिवृत्ति के स्थान पर नायक के पूर्ण उत्कर्ष पर ही कथा का उपसंहार कर देता है और इसका स्पष्ट कारण यही होता है कि समस्त कथा रसपुष्ट नहीं होती है।

कथा के बीच में ही किसी अन्य कार्य द्वारा मुख्य कार्य की सिद्धि—इस प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता के दर्शन वहाँ होते हैं जहाँ कवि किसी अन्य घटना को चरमोत्कर्ष की स्थिति में पहुँचाकर कथा के सहज विकास को रोक देता है और अपनी प्रतिभा के बल पर कथा के मध्य में ही मुख्य कार्य की सिद्धि करा देता है।

नायक द्वारा अनेक फलों को प्राप्त करना—कई बार कवि अपने नायक को मूलतः किसी फल विशेष की प्राप्ति में सक्रिय दिखाता हुआ उसे ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है, जहाँ उसे कई अन्य फलों की सहज ही प्राप्ति हो जाती है।

प्रधान कथा का परिचायक नाम—कुशल कवि मूल कथा में तो चमत्कार उत्पन्न करता ही है, साथ ही कई बार वह कथा के नामकरण में इतनी कुशलता का परिचय देता है कि कथा-नाम से मूल कथा का पर्याप्त संकेत सहज ही प्राप्त हो जाता है।

वक्रोक्ति तथा अन्य सम्प्रदाय, सिद्धान्त आदि

वक्रोक्ति और अलंकार—वक्रोक्ति तथा अलंकार सम्प्रदाय के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। विद्वानों का एक प्रमुख वर्ग तो यहाँ तक मानता है कि वक्रोक्ति अलंकार का ही अंग होता है और वक्रोक्ति सम्प्रदाय वस्तुतः अलंकार सम्प्रदाय का ही पुनरुत्थान है। अन्यथा भी वक्रोक्ति की आरम्भिक कल्पना एक अलंकार के रूप में ही हुई है। तथापि कुन्तक और अन्य अलंकारवादी आचार्यों में इस सारे प्रश्न को लेकर मतभेद की स्थिति बनी हुई है। इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न तो अलंकार और अलंकार्य के परस्पर सम्बन्ध से जुड़ा है। भामह, दण्डी, वामन आदि प्राचीन अलंकारवादी काव्यशास्त्रियों ने समस्त काव्य-सौन्दर्य को अलंकार की परिधि में समेटने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य के मध्य अभेद की स्थिति मानी है। इस सम्बन्ध में कुन्तक का विवेचन सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। उनके मतानुसार तत्त्वतः अलंकार और अलंकार्य में कोई भेद नहीं होता। उत्कृष्ट काव्य में शब्द-अर्थ-रूप अलंकार होता है और वक्रोक्ति रूप (उपमादि अलंकारों सहित) अलंकार होता है तथा इन दोनों रूपों का पूर्ण तादात्म्य बना रहता है।

कुन्तक के मतानुसार अलंकार कोई बहिरंग तत्त्व नहीं होता। तथापि कुन्तक की दृष्टि में विवेचन-विश्लेषण की सुविधा के लिए इन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन सम्भव है और उसकी उपादेयता भी है।

इसी प्रसंग में पाश्चात्य विचारक क्रोचे का मत भी उल्लेखनीय है। क्रोचे के मतानुसार अभिव्यंजना (अर्थात् काव्य) एक प्रकार की सहजानुभूति है जो कि अपने आप में पूर्णतः अखण्ड है। अतः क्रोचे के मतानुसार काव्य की अखण्ड सत्ता को रीति, अलंकार आदि तत्त्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता। हिन्दी के सुविख्यात आलोचक आचार्य शुक्ल ने क्रोचे की उस स्थापना का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। आचार्य शुक्ल ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में तीन बातें कही हैं—पहली तो यह कि प्रत्येक काव्य अथवा उक्ति में एक प्रस्तुत अर्थ अवश्य रहता है और यही प्रस्तुत अर्थ अलंकार्य होता है। दूसरी बात यह कि प्रत्येक अलंकार (अर्थालंकार) में भी एक न एक प्रस्तुत अर्थ अवश्य रहता है और उसी प्रस्तुत अर्थ की नींव पर अप्रस्तुत योजना के प्रासाद का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए, कवि पंत की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
—इसी में था असीम अवसित।'

इन पंक्तियों का प्रस्तुत अर्थ यही है कि कोई बालिका अपने बाल्य-जीवन की सीमाओं के भीतर असीम उत्साह से तरंगित थी—इसी प्रस्तुत अर्थ के ऊपर अप्रस्तुत योजना का प्रासाद स्थित होता है। अतः शुक्लजी के अनुसार अलंकार और अलंकार्य में भेद की स्थिति अनिवार्य होती है और वह भेद कभी भी मिट नहीं सकता।

अतः अलंकार और अलंकार्य के सम्बन्ध को लेकर स्पष्टतः दो मत उभरते हैं—एक तो क्रोचे आदि का मत जो कि समूची अभिव्यंजना को अखण्ड मानता है और अलंकार, रीति आदि तत्त्वों में काव्य का विभाजन स्वीकार नहीं करता और दूसरा यह कि अलंकार और अलंकार्य दो पृथक् सत्ताएँ हैं। इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में विस्तार से विचार होता रहा है और इसके पक्ष-विपक्ष में अत्यन्त पुष्ट तर्क-वितर्क आदि प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। अन्ततः विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अलंकार और अलंकार्य तत्वतः एक होते हुए भी प्रत्यक्षतः दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं।

कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त की एक विशेषता यह भी है कि कुन्तक ने अपनी वर्ण-वक्रता के अन्तर्गत शब्दालंकारों को और भी वाक्य-वक्रता तथा उसके बहुविध भेदों में अर्थालंकारों को समाहित कर लिया है। इसी प्रसंग में कुन्तक ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह भी कही है कि केवल वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए ही अलंकारों

का प्रयोग आवश्यक नहीं है। कुन्तक के अनुसार अलंकारों का वही प्रयोग प्रशंसनीय है जिससे वर्ण्य-वस्तु की स्वाभाविक छटा की शोभा-वृद्धि हो।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त—वक्रोक्ति और रीति—इन दोनों के सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र में स्वतन्त्र चिन्तन हुआ है जिसके परिणामस्वरूप रीतिवादी आचार्य कुन्तक रीति को केवल एक मार्ग ही मानते हैं और वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक रीति को केवल एक मार्ग ही मानते हैं। इस 'मार्ग' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कुन्तक कहते हैं कि जिस विधि के माध्यम से कवि काव्य-सृजन में प्रवृत्त होता है उसे काव्य-रीति अथवा मार्ग कहते हैं। कुन्तक से पूर्व इन काव्य-रीतियों अथवा मार्गों का विभाजन प्रादेशिक आधार पर हुआ था और इसका स्पष्ट कारण यह था कि भरत, बाण, भामह तथा दण्डी आदि काव्याचार्यों के मतानुसार काव्य-रीतियों का सम्बन्ध विशिष्ट प्रदेशों से था। कुन्तक ने काव्य-रीतियों के इस सुस्थापित भेद-निरूपण की निस्सारता सिद्ध करते हुए तीन महत्त्वपूर्ण तर्क उपस्थित किए—पहला तो यह कि काव्यरचना प्रदेशगत-धर्म नहीं हो सकती क्योंकि प्रदेशगत-धर्म तो व्यवहार की बात है जबकि काव्यरचना का आधार कवि-प्रतिभा है। कुन्तक का दूसरा तर्क यह था कि माधुर्य आदि गुणों का आधार भौगोलिक अथवा प्रादेशिक नहीं हो सकता और यदि ऐसा होता तो प्रदेश-विशेष के कवि ठीक एक-सी ही काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत करते। तीसरा तर्क यह था कि प्रतिभा आदि गुण प्रदेशजन्य नहीं अपितु व्यक्तिनिष्ठ होते हैं—

कुन्तक के अनुसार काव्यरीति अथवा मार्ग का मूलाधार कवि-स्वभाव होता है और यद्यपि अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण कवियों के अनन्त भेद हो सकते हैं फिर भी कुन्तक ने सामान्यतः तीन मार्ग बताये हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इन तीनों मार्गों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

सुकुमार मार्ग के लक्षण प्रस्तुत करते हुए कुन्तक ने कई बातें कही हैं। पहली बात तो यह कि सुकुमार मार्ग में सहज प्रतिभा का प्रस्फुरण होता है और इस कारण इस मार्ग में एक प्रकार का स्वाभाविक सौन्दर्य बना रहता है। दूसरी बात यह कि सुकुमार मार्ग में आहार्य-कौशल का अभाव होता है और सहज, स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण सहृदयों का मनः प्रसादन होता है। तीसरी बात यह कि सुकुमार मार्ग में अविचरित वैदग्ध्य की स्थिति होती है और शब्द-अर्थ का सहज चमत्कार दीख पड़ता है।

विचित्र मार्ग—विचित्र मार्ग अत्यन्त कठिन मार्ग होता है। कुन्तक ने इस मार्ग की तुलना खड्ग की धार के साथ की है। कुन्तक के अनुसार विचित्र मार्ग में शब्द और अर्थ का प्रतिभा-जात चमत्कार के दर्शन होते हैं और अलंकारों की जग-मगाहट स्पष्टतः दीख पड़ती है। अलंकारों की छटा के सहारे समूचा काव्य जगमगा उठता है। इस मार्ग में उक्ति-वैचित्र्य का सौन्दर्य दीखता है और प्रतीयमान अर्थ के

चमत्कार से सम्पूर्ण काव्य चरम सौन्दर्य को प्राप्त करता है। अपनी रुचि से प्रेरित होकर जब कभी कोई कवि विचित्र मार्ग का अनुसरण करता है तो असुन्दर वस्तुएँ भी सौन्दर्ययुक्त हो जाती हैं। यहाँ अभिधा हतप्रभ ही रहती है। वाक्य की सम्पूर्ण शक्ति अपना चमत्कार दिखाती है और सहृदय को आनन्दित करती है।

मध्यम मार्ग—मध्यम मार्ग में उपर्युक्त दोनों मार्गों का सांकर्य देखा जा सकता है। इस मार्ग में वैचित्र्य और सौकुमार्य—दोनों भाव ही समाहित रहते हैं। स्वभावतः मध्यम मार्ग में सहज और आहार्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

आचार्य कुन्तक ने इन मार्गों के विवेचन में दो प्रकार के गुणों का वर्णन भी किया है—विशेष और सामान्य गुण। सामान्य गुण तीनों मार्गों में समान रूप से रहते हैं। सामान्य गुणों की संख्या दो है—औचित्य और सौभाग्य। विशेष गुण चार होते हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य। यद्यपि ये विशेष गुण भी तीनों मार्गों में रहते हैं फिर भी प्रत्येक मार्ग में इनका स्वरूप बदलता रहता है।

वक्रोक्ति और रीति-सिद्धान्त की तुलना करने पर दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य और साम्य से कहीं अधिक वैषम्य स्पष्ट हो सकेगा। जब हम इन दोनों सिद्धान्तों के साम्य भाव की बात करते हैं तो सबसे पहले यही बात सामने आती है कि ये दोनों सिद्धान्त ही देहवादी हैं अर्थात् दोनों सिद्धान्त वस्तुपरक हैं। तथापि इन दोनों सिद्धान्तों की वस्तुपरकता में पर्याप्त अन्तर है क्योंकि रीति-सिद्धान्त में रचना-कौशल को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करके व्यक्तित्व को प्रायः उपेक्षित ही रहने दिया गया है और दूसरी ओर वक्रोक्ति-सिद्धान्त में स्वभाव को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। दूसरी बात यह है कि रीति-सिद्धान्त रस और ध्वनि के प्रति इतना निष्ठावान नहीं है जितना कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त। वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रबन्ध-वक्रता, वस्तु-वक्रता आदि का प्राण-तत्त्व रस को स्वीकार किया गया है, जबकि रीति-सिद्धान्त में रस का उल्लेख केवल एक गुण (कान्ति) के अंग के रूप में किया गया है। इसका एक मुख्य कारण यह था कि रस-ध्वनि आदि सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा वक्रोक्ति-सिद्धान्त से पूर्व ही हो चुकी थी, अतः वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर रस-ध्वनि का प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक था। वक्रोक्ति और रीति-सिद्धान्तों में एक महत्त्व-पूर्ण साम्य यह भी है कि दोनों ही काव्य को आत्माभिव्यक्ति नहीं स्वीकार करते और दोनों के मतानुसार काव्य कवि-नैपुण्य का परिणाम है तथा काव्य का सृजन नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य इन दोनों सिद्धान्तों की व्याप्ति से सम्बन्धित है। रीति-सिद्धान्त का विस्तार केवल पद-रचना तक ही है जबकि वक्रोक्ति का प्रसार वर्ण से लेकर पूर्ण प्रबन्ध तक माना गया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रीति की तुलना में वक्रोक्ति का अत्यन्त व्यापक आधार है। स्पष्टतः रीति का क्षेत्र केवल काव्य-शिल्प तक ही है जबकि वक्रोक्ति का प्रसार अत्यन्त विस्तृत है।

वक्रोक्ति और ध्वनि—वक्रोक्ति-सिद्धान्त का जन्म वस्तुतः प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। वक्रोक्ति-सिद्धान्त के रूप में कुन्तक ने काव्य के देहवादी रूप की प्रतिष्ठा का अन्तिम विफल प्रयास किया था। वक्रोक्ति और ध्वनि-सिद्धान्तों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर—कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। दोनों सिद्धान्तों में वैचित्र्य की समान वांछा होती है। दोनों सिद्धान्तों में ही सामान्य उक्ति के त्याग और असाधारण की विवक्षा सुस्पष्ट है। कुन्तक और आनन्दवर्द्धन दोनों ही यह मानते हैं कि काव्य में वैचित्र्य की उत्पत्ति अलौकिक प्रतिभा से ही सम्भव हो पाती है। वक्रोक्ति और ध्वनि दोनों में अद्‌भुत व्याप्ति-साम्य भी देखने को मिलता है। जिस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का विस्तार काव्य के सर्वाधिक सूक्ष्म अंश से लेकर सर्वाधिक व्यापक अंश तक किया है उसी प्रकार कुन्तक ने भी वक्रोक्ति का क्षेत्र वर्ण से लेकर प्रबन्ध-काव्य तक माना है। यही नहीं, वक्रोक्ति के अनेक भेदों का अन्तर्भाव ध्वनि के विभिन्न रूपों में सहज ही हो जाता है। इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति में ध्वनि की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार की गयी है। तथापि इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जिस प्रकार ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन सौन्दर्य तथा व्यंजकता के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति मानते हैं ठीक उसी प्रकार कुन्तक सौन्दर्य और वक्रता के मध्य भी ऐसा ही अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और स्वभावोक्ति—भारतीय काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति की स्थिति को लेकर विस्तार से विचार किया गया है और इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्तक ने सर्वथा मौलिक और निर्भ्रान्त चिन्तन का परिचय दिया है। स्वभावोक्ति का स्वरूप विवेचन करते हुए कुन्तक कहते हैं—स्वभावोक्ति का अर्थ होता है स्वभाव का वर्णन, कथन आदि और स्वभाव का आशय वस्तु की उन विशेषताओं, लक्षणों आदि से होता है जिनके कथन से उस वस्तु का ज्ञान होता है। इस प्रकार वस्तु-वर्णन वस्तुतः स्वभाव का ही वर्णन है क्योंकि स्वभाव से विमुक्त होकर वस्तु ही कहाँ रह जाती है। इस सम्बन्ध में कुन्तक दूसरी बात यह कहते हैं कि काव्य के क्षेत्र में केवल उन्हीं वस्तुओं का वर्णन होता है जो सुन्दर हों। इसके विपरीत संसार में सुन्दर और असुन्दर सभी वस्तुओं का वर्णन मिल जाता है। अतः कहा जा सकता है कि काव्य में उन्हीं वस्तुओं का वर्णन होता है जिनमें स्वाभाविक सौन्दर्य हो और इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि काव्य में वर्ण्य-विषय सुन्दर स्वभाव है। स्वभावतः वह अलंकार्य ही हो सकता है, अलंकार नहीं। इसी सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठता है कि यदि स्वभाव वर्णन को ही अलंकार स्वीकार कर लिया जाये तो उसका अलंकार्य क्या होगा? यदि उसे ही अलंकार्य मान लिया जाये तो वह असम्भव होगा। इस सम्बन्ध में एक और बात यह है कि यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मान लिया जाये तो उपमादि अलंकारों में स्वभावोक्ति अलंकार की क्या स्थिति होगी। स्वभाव कथन तो सभी वस्तुओं में अनिवार्यतः होता है।

स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में भामह ने सर्वप्रथम विधिवत् विवेचन प्रस्तुत किया है। भामह ने स्वभावोक्ति को एक अलंकार के रूप में मान्यता दी है। भामह के पश्चात् दण्डी ने स्वभावोक्ति को जाति का पर्याय मानते हुए उसके चार भेद किये हैं जिनका आधार जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया है। दण्डी के अनुसार स्वभावोक्ति में वस्तुओं आदि की विशेषताओं का स्वाभाविक वर्णन होता है। उद्भट ने स्वभावोक्ति का रूप सीमित करते हुए उसका विस्तार केवल क्रियारत मृगशावकादि की लीलाओं तक ही स्वीकार किया है। रुद्रट ने पुनः स्वभावोक्ति को एक महत्त्वपूर्ण अलंकार का गौरवपूर्ण पद दे दिया। इसी प्रकार स्वभावोक्ति की स्थिति को लेकर काव्यशास्त्रियों में चिन्तन-विवेचन चलता रहा। आचार्य कुन्तक ने स्वभावोक्ति का अलंकार-रूप स्वीकार नहीं किया। स्पष्टतः विद्वानों के दो वर्ग हो जाते हैं जिनमें से एक वर्ग तो स्वभावोक्ति को शोभाकारक अलंकार के रूप में मान्यता देता है जबकि दूसरा वर्ग तो उसे अलंकार नहीं मानता।

वस्तुतः इन दोनों वर्गों द्वारा प्रस्तुत तर्कों-वितर्कों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वभावोक्ति का काव्यत्व तो निश्चय ही निर्विवाद है किन्तु उसका अलंकारतत्त्व पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाता। कुन्तक भी स्वभावोक्ति का काव्यतत्त्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे एक अलंकार-रूप मानना कुन्तक को स्वीकार नहीं है।

वक्रोक्ति और रस—यद्यपि प्रत्यक्षतः कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त विशुद्ध रूप से एक देहवादी अवधारणा लगती है तथापि उनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त में गहराई से देखने पर रस की भी स्वीकृति मिलती है। कुन्तक के प्रकारान्तर से रस की महत्ता मुक्त कंठ से स्वीकार की है और इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कुन्तक द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण और काव्य-प्रयोजन उल्लेख्य हैं। काव्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए कुन्तक कहते हैं कि—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि ।'

उपर्युक्त काव्य-लक्षणों में कुन्तक ने वक्र कवि व्यापार के साथ-साथ 'तद्-विदाह्लादकारिता' की स्थिति भी अनिवार्य मानी है। दूसरे शब्दों में, कुन्तक ने काव्य की अन्य विशेषताओं के साथ-साथ यह भी कहा है काव्य ऐसा होना चाहिए जो सहृदयों को आह्लादित करे। इसी प्रकार काव्य-प्रयोजनों का वर्णन करते हुए भी कुन्तक ने कहा है कि—

'चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदाम ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।'

अर्थात् काव्यामृत का रस सहृदयों के मन में चतुर्वर्गफल प्राप्ति के आस्वाद से भी अधिक बड़ा चमत्कार उत्पन्न करता है। 'चमत्कारो' का अर्थ स्पष्ट करते हुए

कुन्तक पुनः कहते हैं कि 'आह्लादः पुनः-पुनः क्रियते' अर्थात् आनन्द का निरन्तर विस्तार होता जाता है। इस सम्बन्ध में यह शंका उठायी गयी है कि उपर्युक्त पंक्तियों में कुन्तक आह्लाद पर बल दे रहे हैं, रस पर तो नहीं, तो फिर काव्य से प्राप्त होने वाले आनन्द को रसानन्द कैसे मान लिया जाये। इस शंका का समाधान स्वयं कुन्तक ने ही सुकुमार मार्ग का विवेचन करते हुए किया है। उनके मतानुसार 'तद्विद' का अर्थ सहृदय से है और सहृदय रसादि के परम तत्त्व का वेत्ता होता है। अतः कुन्तक रस की महत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं। वक्रोक्ति-सिद्धान्त के सुकुमार और विचित्र मार्गों के विवेचन में भी कुन्तक ने रस के चमत्कार की बात कही है। सुकुमार मार्ग का विश्लेषण करते हुए कुन्तक कहते हैं कि 'रसादिपरमार्थज्ञमनः संवादसुन्दरः' अर्थात् रसादि के परमतत्त्व के ज्ञाता सहृदय व्यक्तियों के मन के अनुरूप होने के कारण यह मार्ग (सुकुमार) सुन्दर होता है।

रस और वक्रोक्ति के परस्पर सम्बन्ध की बात बहुत जटिल है और इसका मुख्य कारण यह है कि कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है और दूसरी ओर रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। इस प्रश्न पर कुन्तक ने विस्तार से विचार किया है और उनकी यह मान्यता है कि काव्य की आत्मा तो निस्सन्देह वक्रोक्ति ही है और वक्रोक्ति का आशय केवल उक्ति-वैचित्र्य न होकर उससे कुछ अधिक है। वक्रोक्ति कवि की प्रतिभा अथवा काव्यकला है अथवा यों कह सकते हैं कि काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। यह भी निर्विवाद है कि काव्य-रचना में शब्द-अर्थ का चमत्कार अनिवार्यतः स्थित होता है और अर्थ का चरम उत्कर्ष रस-रूप में ही हो सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति रूपी काव्य-कला के परमतत्त्व को रस कहते हैं। काव्य का मूल तत्त्व तो वक्रोक्ति है किन्तु वक्रोक्ति की समृद्धि का मूल आधार रस है। इसी प्रसंग में कुन्तक यह भी मानते हैं कि काव्य में रस की स्थिति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वक्रता न हो। उसके विपरीत वक्रता की स्थिति रस के अभाव में भी सम्भव है, भले ही रसहीन वक्रता रसपूर्ण वक्रता जितनी आकर्षक और सुन्दर न हो। अतः कुन्तक के मतानुसार रस के बिना भी काव्य तो हो सकता है किन्तु वक्रता के अभाव में तो काव्य हो ही नहीं सकता और कदाचित इसी कारण कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित घोषित किया है। तथापि उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक ने रस की महत्ता भी अवश्य स्वीकार की है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कुन्तक काव्य का जीवित तो वक्रोक्ति को ही मानते हैं किन्तु रस की महत्ता भी मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं, तथापि कुन्तक रस को काव्य का जीवित मानने के लिए तत्पर नहीं है। रस और वक्रोक्ति का सम्बन्ध यही है।

वक्रोक्ति और औचित्य—काव्य में ही नहीं, जीवन के समग्र अर्थ-व्यापार में औचित्य का निर्विवाद महत्त्व बना रहा है। औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य

क्षेमेन्द्र के अनुसार 'उचिताभिधानजीवितत्वाद' अर्थात् औचित्यपूर्ण कथन ही जीवन है। प्रकारान्तर से आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को वक्रता का प्राणतत्त्व मानते हैं। उनके मतानुसार काव्य का समग्र सौन्दर्य इसी एक तत्त्व पर निर्भर करता है। औचित्य का आशय यथानुरूप कथन से है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत वर्णित विभिन्न प्रकार की वक्रताओं के विवेचन में कुन्तक ने किसी न किसी रूप में औचित्य के निर्वाह पर बल दिया है। इस दृष्टि से कुन्तक की पदपूर्वार्द्ध-वक्रता तथा प्रत्यय-वक्रता के विभिन्न भेद-उपभेदादि उल्लेखनीय हैं जिनके विवेचन में कुन्तक ने किसी न किसी रूप में औचित्य के निर्वाह की बात आग्रहपूर्वक कही है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदाय के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति है।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति-सिद्धान्त—क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के परस्पर सम्बन्ध को लेकर भारतीय काव्याचार्यों में पर्याप्त विवेचन-विश्लेषण हुआ है। साहित्य के अध्येताओं के सम्मुख इस प्रश्न को उपस्थित करने वालों में आचार्य शुक्ल सर्वप्रथम हैं। तभी से इस प्रश्न पर विद्वान् लोग विचार करते रहे हैं। इस सम्बन्ध में और आगे विवेचन से पूर्व क्रोचे की मूल धारणाओं का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। क्रोचे एक आत्मवादी दार्शनिक थे और उन्होंने नये ढंग से आत्मा की दोहरी क्रियाओं का विश्लेषण किया है। क्रोचे के मतानुसार मानव-आत्मा की दो मूल क्रियाएँ हैं—विचारात्मक और व्यावहारात्मक। विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो रूप होते हैं—स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान जिसे कल्पना द्वारा प्राप्त किया जाता है और प्रमेय ज्ञान जिसे बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो भेद होते हैं—आर्थिक और नैतिक। आर्थिक भेद का सम्बन्ध सांसारिक सुख-सुविधाओं से होता है और नैतिक भेद का सम्बन्ध सत्-असत् के विवेक से होता है। क्रोचे के मतानुसार कला का सम्बन्ध स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान के साथ होता है जिसे क्रोचे सहाजानुभूति भी कहते हैं। इस प्रकार क्रोचे के अनुसार समूची कला सहजानुभूति होती है। सहजानुभूति का भेद-निरूपण करते हुए क्रोचे कहते हैं कि सहजानुभूति न तो पदार्थ-बोध है और न संवेदन ही। पदार्थ-बोध तो तभी सम्भव है जबकि पदार्थ की उपस्थिति हो किन्तु सहजानुभूति उसके अभाव में भी हो सकती है। संवेदन भी एक प्रकार का अमूर्त स्पन्दन होता है जिसकी अनुभूति तो होती है किन्तु आत्मा इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती। इसके विपरीत सहजानुभूति अनिवार्यतः अभिव्यंजना-रूप होती है अथवा प्रत्येक सहजानुभूति अभिव्यंजना भी होती है। यदि उसकी अभिव्यंजना नहीं हो पाती तो वह निश्चित रूप से सहजानुभूति नहीं, कुछ और है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है। सहजानुभूति प्रत्येक व्यक्ति को होती है और सहजानुभूति अनिवार्यतः अभिव्यंजना रूप भी होती है। इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक

प्रश्न यह उठता है कि यदि क्रोचे के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को ही कलाकार मान लिया जाये तो साधारण व्यक्ति और कलाकार के मध्य क्या भेद रह पायेगा ? इस शंका का समाधान करते हुए क्रोचे कहते हैं कि सामान्य व्यक्ति और कलाकार के मध्य सहजानुभूति की व्यापकता का अन्तर बना रहता है और वही अन्तर इन दोनों की विभाजन-रेखा के रूप में समझा जा सकता है।

कला का विवेचन करते हुए क्रोचे कहते हैं कि कला भावरूप नहीं अपितु ज्ञान रूप होती है और इसका मूल कारण यह है कि सहजानुभूति स्वयं में एक प्रकार का ज्ञान है। इसी सम्बन्ध में क्रोचे यह भी कहते हैं कि कला अपने आप में अखण्ड और अविभाज्य होती है। अभिव्यंजना को एक में समन्वित कर लेती है। अतः कला को विभिन्न काव्यांगों में विभाजित नहीं किया जा सकता। कला अथवा अभिव्यंजना का कोई वर्गीकरण भी नहीं हो सकता क्योंकि वह तो अपने आप में एक अखण्ड सत्ता है जिसके न तो अंग हो सकते हैं न भेद।

कला एक आध्यात्मिक क्रिया की तरह होती है और उसका मूर्त भौतिक रूप कलाकृति में देखा जा सकता है। तथापि यह आवश्यक नहीं है कि उसका मूर्त अथवा भौतिक रूप हो ही। सहजानुभूति तो सहज होती है। इच्छा हो अथवा न हो, सहजानुभूति तो होगी ही किन्तु उसकी अभिव्यंजना अर्थात् उसे मूर्त भौतिक रूप प्रदान करना हमारी इच्छा पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, सहजानुभूति को बाह्य रंग रूप प्रदान करना नितान्ततः हमारी इच्छा पर निर्भर करता है और ऐसा करने के लिए शिल्प-विधान की अपेक्षा रहती है।

अभिव्यंजना का उद्देश्य केवल अभिव्यंजना ही होता है, और कुछ नहीं। इसी आधार पर कला का कोई भी बाह्य उद्देश्य नहीं हो सकता। कला का उद्देश्य स्वयं कला ही है, उससे यदि आनन्द की प्राप्ति होती है तो वह सहचारी रूप में ही होती है, मूल लक्ष्य के रूप में नहीं।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की मूल धारणाओं और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का तुलनात्मक विश्लेषण करने से इन दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य और वैषम्य परिलक्षित होता है।

साम्य—(1) क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त में सर्वाधिक मौलिक साम्य तो यह है कि दोनों ही विशुद्ध रूप से देहवादी हैं और अभिव्यंजना को ही काव्य का आधारभूत तत्त्व मानते हैं। दोनों ही 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त के पोषक हैं और इस कारण दोनों की स्थापनाएँ केवल अभिव्यंजना के भीतर ही सिमटी हुई हैं।

(2) कुन्तक और क्रोचे—दोनों ने ही काव्य-रचना के प्रसंग में कल्पना-तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। क्रोचे ने तो स्पष्टतः कल्पना-तत्त्व की महत्ता स्वीकारी है क्योंकि उनके विवेचन का मूलाधार सहजानुभूति है जो विशुद्ध रूप से एक

कल्पनात्मक क्रिया है। दूसरी ओर कुन्तक ने कल्पना-तत्त्व शब्द का यथावत् प्रयोग तो नहीं किया किन्तु उनमें वक्रता, वैदग्ध्य, कवि-व्यापार आदि शब्दों से कल्पना-तत्त्व की पूरी गंध अवश्य आती है।

(3) कुन्तक की भाँति ही क्रोचे भी अभिव्यंजना अथवा कला को एक पूर्ण, अखण्ड और अविभाज्य इकाई के रूप में मानते हैं। दोनों ही कला के अंगों, उपांगों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। क्रोचे ने भी स्पष्टत: कहा है कि अभिव्यंजना अपने में अखण्ड है। उसमें अलंकार और अलंकार्य जैसा कोई भेद नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में कुन्तक के विवेचन और क्रोचे की उक्त मान्यता में अद्‌भुत साम्य सुस्पष्ट है।

(4) क्रोचे और कुन्तक अभिव्यंजना में किसी प्रकार कोटि-क्रम भेद स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में कुन्तक का मार्ग सम्बन्धी विवेचन उल्लेख्य है जिसमें कुन्तक स्पष्टत: कहते हैं कि विभिन्न काव्य-मार्गों में केवल प्रकार-भेद है, सौन्दर्य के न्यूनाधिक्य जैसी कोई बात नहीं है। क्रोचे भी यही बात कहते हैं और उनके अनुसार असफल अभिव्यंजना हो ही नहीं सकती, अभिव्यंजना होगी तो सफल ही होगी, अन्यथा होगी ही नहीं।

वैषम्य—क्रोचे और कुन्तक की मूल अवधारणाओं में सबसे पहला अन्तर तो यह है कि क्रोचे एक दार्शनिक हैं और इस कारण उन्होंने अलंकार-शास्त्र की सत्ता ही स्वीकार नहीं की है जबकि कुन्तक एक काव्यशास्त्री हैं और उन्होंने एक अलंकारवादी के रूप में अलंकारशास्त्र का सम्यक् विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुन्तक ने वक्रता और वार्ता में स्पष्ट भेद स्वीकार किया है और उन्होंने कई अलंकारों की सत्ता केवल इसी आधार पर स्वीकार की है कि उनमें कोई चमत्कार नहीं है। इसके विपरीत क्रोचे ऐसा कोई भेद नहीं स्वीकार करते और उनकी दृष्टि में उक्ति बस उक्ति ही होती है, उसमें चमत्कारपूर्ण तथा चमत्कारहीन जैसे कोई भेद नहीं होते। क्रोचे के मतानुसार काव्य का मूलाधार सहजानुभूति है जबकि कुन्तक की दृष्टि में काव्य का सर्वस्व कवि-व्यापार है और कुन्तक का यह कवि-व्यापार निश्चय ही एक बहुत व्यापक अवधारणा है। दूसरे शब्दों में, क्रोचे ने काव्य का मूल तत्त्व सहजानुभूति को माना है जो कि विशुद्ध रूप से एक आन्तरिक क्रिया है और इसके विपरीत कुन्तक के काव्य का मूल तत्त्व सौन्दर्य के प्रातिभ अन्त:स्फुरण को माना है किन्तु उसके साथ ही रचना-कौशल को भी कवि-व्यापार का एक आवश्यक अंग स्वीकार किया है। इस भेद की स्थिति का कारण कदाचित् यही है कि क्रोचे की दृष्टि एक दार्शनिक की दृष्टि थी जबकि कुन्तक का चिन्तन एक काव्यशास्त्री का व्यावहारिक चिन्तन था।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त में एक अन्य महत्त्व-पूर्ण भेद काव्य के उद्देश्य को लेकर किया जाता है। क्रोचे के मतानुसार अभिव्यंजना

का उद्देश्य अभिव्यंजना ही है, इससे अधिक कुछ नहीं । इसके विपरीत कुन्तक के मतानुसार काव्य का उद्देश्य रमणीयता के साथ-साथ आह्लादकारित्व भी है, अर्थात् कुन्तक के मतानुसार काव्य का आह्लादपूर्ण होना आवश्यक है। कुन्तक का यह आह्लाद अथवा आनन्द चतुर्वर्ग फल प्राप्ति से भी बढ़कर है। दूसरी ओर, क्रोचे आनन्द को काव्य का सहचारी भाव तो मानते हैं किन्तु उसे काव्य का मूल उद्देश्य अथवा प्रयोजन नहीं मानते।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इन दोनों सिद्धान्तों में जो किंचित साम्य भी दीखता है वह सांयोगिक है। सचाई यह है कि अभिव्यंजनावाद एक प्रकार से अभिव्यंजना का दर्शन है जो कि काव्यशास्त्र से नितान्त भिन्न अवधारणा है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि "क्रोचे की मानसिक अभिव्यंजना जो मौलिक प्रयोजनों से, इच्छा से नियन्त्रित है, कुन्तक की बाह्य शाब्दिक अभिव्यक्ति के रूप में मुख्यतः परिणति लेने वाली 'वक्रोक्ति' से कोई समान भूमिका नहीं रखती।"

समग्र मूल्यांकन—कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त और वक्रोक्ति के अनेकशः भेदों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य के बहुविध पक्ष जैसे कि अप्रस्तुत विधान, अलंकार रीति, ध्वनि तथा रस सभी समा जाते हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति को सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य के पर्याय के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है और निस्सन्देह यह उनकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की एक अन्य उपलब्धि वक्रोक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में है। वक्रोक्ति केवल उक्ति चमत्कार ही नहीं है, अपितु वह कवि-व्यापार अथवा कवि-कौशल भी है। इस आधार पर आलोचकों का एक बहुत बड़ा वर्ग कुन्तक को कलावादी मानता है तथापि इस सम्बन्ध में कुन्तक का दृष्टिकोण अतिवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने काव्य के रमणीय होने के साथ-साथ उसका आह्लादपूर्ण होना भी स्वीकार किया है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की एक अन्य उपलब्धि काव्य के प्रसंग में कल्पना की महत्ता प्रतिष्ठित करता है। रस-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य का प्राणतत्त्व भाव होता है। इसके विपरीत अलंकारवादियों के अनुसार काव्य से उत्पन्न होने वाला आनन्द भाव का उत्कर्ष नहीं अपितु कल्पना का चमत्कार होता है। रसवादी आचार्यों के अनुसार काव्य मनुष्य की चित्तवृत्तियों को उद्दीप्त करता है जबकि अलंकारवादी यह मानते हैं कि काव्य मनुष्य की कल्पना-शक्ति को उद्बुद्ध करता है। जहाँ तक वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सम्बन्ध है वह वस्तुतः अलंकार-सिद्धान्त का ही विकास है। वक्रोक्ति का मूलाधार कल्पना है किन्तु यह कल्पना केवल कविनिष्ठ ही है, सहृदय के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। ध्वनि और वक्रोक्ति की यही विभाजन-रेखा है।

काव्य में रस की स्थिति के सम्बन्ध में कुन्तक की अवधारणा निश्चय ही

चिन्त्य है क्योंकि कुन्तक रस को वक्रता का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हुए भी, अंगी वक्रता को ही मानते हैं। दूसरे शब्दों में, कुन्तक के मतानुसार, वक्रोक्ति के बिना काव्य की स्थिति ही सम्भव नहीं है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि कुन्तक रसविहीन काव्य की सत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं। कुन्तक स्पष्ट शब्दों में कहता है कि रस वक्रता का उत्कर्ष तो करता है किन्तु ऐसा नहीं है कि रस के अभाव में वक्रता हो ही नहीं सकती। कुन्तक की यह धारणा निस्सन्देह सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। क्योंकि यह वस्तुतः चिन्त्य है कि क्या रस के अभाव में केवल वक्रता के सहारे काव्य जीवित रह सकता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "भाव-सौन्दर्य के हीन शब्द क्रीड़ा या अर्थ क्रीड़ा में निश्चय ही एक प्रकार का चमत्कार होता है, परन्तु वह काव्य का चमत्कार नहीं है क्योंकि इस प्रकार के चमत्कार से हमारी कुतूहल-वृत्ति का ही परितोष होता है, उससे अंतश्चमत्कार या आनन्द की उपलब्धि नहीं होती जो काव्य का अभीष्ट है। वक्रता काव्य का अनिवार्य धर्म है यह सत्य है, परन्तु वह उसका जीवित या प्राण-तत्व है यह सत्य नहीं है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्त्व है। व्यक्तित्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है फिर भी व्यक्तित्व आत्मा अथवा जीवित तो नहीं है। यही वक्रोक्तिवाद की परिसीमा है और यही कलावाद की या कल्पनावाद की।"

तथापि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की अपनी विशिष्ट उपलब्धियाँ भी हैं। काव्य के कलापक्ष का इतना विस्तृत और क्रमबद्ध विवेचन सम्भवतः किसी भी अन्य काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय में नहीं हुआ। यद्यपि काव्य के वस्तुगत सौन्दर्य के उद्घाटन की दिशा में कुन्तक के पूर्व भी वामन, दण्डी, भामह आदि ने महत्त्वपूर्ण प्रयास किये हैं, तथापि उनकी दृष्टि और उनका चिन्तन कुन्तक की-सी व्यापकता प्राप्त नहीं कर सका। कुन्तक ने सूक्ष्मतम अवयव से लेकर प्रबन्ध तक में वक्रोक्ति का विस्तार दिखलाया है और इस प्रकार उन्होंने भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र में नितान्त मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। काव्य में कलापक्ष की महत्ता भले ही भावपक्ष अथवा रसादि जितनी न हो किन्तु उसकी महत्ता को नकारा भी नहीं जा सकता। इस आधार पर कला सम्बन्धी विवेचन रस सम्बन्धी विवेचन-सा ही महत्त्वपूर्ण है। कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य के इसी कलापक्ष का विशद विवेचन हुआ है और यह निर्विवाद है कि कलापक्ष का इतना मौलिक और विस्तृत विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में ही नहीं अपितु पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में भी नहीं हुआ। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कुन्तक ने भारतीय काव्यशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया है।

7
रस-सिद्धान्त

उपक्रम—'रस' शब्द का परिचय भारत के प्राचीनतम साहित्य में मिलता है और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस के सुव्यवस्थित विवेचन से बहुत पहले 'रस' शब्द का प्रयोग होता था। आरम्भ में रस का प्रयोग प्रायः चार प्रकार के अर्थों में किया जाता था—पदार्थों का रस, आयुर्वेद का रस, साहित्य का रस और भक्ति का रस। सामान्य व्यवहार में रस के ये चारों अर्थ आज भी प्रवर्तमान हैं। भारतीय वाङ्मय के आदि रूप अर्थात् वेदों, उपनिषदों आदि में रस का प्रयोग किया जाता रहा। निस्सन्देह रस का यह प्राचीनतम प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में होता रहा है। ऋग्वेद में रस का उल्लेख मधु और सोमरस के रूप में हुआ है—

'जन्मे रसस्य वावृध्ने।
स्वादू रसो मधुपेयो वराय।'

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर रस का प्रयोग सोमरस के रूप में किया गया है—

'सोमो अर्वति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसन्।
सुवीरो अभिशास्तिपाः ॥'

अर्थात् संसार को धारण करने वाले सोम इन्द्रिय-पोषण रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में बहुचर्चित सोमरस वैदिक युग के आर्यों को अत्यधिक प्रिय था। सोमरस के रूप में 'रस' शब्द के प्रयोग से स्वभावतः रस का अर्थविकास हो गया और परिणाम यह हुआ कि रस के साथ सोमरस का अपूर्व आस्वाद, स्फूर्ति, शक्ति और मद का भी समावेश हो गया। सोमरस का आस्वाद आह्लादपूर्ण होता था। कालान्तर में आह्लाव का अर्थ सूक्ष्म होता गया और फिर वह भौतिक आह्लाद न रहकर आत्मा का आह्लाद बन गया। इस प्रकार वैदिक युग में ही रस का प्रयोग आत्मा के आनन्द के रूप में किया गया। उदाहरण के लिए, अथर्ववेद की अग्रलिखित पंक्तियाँ देखिये—

की ही रहती है। अपनी सत्ता के द्वारा हम ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जिसमें संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और उस आनन्द का पर्यवसान अपनी चेतना में हो जाता है।" रस की इस अभूतपूर्व सिद्धि में सत्वगुण के साथ रजोगुण और तमोगुणों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रजोगुण के कारण हमारी आत्मा में द्रुति उत्पन्न होती है जबकि तमोगुणों के प्रभाव से हमारी आत्मा का विस्तार होता है और सत्वगुण का प्रभाव यह होता है कि उसका विकास हो जाता है।

भट्टनायक के रस-सिद्धान्त की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि साधारणीकरण की परिकल्पना है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार के आधार पर साधारणीकरण की जो मौलिक परिकल्पना प्रस्तुत की है, उसके प्रति अभिनवगुप्त सरीखे परवर्ती आचार्य सहज हो नतमस्तक हो जाते हैं। यह एक दूसरी बात है कि परिवर्ती आचार्यों ने साधारणीकरण के क्षेत्र, प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किये किन्तु साधारणीकरण की मूल अवधारणा निर्विवाद रूप से भट्टनायक की उपलब्धि कही जायेगी। भट्टनायक के रस-विषयक चिन्तन की एक अन्य विशेषता सामाजिक की दृष्टि से रसास्वाद की प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण करना है। सामाजिक किस प्रकार रस का आस्वादन करता है—भट्टनायक ने इस विषय पर मौलिक चिन्तन का परिचय देते हुए कहा है कि उसके मन में स्थित तमोगुण और रजोगुण अंश का परिहार होकर सत्वगुण-अंश का उद्रेक होता है और इस प्रकार उसका मन नाटकादि का रसास्वाद प्राप्त करता है।

भट्टनायक के रस-विषयक चिन्तन के प्रति अभिनवगुप्त ने कई प्रकार के आक्षेप किये हैं। उनका सबसे पहला आक्षेप तो भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों के प्रति है। अभिनवगुप्त के अनुसार, 'इन दोनों व्यापारों का विवेचन भट्टनायक से पूर्व के किसी भी आचार्य द्वारा नहीं किया गया। अभिनवगुप्त के मतानुसार भट्टनायक को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के चिन्तन से प्राप्त हुई सामग्री की ही व्याख्या प्रस्तुत करनी चाहिए थी। अभिनवगुप्त की दूसरी आपत्ति यह है कि भट्टनायक रस की प्रतीति नहीं स्वीकार करते। अभिनवगुप्त का सशक्त तर्क यह है कि जिसकी प्रतीति ही नहीं होती उसकी सत्ता ही किस प्रकार सम्भव हो सकती है तथापि अभिनवगुप्त का रस-विषयक चिन्तन भट्टनायक का बहुत ऋणी है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के बहुचर्चित रस-सूत्र के सम्बन्ध में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की व्याख्याएँ ही प्रस्तुत नहीं की अपितु अपना स्वतन्त्र मत भी व्यक्त किया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के चिन्तन के रूप में बहुत-सी आधार-सामग्री प्राप्त हुई और स्वभावतः इस कारण उनका अपना मत परवर्ती आचार्यों के लिए आदर्श-रूप में मान्य हुआ। रस-विषयक परवर्ती चिन्तन पर अभिनवगुप्त की

'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेने तृप्तो न कुतश्च नोनः ।
तमेव विद्वान न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानन् ॥'

अर्थात् अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू ब्रह्म अपने रस से स्वयं ही तृप्त रहता है। वह अर्थात् ब्रह्म किसी भी विषय में कम नहीं है और जो उस धीर, अजर तथा सदा-तरुण आत्मा को जान लेता है वह कभी नहीं मरता।

वैदिक युग के अन्तिम चरण के रूप में समझे जाने वाले उपनिषद्-काल में चिन्तन की प्रवृत्ति पूर्णतः अन्तर्मुखी हो गयी थी और इसका परिणाम यह हुआ कि 'रस' शब्द का अर्थ और भी अधिक सूक्ष्म तथा तात्त्विक हो गया। उपनिषद्-काल में रस का प्रयोग केवल द्रव्य पदार्थ के रूप में ही नहीं अपितु आयुर्वेद के रस के रूप में होने लगा। तैत्तिरीय उपनिषद् में रस का उल्लेख इसी अर्थ में किया गया है—

'औषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः ।
रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।'

इसके पश्चात् यह शब्द विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रयुक्त हुआ और वहाँ जाकर 'रस' अत्यन्त सूक्ष्म और गहन अर्थों का परिचायक हो गया। धीरे-धीरे रस अपने भौतिक अर्थ से मुक्ति पाकर आध्यात्मिक अर्थ का अधिकारी हो गया। "इस प्रकार रस का अर्थ अन्न रस या पदार्थ रस से ब्रह्म रस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में ही पूरी कर लेता है।"

शास्त्रीय अर्थों में 'रस' शब्द का आविर्भाव वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में मिलता है जहाँ रस का प्रयोग इस प्रकार कहा गया है—

'रसो रतिः प्रीतिभावो रागो वेगः
समाप्तिरिति रति पर्यायः ।'

प्रस्तुत ग्रन्थ में रस का प्रयोग रति अथवा कामशक्ति के पर्याय के रूप में हुआ है। यह युग रामायण-महाभारत के बाद का भरतमुनि से पहले का युग है।

भारतीय साहित्य में रस-सिद्धान्त का निरूपण सर्वप्रथम भरतमुनि ने किया है। यद्यपि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का मूल विषय नाटक ही है तथापि भरतमुनि ने नाट्शास्त्र के छठे और सातवें अध्याय में रस के विभिन्न अंगों-उपांगों आदि का वर्णन किया है। भरतमुनि ने ही सर्वप्रथम रस के स्वरूप पर विचार किया। भरतमुनि स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं कि 'रस इति कः पदार्थः" अर्थात् रस क्या पदार्थ है? स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भरतमुनि कहते हैं कि "आस्वाद्यत्वात्" अर्थात् रस को इसी कारण रस कहते हैं कि उसमें आस्वाद प्रदान करने के गुण होते हैं। इस प्रकार भरतमुनि के अनुसार रस नाटक का वह तत्त्व होता है जोकि सहृदय को आस्वाद प्रदान करता है और जिसके आस्वाद से वह हर्षित हो उठता है। डॉ० गणपति चन्द्रगुप्त के अनुसार—"वह तत्त्व (रस) एक मिश्रित तत्त्व पदार्थ है जिसमें स्थायी भावों के साथ भावों व अनुभावों का अभिनय मिश्रित रहता है—या यों कहिए कि भावों, अनुभावों आदि से मिश्रित स्थायीभाव को जब अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत

किया जाता है तो उससे सामाजिक को जो आस्वाद प्राप्त होता है वही 'रस' है।'' इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भरत का रस-विषयक चिन्तन वस्तुगत ही है और इसका कारण कदाचित् यही है कि रस-सम्बन्धी शास्त्रीय अवधारणा का वह प्रारम्भिक चरण था।

भरतमुनि के अनुसार वाङ्मय की सर्वश्रेष्ठ विधा नाटक है और नाटक का प्राणतत्त्व रस होता है। भरत के अनुसार नाटक के संघटक तत्त्वों में रस-भावादि ही प्रमुख हैं और रस-भावादि के अभाव में नाटक की रचना नहीं हो सकती। भरत ने नाटक के चार प्रमुख अंग माने हैं—पाठ्य अर्थात् वस्तुतत्त्व, अभिनय, संगीत और रस। इन चार अंगों में भी पाठ्य, अभिनय और संगीत—इन तीन तत्त्वों की स्थिति रसाश्रयी है अर्थात् इन तीनों तत्त्वों की योजना रसानुरूप होनी चाहिए। नाटक के उद्देश्य की चर्चा करते हुए भी भरतमुनि ने रस का प्राधान्य स्वीकार किया है। भरतमुनि के मतानुसार नाटक का उद्देश्य है—

'दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनान्।
विश्रान्तिजननम् काले नाट्यमेतन्मयाकृतम्।'

अर्थात् मेरे द्वारा रचित यह नाट्य दुखी, थके हुए, शोकाकुल और बेचारे लोगों के लिए समय पर विश्रान्ति प्रदान करने वाला है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त की काव्यशास्त्रीय व्याख्या करने और उसके सम्बन्ध में स्वतन्त्र चिन्तन करने वाले भारतीय काव्यशास्त्रियों में भरत-मुनि का स्थान सबसे पहला है। भरतमुनि के पश्चात् रस सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय नहीं रहा और उनके पश्चात् रस-सिद्धान्त को लेकर काव्याचार्यों के स्पष्टतः दो वर्ग हो गये। एक वर्ग तो रस-सिद्धान्त का विरोधी हो गया और दूसरे वर्ग ने रस-सिद्धान्त का समर्थन किया। रस का विरोध करने वाले काव्याचार्यों में भामह, दण्डी, वामन, उद्भट तथा रुद्रट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रसवादी धारा में लोल्लट, शंकुक और रुद्रभट्ट आदि काव्याचार्यों के नाम उल्लेख्य हैं। यह स्थिति ईसा की पहली शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक की स्थिति है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस युग को ध्वनि पूर्ववर्ती युग कह सकते हैं। नौवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक रस सम्बन्धी स्थिति में किंचित परिवर्तन हो गया। इस युग को ध्वनि-युग के नाम से अभिहित किया जा सकता है। ध्वनि युग में रस को लेकर काव्य-शास्त्रियों के मुख्यतः तीन वर्ग हो गये—रसवादी, समन्वयवादी और स्वतन्त्र। रस-वादी काव्यशास्त्रियों में भी कुछ ऐसे थे जिन्होने प्रत्यक्ष रूप से रस का समर्थन किया है (भट्टनायक, भट्टतोत, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय, महिमभट्ट आदि) और कुछ ऐसे काव्यशास्त्री भी थे जिन्होंने रस की सत्ता तो स्वीकार की किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से। अप्रत्यक्ष रूप से रस का समर्थन करने वालों में ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन और औचित्यवादी क्षेमेन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। समन्वयवादियों में भोज को रखा जा

सकता है और स्वतन्त्र काव्यशास्त्रियों में कुन्तक की गणना की जा सकती है। ध्वनि-परवर्ती युग का समय ग्यारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक माना जाता है। ध्वनि-परवर्ती युग में भी रस की महत्ता अक्षुण्ण बनी रही।

रस का स्वरूप—भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त का उल्लेख सर्वप्रथम भरतमुनि ने किया था। रस-सम्बन्धी उनका बहुचर्चित सूत्र इस प्रकार है—

'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'

इस सूत्र में भरत ने रस की परिभाषा नहीं दी है अपितु रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का विवेचन किया है। तथापि भरतमुनि ने इसी सूत्र के माध्यम से रस के स्वरूप का विवेचन भी किया है और इस उद्देश्य से उन्होंने आगे चलकर कहा है कि "रस इति कः पदार्थः। उच्यते। आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसाना-स्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधि गच्छन्ति तथा नानाभावाभिनय व्यंजितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वाद-यन्ति सुमनसः ःक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाद्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।" अर्थात् जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों एवं द्रव्य-पदार्थों के मिश्रण से भोज्य रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुदादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षाडवादी' रस बनते हैं, उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों के संयोग से स्थायी भाव भी नाट्य रस को प्राप्त हो जाते हैं। भरतमुनि के उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रस को इसलिए रस कहते हैं क्योंकि वह आस्वाद्य होता है। इस प्रकार रस के स्वरूप-विवेचन के सम्बन्ध में भरतमुनि ने कई महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं।

इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि रस आस्वाद्य होता है, आस्वाद नहीं होता। दूसरे शब्दों में, रस अपने आप में कोई अनुभूति नहीं होती, अपितु अनुभूति का विषय होता है। इस आधार पर रस विषयिगत न होकर, विषय-गत अवधारणा है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विविध भावों, अनुभावों तथा संचारी भावों से संयुक्त होकर तथा तीनों प्रकार के अभिनय-माध्यमों से प्रकट होकर स्थायी भाव ही रस की स्थिति को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि स्थायी भाव अपने आप में रस नहीं होता, वह तो केवल ऐसा आधार होता है जो नाट्य सामग्री का संस्पर्श पाकर रस में परिणत हो जाता है। उदाहरण के लिए, अन्न के रस की बात लीजिए। अन्न का रस 'अन्न' नहीं कहला सकता, तथापि अन्न उस रस का आधार अवश्य है क्योंकि यदि अन्न ही नहीं होता तो उसके रस के होने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। इस प्रसंग में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि नाटक में जो स्थायी भाव अन्ततः रस में परिणत हो जाता है वह किसका स्थायी भाव होता है—सहृदय का, कवि का अथवा नायक का? इस शंका का समाधान करते हुए भरतमुनि कहते हैं कि जो स्थायी भाव रस की स्थिति

को प्राप्त करता है वह नायक का स्थायी भाव होता है और नायक लोक सामान्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रसंग में भरतमुनि यह भी स्पष्ट करते हैं कि सहृदय उस रस का आस्वाद तो अवश्य करता है किन्तु उसका यह आस्वाद अपने आप में रस नहीं होता। सहृदय को जो रस का आस्वाद होता है वह हर्ष आदि रूप में होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सहृदय रस का आस्वाद तो करता है किन्तु उसके आस्वाद का स्वरूप हर्ष आदि रूप में होता है। भरतमुनि यह भी स्पष्ट करते हैं कि कला का आस्वाद भी रस नहीं होता अपितु सहृदय के लिए वस्तुतः कला अथवा कलात्मक स्थिति आस्वाद का विषय अथवा सामग्री होते हैं। इस प्रकार भरतमुनि के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर रस की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है, "नाट्य-सौन्दर्य और काव्य-सौन्दर्य के माध्मम से स्थायी भाव की उपस्थिति ही रस है।" रस की यह परिभाषा निस्सन्देह विषयगत है, विषयिगत नहीं और इस आधार पर रस का स्वरूप आस्वाद्य है, अपने आप में आस्वाद नहीं।

कालान्तर में रस के स्वरूप-विवेचन के सारे प्रयास मूलतः भरत के इसी सूत्र को आधार मानकर किये गये। अभिनवगुप्त, दण्डी, विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियों ने भरतमुनि के इसी सूत्र को आधार मानकर अपने-अपने ढंग से रस का स्वरूप-विवेचन किया। तथापि इन परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने रस के स्वरूप का जो विवेचन किया उसकी सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यह रही कि भरतमुनि ने जिस रस को विषयगत सिद्ध किया था, उनके बाद के काव्याचार्यों ने उसी रस का स्वरूप विषयिगत बना दिया। फलतः भरतमुनि का आस्वाद्य (रस) क्रमशः आस्वाद बन गया। इस प्रकार रस का स्वरूप मुख्यतः दो प्रकार का सिद्ध किया जाने लगा—विषयगत जिसे काव्य का भावमूलक सौंदर्य भी कह सकते हैं और विषयिगत जिसका आशय उस काव्य-सौन्दर्य के आस्वाद से है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि रस का पहला स्वरूप अर्थात् उसका विषयगत रूप भरतमुनि की मौलिक चिन्तना का परिचायक है और विषयिगत रूप अभिनवगुप्त आदि काव्याचार्यों के परवर्ती विवेचन की सिद्धि है। अनन्त रस का विषयगत स्वरूप तो तिरोहित हो गया और उसका विषयिगत रूप अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का आस्वाद ही रस का मान्य रूप सिद्ध हुआ। आचार्य अभिनवगुप्त ने रस के इसी आस्वाद रूप का विवेचन किया और रस का यही विषयिगत रूप अन्ततः प्रतिनिधि रूप सिद्ध हुआ।

रस के इस विषयिगत विवेचन के अन्तर्गत अभिनवगुप्त ने पहली बात तो यह कही है कि काव्य अथवा नाटक आदि में विद्यमान विभाव, अनुभाव आदि रति आदि भावों के पोषक कारण होते हैं और कार्य-कारण का यह सम्बन्ध काव्य अथवा नाटक में नहीं रह जाता। काव्य तथा नाटक में निबद्ध हो जाने के पश्चात् विभाव, अनुभाव आदि उक्त कारणों का लौकिक रूप तिरोहित हो जाता है और वे अलौकिक रूप को प्राप्त होते हैं। सहृदय अथवा दर्शक इन कारणों अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के समवेत रूप का दर्शन अथवा साक्षात्कार करता है और उसी दर्शन-साक्षा-

त्कार को रस कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि इस प्रकार का दर्शन अथवा साक्षात्कार प्रत्यक्ष रूप से ही हो, आवश्यक नहीं है। कभी-कभी इस प्रकार का साक्षात्कार मन से ही हो जाता है। इसी क्रम में अभिनवगुप्त यह भी कहते हैं कि यह रस आस्वाद से भिन्न नहीं होता अर्थात् आस्वाद रूप ही होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि रस आस्वाद का विषय नहीं है अपितु अपने आप में आस्वाद है। काव्य अथवा नाटक में निबद्ध हो जाने के कारण विभाव-अनुभाव आदि अलौकिक रूप को प्राप्त हो जाते हैं, अतः स्वभावतः सहृदय भी अलौकिक विषय का आस्वाद करता है और इस कारण रस का स्वरूप भी अलौकिक हो जाता है। अभिनवगुप्त के शब्दों में, "तेनालौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृति-अनुमानलौकिक स्वसंवेदन विलक्षण एव" अर्थात् रस का आस्वाद अपने आप में अलौकिक होने के कारण स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न होता है। अभिनवगुप्त रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए यह भी कहते हैं कि जिस समय सहृदय अलौकिक विभाव, अनुभाव आदि के समवेत रूप का प्रत्यक्षतः अथवा हृदय से साक्षात्कार करता है, उस समय उसका हृदय सभी प्रकार के लौकिक बन्धनों, सीमाओं आदि से मुक्त हो जाता है। इसी आधार पर अभिनवगुप्त ने कहा है कि "रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्ति-मयी आनन्दचेतना है।

अभिनवगुप्त तथा अन्य परवर्ती आचार्यों ने रस के बहुत कुछ इसी रूप को अपनाया। आचार्य विश्वनाथ ने अपने रस सम्बन्धी विवेचन में प्रायशः इन्हीं विशेषताओं का परिणगन किया है। विश्वनाथ के शब्दों में—

'सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यों ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।'

अर्थात् चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारों से युक्त सहृदय लोग अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों से विमुक्त, ब्रह्मस्वाद सहोदर, लोकोत्तर-चमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्न होकर आस्वादन करते हैं। आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत रस की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर रस की कई विशेषताएँ उभरकर आती हैं जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) **रस आस्वाद-रूप है**—आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सहृदय रस का आस्वादन करता है किन्तु इस आस्वादन की रीति रस के अपने स्वरूप से भिन्न नहीं होती। दूसरे शब्दों में, रस अपने आप में आस्वाद-रूप होता है, आस्वाद्य नहीं होता। तथापि बोलचाल की भाषा में प्रायः यही कहा जाता है कि "सहृदय रस का आस्वादन करते हैं।" ऐसी स्थिति में एक ओर तो यह कहना कि रस का मूलतः आस्वाद रूप है, आस्वाद्य नहीं और दूसरी ओर यह कहना कि रस का आस्वादन

किया जाता है—परस्पर-विरोधात्मक कथन दीखते हैं। तथापि वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। इस भेद की स्थिति को समझने के लिए अद्वैतवाद दर्शन का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त होगा। अद्वैतवादी यह मानते हैं कि सर्वत्र एक ही आत्म-तत्त्व का प्रसार है। तात्त्विक दृष्टि से आत्मा को आनन्द रूप माना गया है तथापि प्रायः ऐसे प्रयोग किये जाते हैं कि आत्मा आनन्द का भोग करती है। यदि वह स्वयं में आनन्व-रूप है तो उसके द्वारा आनन्द भोगने की कल्पना विरोधपूर्ण भासित हो सकती है। वस्तुतः यह विरोध की भासित स्थिति केवल व्यवहार में ही और मूलतः आत्मा और उसका आनन्द एक ही बात है। इसी प्रकार आस्वाद्य और आस्वाद रूप रस एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। इन दोनों की अभिन्नता स्वतः सिद्ध है और इस प्रकार रस का आस्वाद रूप ही सिद्ध है।

(ख) रस की उत्पत्ति सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होती है—मानव मन में तीन प्रकार के गुणों की स्थिति मानी गयी है—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। चित्त की सर्वाधिक शुद्ध अवस्था वही होती है जिसमें रजोगुण और तमोगुण नहीं होते और केवल सतोगुण का ही प्रसार होता है। काव्य का आनन्द तभी उठाया जा सकता है जबकि सहृदय सांसारिक राग-द्वेष से ऊपर उठकर तथा सतोगुण से युक्त होकर काव्य-पाठ करता है। इसी प्रकार रस की उत्पत्ति की इस स्थिति में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—पहली तो यह कि रस का आस्वाद तभी सम्भव है जबकि सहृदय सांसारिक कथनों से मुक्त हो सके और दूसरी यह कि रस का यह आस्वाद अपने आप में सात्विक होता है, अर्थात् अत्यन्त उज्ज्वल और परिष्कृत होता है।

(ग) रस अखण्ड है—विद्वानों ने रस की इस विशेषता को मुख्यतः दो अर्थों में समझाया है—पहला तो यह कि भाव, विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से उत्पन्न होने वाले रस में इन सभी की एकान्वित अनुभूति होती है, अर्थात् जब विभाव, अनुभाव आदि समवेतरूप में रस में परिणत हो जाते हैं तो रस की परम सत्ता ही रह जाती है, विभाव, अनुभावादि की सत्ता तो रह ही नहीं जाती। रस की अखण्डता का दूसरा अर्थ यह है कि प्रमाता को रस की उपलब्धि तभी होती है जबकि वह पूर्ण तन्मयता के साथ काव्य अथवा नाटक का अध्ययन करे और इस पूर्ण तन्मयता की स्थिति के परिणामस्वरूप जिस रस की प्राप्ति होती है, वह विशुद्ध रूप से रस होता है, उसकी कोटियाँ नहीं होतीं।

(घ) रस की अनुभूति अन्य प्रकार के ज्ञान अथवा अनुभवों से मुक्त होती है—रस के स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में पहले कहा जा चुका है कि प्रमाता रस की अनुभूति तभी कर सकता है जबकि वह पूर्ण तन्मयता के साथ काव्य अथवा नाटक का अध्ययन करे। तन्मयता का आशय यही है कि स्व और पर आदि लौकिक बन्धनों से ऊपर उठकर अध्ययन किया जाये। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "वर्तमान सन्दर्भ में इसका आशय यह है कि रस की स्थिति में प्रमाता स्व, पर, तटस्थ आदि की भावना

से मुक्त हो जाता है—देश काल का बन्धन उसे नहीं व्यापता और वह प्रस्तुत प्रसंग के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता हुआ कुछ समय के लिए सर्वथा आत्मलीन हो जाता है।"

(ङ) रस स्वप्रकाशानन्द है—रस की इस विशेषता का अर्थ यह है कि "रस एक ऐसी आनन्दपूर्ण अनुभूति है जो कि आत्मचेतना से प्रकाशित होने के कारण अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध है।" रस की यह आनन्दावस्था अपने आप में विशुद्ध होती है, उसमें ऐन्द्रिय सुख की गंध नहीं होती।

(च) रस चिन्मय है—इस विशेषता का अर्थ यह है कि रस ज्ञानस्वरूप है।

(छ) रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है—रस के स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में पहले ही कहा जा चुका है कि "तेनलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृति-अनुमान-लौकिकस्वसंवेदन विलक्षण एव" अर्थात् रस अलौकिक-चमत्कार स्वरूप है जो कि स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न है। दूसरे शब्दों में, रस सभी प्रकार की परिभाषाओं से युक्त है। लोकोत्तर चमत्कारप्राण का अर्थ यही है कि उसका स्वरूप लौकिक शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक शंका यह उठायी जा सकती है कि जब रस को इसी लोक की वस्तु माना जाता है तो उसका आस्वाद लोकोत्तर कैसे हो सकता है। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि लोकोत्तर का आशय केवल यही है कि रस आस्वाद सामान्य इन्द्रियों से परे है।

(ज) रस ब्रह्मानन्द सहोदर है—आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार रस से प्राप्त होने वाला आनन्द ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होने वाले आनन्द-सा होता है। विश्वनाथ ने आनन्द के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। आनन्द मुख्यतः तीन प्रकार का हो सकता है—(क) लौकिक विषयादि से प्राप्त होने वाला आनन्द, (ख) ब्रह्मानन्द जो कि विशुद्ध रूप से आत्मा का आनन्द होता है और (ग) काव्यानन्द जिसे रस भी कहा जा सकता है। काव्यानन्द भी ब्रह्मानन्द की भांति ही आत्मा का आनन्द होता है। आनन्द के इन दोनों प्रकारों में प्रकृति का भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही आत्मा के आनन्द होते हैं। इस प्रकार के आनन्द की अनुभूति केवल आत्मा को होती है, शारीरिक इन्द्रियों को नहीं। रूपगत साम्य होते हुए भी ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द—दो सर्वथा पृथक् अवधारणाएँ हैं। आनन्द के इन दोनों प्रकारों में सर्वाधिक प्रमुख अन्तर तो यह होता है कि ब्रह्मानन्द तो आत्मा का ऐसा आनन्द होता है जिसकी 'मस्ती' बराबर बनी रहती है। इसके विपरीत काव्यानन्द अस्थायी होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में रूपगत साम्य तो है किन्तु फिर भी वे दोनों पृथक्-पृथक् अवधारणायें हैं। कदाचित इसीलिए कई विद्वान् इस बात से सहमत नहीं है कि ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में 'सहोदर' का-सा सम्बन्ध है। इसके पक्ष में मुख्यतः दो तर्क दिये जाते हैं—पहला तो यह कि ब्रह्मानन्द एक ऐसा आनन्द

होता है जो कभी समाप्त नहीं होता और इसके विपरीत काव्यानन्द अस्थायी होता है, दूसरा यह कि काव्यानन्द अथवा रस में लौकिक विषयों का पूर्णतः तिरोभाव नहीं होता।

रस के स्वरूप से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से ही कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनके सम्यक् विवेचन से रस का स्वरूप निश्चित रूप से अधिक स्पष्ट और निश्चयात्मक हो सकेगा। इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि भावानुभूति तथा रसानुभूति का एक दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या रसानुभूति अनिवार्य रूप से आनन्दमयी होती है और इसी के साथ जुड़ा हुआ एक प्रश्न यह है कि यदि रसानुभूति आनन्दमयी है तो उस आनन्द की प्रवृत्ति क्या है।

(क) भावानुभूति और रसानुभूमि का परस्पर सम्बन्ध—भावानुभूति और रसानुभूति के परस्पर सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार करने से पूर्व रसानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में आर० जी० कालिंगवुड ने विस्तार से विवेचन किया है। कालिंगवुड के मतानुसार, इन दोनों अनुभूतियों में पहला अन्तर तो यह है कि प्रत्यक्षानुभूति का आधार वास्तविकता होती है जबकि रसानुभूति मूलतः कवि-कल्पना पर आश्रित होती है। दूसरा अन्तर यह है कि प्रत्यक्षानुभूति विशुद्ध रूप से ऐन्द्रियक होती है और इस कारण वह अपरिष्कृत होती है जबकि रसानभूति में तीसरा अन्तर यह है कि प्रत्याक्षानुभूति में मानवीय भावों तथा भावनाओं आदि का उद्दीपन तो होता है किन्तु उसे अभिव्यक्ति नहीं मिल पाती जबकि रसानुभूति में भावों के उद्दीपन के साथ-साथ उनकी सम्यक् अभिव्यक्ति का भी पूर्ण अवसर बना रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्षानुभूति और रसानुभूति दो पृथक् अवधारणाएँ हैं।

जहाँ तक भावानुभूति और रसानुभूति के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि रसानुभूति निश्चित रूप से भावों पर आश्रित होती है। भावों के अभाव में रस की निष्पत्ति सम्भव ही नहीं है। तथापि रसानुभूति और भावानुभूति एक ही नहीं है। रस के स्थायी भाव मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—सुखद और दुखद। सुखद स्थायी भावों में रति, उत्साह, हास्य आदि भाव आते हैं तो दुखद स्थायी भावों में शोक, क्रोध तथा भय आदि भावों की गणना की जाती है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है कि रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी होती है तो भावानुभूति और रसानुभूति का पार्थक्य स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि करुण रस अन्ततः आनन्दपूर्ण होता है और शोक का भाव अनिवार्यतः दुःखपूर्ण होता है। यदि भावानुभूति एक ही होती तो करुण रस और शोक भाव की अन्तिम परिणति भी एक-सी होती। रसानुभूति और भावानुभूति के बीच का अन्तर लौकिक प्रेम-प्रसंग और किसी

चन करते हुए भट्टनायक ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं से अलग हटकर नयी बात कही है। अभिधा के अन्तर्गत अभिधा और लक्षणा—दोनों तरह की शब्द शक्तियों का समावेश हो जाता है और इसी शब्द-व्यापार के पश्चात् 'भावकत्व' व्यापार आरम्भ होता है और उसमें सामाजिक साधारणीकरण की स्थिति को प्राप्त होता है। भावकत्व व्यापार की स्थिति वह होती है जबकि काव्य के वर्णित विभाव आदि किसी व्यक्ति विशेष के विभाव आदि न रहकर सर्वसाधारण के विभावादि बन जाते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिए कि रंगमंच पर दुष्यन्त-शकुन्तला का रति-भाव प्रदर्शित किया जा रहा है। उसे देखकर सामाजिक इस प्रकार की शंकाओं में नहीं पड़ता कि रंगमंच पर अभिनीत रति-भाव ऐतिहासिक दुष्यन्त का रति-भाव है अथवा किसी अन्य दम्पत्ति का अथवा केवल नट-नटी का। भावकत्व शब्द का विवेचन करते हुए डॉ० सत्यदेव चौधरी कहते हैं कि "भावकत्व व्यापार काव्यनाटकीय उक्त व्यवहार को सार्वकालिक और सार्वदेशिक प्रेमी-प्रेमिकाओं के रीति-व्यवहार का साधारण रूप दे देता है। परिणामस्वरूप अब सामाजिक को न तो दुष्यन्त-शकुन्तला के वास्तविक रति-व्यवहार के मात्रा-बोध की आवश्यकता शेष रह जाती है और न उनके प्रति परम्परागत श्रद्धाजन्य संस्कारों के कारण रसानुभूति की प्राप्ति में कोई अन्य बाधा रह जाती है। साधारणीकरण होते ही सामाजिक का सत्वगुण उसके हृदयस्थ अन्य सब प्रकार के रजोगुण और तमोगुण सम्बन्धी भावों का तिरस्कार स्वयं प्रादुर्भूत हो जाता है।" भावकत्व शब्द-व्यापार के पश्चात् भोग अथवा भोजकत्व शब्द-व्यापार का आरम्भ होता है। भोजकत्व शब्द-व्यापार अपने आप में अलौकिक और विलक्षण होता है क्योंकि साधारणीकरण के पश्चात् सामाजिक में सत्वोद्रेक के कारण एक प्रकार की आनन्दपूर्ण अनुभूति जन्म लेती है जो कि सर्वथा विलक्षण प्रकृति की होती है। उस अनुभूति में सांसारिक बंधनों आदि के लिए कोई अवकाश नहीं होता, 'स्व' और 'पर' के भाव तिरोहित हो जाते हैं और वह विशुद्ध आनन्दानुभूति होती है। भट्टनायक के अनुसार लोक-व्यवहार में हमें 'अपने' 'पराए' का विवेक बना रहता है और इस कारण हम दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुख कभी नहीं समझ सकते। स्वभावतः इस स्थिति एकमात्र कारण यही होता है कि हमारी चित्तवृत्तियाँ रजोगुण और तमोगुण के अंधेरे में पड़ी होती हैं और इस कारण हमारी आत्म व्यापकत्व का अनुभव ही नहीं कर पाती। इसके विपरीत काव्य का अध्ययन करते समय अथवा नाटक देखते समय भोजकत्व वृत्ति का प्रसार होता है और हमारी आत्मा पर पड़ा हुआ रजोगुण-तमोगुण का अंधकार दूर हो जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि रंगमंच पर अभिनीत उन क्रियाओं से भी हम आनन्दित हो उठते हैं जो कि लोक-व्यवहार में हमें 'दूसरे' की क्रियाएँ लगती हैं। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि काव्यास्वादन के समय अथवा नाटक देखते समय रजोगुण और तमोगुण होते ही नहीं। वास्तविकता यह कि उस सत्व के उद्रेक में रजोगुण और तमोगुण की विभिन्नताएँ भी सम्मिलित रहती हैं किन्तु प्रधान सत्ता सत्व

व्यक्त करता है ।" ये तीन गुण हैं–सत्व, रज एवं तमस् और मनुष्य का शरीर इन्हीं तीनों गुणों से प्रकाशित होता है । सांख्य दर्शन में इन तीनों गुणों की प्रकृति का विश्लेषण भी किया गया है जिसके अनुसार सत्य में प्रीति, रज में अप्रीति और तमोगुण में विषाद की स्थिति होती है ।

अपने रस-सम्बन्धी विवेचन में भट्टनायक यह मानकर चलते हैं कि निष्पत्ति का आशय मुक्ति होता है और संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक सम्बन्ध होता है । भट्टनायक का विवेचन स्पष्टत: दो भागों में बँटा हुआ है—एक ओर तो उन्होंने सभी प्राचीन मान्यताओं का निराकरण किया है और दूसरी ओर अपनी नयी मान्यताओं की स्थापना की है । व्यावहारिक भाषा में उनके इस विवेचन को प्रतिषेध पक्ष और विधि पक्ष इन दो भागों में बाँटा जा सकता है भट्टनायक सर्वप्रथम रसास्वादन की स्थिति की विश्लेषण करते हैं । रसास्वादन की प्रक्रिया में तीन व्यक्ति होते हैं—एक तो वास्तविक रामादि जिनका अनुकरण किया जाता है, दूसरा नट-नटी आदि जो कि रामादि का अनुसरण करते हैं और तीसरा सामाजिक होता है जो कि रसास्वादन प्राप्त करता है । इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक जिस रस का आस्वादन करता है उस रस का सम्बन्ध केवल उसी से होता है अथवा किसी अन्य से भी । दूसरे शब्दों में, इस प्रश्न को इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक को प्राप्त होने वाला रस स्वगत होता है अथवा परगत । यदि वह रस परगत होता है अर्थात् यदि उसका सम्बन्ध सामाजिक से नहीं किसी अन्य व्यक्ति के साथ होता है तो सामाजिक उस रस का आस्वादन कैसे कर सकता है । यदि सामाजिक के लिए रस स्वगत होता है तो रस निश्चित रूप से सामाजिक के भीतर ही अवस्थित होगा । दूसरी बात यह है कि यदि रंगमंच पर राम-सीता के रति-भाव का अभिनय देखा जाये तो क्या सामाजिक में उसी प्रकार का रतिभाव उत्पन्न हो सकता है ? निस्सन्देह नहीं । राम-सीता के प्रति हमारा संस्कारनिष्ठ श्रद्धाभाव हमारे भीतर उनके सम्बन्ध में रति-भाव जैसे भाव उत्पन्न ही नहीं होने देगा । इसके अतिरिक्त अनुकार्य के जो अतिमानवीय कार्य हैं, उन्हें करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती । श्रीरामचन्द्र द्वारा समुद्र को पार करना, हनुमान जी द्वारा पूर्ण पर्वत को उठाकर ले आना आदि ऐसे ही अलौकिक कृत्य हैं जो हमारी शक्ति से निश्चय ही बाहर हैं । यही नहीं, राम अथवा हनुमान का स्मरण करके भी हमारे भीतर उसी प्रकार का रसोद्बोध नहीं हो सकता । अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पत्ति भी अपने आप में सन्देहपूर्ण होती है । उदाहरण के लिए, करुण रस की उत्पत्ति मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि उस रस के आस्वादन से सामाजिक को दुख होगा और यह निर्विवाद है कि जानबूझकर कोई भी व्यक्ति दुख प्राप्त करने की बात नहीं सोचता ।

भट्टनायक ने अभिव्यक्ति का भी विवेचन किया है । उन्होंने शब्द-व्यापार तीन प्रकार के माने हैं—अभिधा, भावकत्व तथा भोग । इन तीनों शब्द-व्यापारों का विवे-

नटी—दोनों ही समान रूप से असहाय हैं क्योंकि दोनों में से किसी ने भी वास्तविक रामादि को देखा नहीं है, अत: उनके अनुकरण की सम्भावना ही निर्मूल है। इस सम्बन्ध में शोक आदि भावों के अनुकरण की स्थिति तो और भी दुष्कर है क्योंकि शोक के अनुकरण के दो माध्यम हो सकते हैं। एक तो शोक का अनुकरण स्वयं शोक के द्वारा ही हो सकता है, किन्तु इस प्रकार का अनुकरण अयथार्थपूर्ण और वायवी होगा क्योंकि नट के भीतर तो शोक के भाव नहीं हैं। सीता का विलाप तो सीता का ही हो सकता है, सीता का अभिनय करने वाली नटी का नहीं। दूसरा माध्यम बाह्य-क्रिया-कलापों का अनुकरण हो सकता है। विरहदग्धा सीता की वेदना को नटी अपने अश्रुपात से व्यक्त कर सकती है किन्तु यह अनुकरण भी केवल बाह्य तत्त्वों का ही अनुकरण होगा - सीता के भीतर की वेदना कैसे मुखरित हो सकेगी। वस्तुत: शंकुक का अनुकरण-सिद्धान्त किसी सुदृढ़ आधार पर नहीं टिका है। इसी प्रसंग में एक तीसरा आक्षेप यह है कि यदि यह मान भी लिया जाये कि सामाजिक को नट पर राग की अनुमिति हो जाती है तो भी तो सामाजिक को रसप्राप्ति का कोई मार्ग नहीं दीखता। राम-सीता, दुष्यन्त-शकुन्तला के परस्पर प्रेमभाव और परस्परोद्दीपक व्यवहार सामाजिक के विभाव कैसे बन सकते हैं। राम, दुष्यन्त आदि पौराणिक पात्रों के प्रति सामाजिक के मन में गहन श्रद्धा होती और उस श्रद्धा के रहते हुए रसत्व-प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती। सीता और शकुन्तला को अनुमान के आधार पर प्रेयसी मान लेना सम्भव नहीं है। यही नहीं, उन्हें देखकर किसी भी सामाजिक को अपनी प्रेयसी की याद भी नहीं आ सकती। इस प्रकार "अनुमान द्वारा रसप्राप्ति में न तटस्थ (नट और रामादि) सहायक सिद्ध हो सकते हैं और न स्वयं सामाजिक ही अवास्तविक विभावादि रस-सामग्री से इस प्रक्रिया द्वारा रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं।

शंकुक का रस-सिद्धान्त वस्तुत: लोल्लट के रस-सिद्धान्त से ही अनुप्रेरित है और निस्सन्देह शंकुक का रस-सिद्धान्त अपेक्षतया अधिक मनोवैज्ञानिक है। शंकुक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने विभाव को कवि-कल्पित मान लिया है और इस प्रकार जो व्यक्ति कभी भी दृष्टिगत नहीं हुआ उसकी भावनाओं का आस्वादन करने की शंका का समाधान कर दिया है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि "सामाजिक के प्रश्न को स्पष्ट रूप में उठाकर तथा सामाजिक की 'वासना' को जो भट्टनायक की 'भावना' और अभिनवगुप्त की चित्रवृत्ति की पर्याय है—रसानुभूति का साधन मानकर शंकुक एक ओर तो लोल्लट से आगे बढ़ गये हैं और दूसरी ओर भावी आचार्यों के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर गये हैं, और साथ ही पूर्वापर सिद्धान्तों के बीच श्रृंखलास्थापन भी।"

भट्टनायक का भोगवाद—भट्टनायक के भोगवाद का मूलाधार सांख्यदर्शन है। सांख्यदर्शन के अनुसार "सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृति की अभिव्यक्ति है और निर्विकल्प ब्रह्म भी इसके चक्कर में त्रिगुणमय हो जाता है और अनेक रूपों में अपने को

वेदन को मुखरित किया है। नट-नटी इसी वियोग-भाव को अपने अभिनय कौशल, शिक्षा और अभ्यास के सहारे प्रस्तुत करते हैं। इस सारी स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० त्रिपाठी कहते हैं कि "जब नट इस प्रकार के काव्यगत वियोग-काव्यों का अनुसन्धान करता है तथा शिक्षा और अभ्यास का आश्रय लेकर अपना कार्यकौशल प्रकट करता है तब उन काव्यगत वाक्यों के अनुसन्धान के बल पर तथा शिक्षा और अभ्यास के द्वारा प्रदर्शित किये हुए कार्य के बल पर उसी नट के द्वारा भावों के जिन कार्य-कारणों और सहकारी कारणों को अभिनय द्वारा प्रकाशित करता है। वे होते तो वास्तव में कृत्रिम हैं किन्तु कौशल की सूक्ष्मता के कारण कृत्रिम मालूम नहीं पड़ते हैं।"

शंकुक के इस रस-सिद्धान्त में अनुभावों का अनुकरण शिक्षा के बल पर होता है। अभिनय की शिक्षा के कारण नट अनुभावों का अनुकरण कर लेता है। हर्ष, चिन्ता आदि संचारी भावों का अनुकरण वह स्वयं अपने जीवन के अनुभावों के आधार पर करता है। जहाँ तक विभावों के अनुकरण का प्रश्न है, जिस प्रकार के विभावादि का वर्णन कवि करता है, नट उन्हीं विभावादि का अनुकरण कर लेता है।

शंकुक के इस रस-सिद्धान्त पर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ की गयी हैं। शंकुक के सिद्धान्त का खण्डन करने वालों में भट्टतौत और भट्टनायक आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहला आक्षेप तो यह है कि अनुमान का आधार तो वास्तविकता ही हो सकती है। रामादि का अभिनय देखने वाले सामाजिक को यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि अभिनय करने वाले नट-नटी वास्तविक राम-सीतादि नहीं हैं। यही नहीं, भट्टतौत तो यहाँ तक कहते हैं कि यह तो माना जा सकता है कि साधन अथवा अभिनय कौशल के सहारे तत्सम्बन्धी साध्य का अनुमान हो सकेगा, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि वास्तविक साध्य से सादृश्य रखने वाले किसी अन्य साध्य का अनुमान भी हो सकेगा। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाना तो स्वाभाविक और तर्कसंगत है किन्तु धुएँ को देखकर ही अग्नि जैसे रक्तिम जवाकुसुमों का अनुमान लगा लेना दुष्कर है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि "नट के कृत्रिम रत्यादि स्थायी भावों द्वारा सामाजिक को भले ही लोक में वर्तमान किसी रतिमान व्यक्ति की अनुमिति हो जाये पर तत्सदृश भूतकालीन 'राम' अथवा किसी अन्य व्यक्ति की अनुमिति जिसे किसी सामाजिक अथवा नट में नहीं देखा, अनुमान का विषय नहीं है।" भट्टतौत के अनुसार शंकुक का अनुकरण-सिद्धान्त ही अपने आप में दोषपूर्ण है। जब सामाजिक ने वास्तविक राम-सीतादि को देखा ही नहीं है तो वह किस आधार पर यह मान सकता है कि राम-सीतादि का अभिनय करने वाले नट-नटी वस्तुतः अनुकार्य का अनुकरण ही कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त बाह्य वेशभूषा द्वारा ऐन्द्रिय विषयों का अनुकरण तो मान भी लिया जाये किन्तु रति आदि मानसिक भावों का अनुकरण तो सम्भव ही नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि अनुकरण के स्तर पर दर्शक और नट-

को किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं दीखती। भरत-सूत्र का उल्लेख करते हुए शंकुक कहते हैं कि शिक्षा और अभ्यास के कारण भावों के कार्य, कारण और सहकारी कारण अपना अस्तित्व छोड़कर विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहलाते हैं। जहाँ कहीं भी इन विभावों आदि का संयोग होता है वहाँ रति आदि भाव अनिवार्यतः होते हैं। ऐसी स्थिति में रति आदि भाव तो गम्य होते हैं और विभावादि का संयोग गमक होता है और नट में रति आदि भावों का अनुमान लगा लिया जाता है। यह अनुमान अपने आप में अनुमान होते हुए भी अत्यन्त विलक्षण और अलौकिक होता है और इस कारण यह 'अनुमान' भी प्रतीत नहीं होता और उसे स्थायी भाव कह दिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि स्थायी भाव का अनुमान वस्तुतः नट में ही लगाया जाता है किन्तु यह अनुमान अन्य अनुमानों की भाँति कृत्रिम नहीं प्रतीत होता। होता यह है कि ये स्थायी भाव वासना रूप में सहृदय के भीतर विद्यमान रहते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही उभर आते हैं और फिर सहृदय उनका चर्वण करता है। रस-निष्पत्ति की समूची प्रक्रिया यही है। तथापि यह स्मरणीय है कि यह स्थायी भाव नट में नहीं होता। दो शब्दों में, कहा जा सकता है कि "जिस प्रकार उड़ती हुई धूल को धुआँ समझकर कोई आग का अनुमान लगा ले, उसी प्रकार नट यह प्रकट करता है कि विभावादि हमारे ही हैं तब विभावादि में नियत रति इत्यादि भाव के दर्शक लोग नट में ही अनुमान लगा लेते हैं, यद्यपि यह रति-भाव उसमें होता नहीं है। यही अनुमिति रति-भाव सामाजिकों के आस्वाद का हेतु होने से रस कहलाता है।"

शंकुक का अनुमितिवाद वस्तुतः अनुकरण पर आधारित है। वास्तविक राम, सीतादि का अभिनय करने वाले नट-नटी विभाव, अनुभावादि का अनुकरण करते हैं। लोल्लट के मत से वास्तविक रामादि में ही स्थायी भावों की स्थिति होती थी। रामादि का अभिनय करने वाले नट-नटी के साथ वास्तविक रामादि का क्या सम्बन्ध होता है—इस सम्बन्ध में लोल्लट मौन हैं। शंकुक ने लोल्लट के रस-सिद्धान्त की इसी कड़ी को जोड़ने का प्रयत्न किया है और कहा है कि जिस प्रकार के विभावादि का वर्णन कवि करता है, नट-नटी उन्हीं विभावादि का अनुकरण करते हैं। उदाहरण के लिए नाटककार जयशंकर प्रसाद द्वारा विरचित नाटक 'स्कन्दगुप्त' की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'आह वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रमवश जीवन संचित मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे संध्या के श्रम-कण
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण,
मेरी यात्रा पर लेती थी,
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।'

इन पंक्तियों में प्रसाद जी ने शिक्षा और अभ्यास के बल पर वियोगजन्य

है कि नट के माध्यम से ही वास्तविक रामादि द्वारा अनुभूत रस की प्राप्ति होती है। दोनों के विवेचन में मूलभूत अन्तर केवल यही है कि भट्ट लोल्लट के अनुसार तो सहृदय नट पर अनुकार्य अर्थात् वास्तविक रामादि का 'आरोप' कर लेता है जबकि शंकुक के अनुसार वह केवल 'अनुमान' कर लेता है। शंकुक के अपने इस 'अनुमान' का विवेचन अधिकांशत: न्यायशास्त्र के आधार पर किया है। व्यवहार में जब सहृदय नट का अभिनय देखता है तो उसे यह प्रतीति होती है कि नट कोई अभिनेता नहीं अपितु "राम ही है"। सहृदय की यह प्रतीति एक अत्यन्त सूक्ष्म अवधारणा है। न्याय-शास्त्र तथा लोक-व्यवहार में चार प्रकार की प्रतीतियों का विवेचन किया जाता है और रस की उक्त प्रतीति इनमें से किसी भी प्रकार की प्रतीति में समाविष्ट नहीं की जा सकती। ये चार प्रतीतियाँ इस प्रकार की हैं—

(क) "यह राम ही है" अथवा "यही राम है"—ये दो सम्यक् प्रतीतियाँ वहीं हो सकती हैं जहाँ राम स्वयं विद्यमान हों। क्योंकि उपर्युक्त प्रतीति (जिसमें सहृदय में नट को देखकर राम की प्रतीति होती है) में स्वयं राम विद्यमान नहीं होते अत: यहाँ इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति नहीं हो सकती।

(ख) यहाँ 'यह राम है' की मिथ्या प्रतीति भी नहीं हो सकती क्योंकि मिथ्या प्रतीति दो प्रकार की स्थितियों में हो सकती है, एक तो तब जबकि राम की अनु-पस्थिति में किसी को राम मान लिया जाये और दूसरी तब जबकि राम की अनु-पस्थिति में किसी को राम मान लिया जाये और बाद में ऐसा प्रतीत हो अथवा पता लगे कि वह राम नहीं है। प्रस्तुत प्रतीति में दोनों स्थितियों में से कोई भी स्थिति खरी नहीं उतरती। राम का अभिनय करने वाले नट को देखकर सहृदय के मन में बाद में यह स्थिति कभी नहीं उत्पन्न होती कि वह 'राम' नहीं है।

(ग) तीसरी प्रतीति संशयात्मक प्रतीति कहलाती है और प्रस्तुत प्रतीति इस श्रेणी में भी परिगणित नहीं की जा सकती क्योंकि राम का अभिनय करने वाले नट को देखकर सहृदय के मन में ऐसी शंका उत्पन्न ही नहीं होती कि "यह राम है अथवा नहीं है।"

(घ) चौथी प्रकार की प्रतीति सादृश्य पर आधारित होती है और यह प्रतीति इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं कहला सकती, क्योंकि इसमें सादृश्य की प्रतीति भी नहीं होती है।

इस प्रकार यह प्रतीति इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न ढंग की एक विलक्षण प्रकार की प्रतीति है। यह प्रतीति ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि घोड़े के चित्र को देखकर घोड़े की प्रतीति होती है। शिक्षा और अभ्यास के बल पर नट जो कुछ प्रस्तुत करता है, वह भले ही जीवन की दृष्टि से यथार्थ न हो फिर भी सहृदय उसमें यथार्थ का ही अनुमान लगा लेता है और ऐसी स्थिति में उसे 'नट' में 'राम' ही दिखायी देता है। कलागत अभ्यास के कारण नट के अभिनय में सहृदय

सम्बन्ध में यह प्रस्तुत करते हैं कि "सामाजिक नट से ही रामादि का ज्ञान प्राप्त कर रामगत-मूल रस का आस्वादन प्राप्त कर लेते हैं।" इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि रस ज्ञानगम्य नहीं होता, वह तो अस्वादनीय होता है। हमें केवल यही जानकर आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती कि राम-सीतादि में रति है, प्रत्युत हम उस रति-भाव का साक्षात्कार करना चाहते हैं। यदि भट्ट लोल्लट के समर्थकों की बात मान ली जाये तो लौकिक शृंगार को देखकर अथवा शृंगार शब्द के श्रवण मात्र से ही हमारे भीतर शृंगार रस का उद्रेक हो जाना चाहिए जो कि होता नहीं है। इसी प्रसंग में कई आचार्यों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नट-नटादि के माध्यम से राम-सीतादि द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन हो ही नहीं सकता और अपने इस मत के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए इस वर्ग के आचार्य यह कहते हैं कि नट-नटादि सर्वज्ञ अथवा योगी नहीं होते। उनके लिए यह जानना नितान्त असम्भव होगा कि अमुक अवसर पर राम-सीतादि ने रति, शोक आदि भावों का कितना अनुभव किया होगा और कब किया होगा।

भट्ट लोल्लट के रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रस्तुत इन विभिन्न आपत्तियों के रहते हुए भी इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रस-विषयक चिन्तन में उनकी उपलब्धियाँ भी कम नहीं हैं। पहली बात तो यह है कि भट्ट लोल्लट प्राचीन मत का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं और भरत के रस-सूत्र पर मौलिक चिन्तन का परिचय देने वालों में अग्रणी हैं। भट्ट लोल्लट की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने भरत-सूत्र के भावों व्याख्याताओं के लिए एक आधार-भूमि का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में तीसरी बात है कि "भाव को लोल्लट ने मुख्य पात्र से सम्बद्ध बतलाया है और तद्रूपता के अनुसन्धान के माध्यम से नट में भी रस की स्थिति स्वीकार की है। इससे स्वभावतः सिद्ध होता है कि लोल्लट कला के क्षेत्र में वस्तु की सचाई के पक्षपाती हैं जो कि एक महत्त्वपूर्ण देन है। साथ ही अभिनेता में रस की स्थिति मानकर भट्ट लोल्लट ने सफल अनुकरण की महत्ता पर बल दिया है और इस तथ्य को अंगीकृत कर लिया है कि सफल अभिनय के लिए नट की तद्रूप अनुभूति अनिवार्य है।"

शंकुक का अनुमितिवाद—भरत-सूत्र की व्याख्या करने वाले दूसरे आचार्य शंकुक हैं। आचार्य शंकुक का रस-सिद्धान्त न्यायदर्शन के अनुमान प्रमाण पर आधारित है। अभिनवगुप्त ने आचार्य शंकुक के रस-सिद्धान्त का सार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि विभवादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारीभावादि संचारियों के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक अर्जित होने पर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव, अनुमान के बल से अनुकरण रूप में अनुकर्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान होता है।" यद्यपि शंकुक ने भट्ट लोल्लट से रस-सिद्धान्त पर अनेक प्रकार के आक्षेप किये हैं किन्तु यह निर्विवाद है कि शंकुक के विवेचन की भित्ति लोल्लट की यही मान्यता रही

कारी हो सकते हैं। यदि भट्ट लोल्लट के रस-सिद्धान्त को महिमान्वित करने के उद्देश्य से यह मान भी लिया जाये कि स्थायी भाव अपनी उच्चतम पराकाष्ठा तक पहुँचकर ही उपचितावस्था को प्राप्त होता है और तभी रस कहलाता है तो हास्य, शृंगार रस आदि के अन्तर्गत विभिन्न मनोदशाओं आदि की कल्पना नितान्त निस्सार हो जायेगी। इसी प्रकार क्रोध, शोक तथा उत्साह आदि कई ऐसे स्थायी भाव भी होते हैं जो कि क्रमशः क्षीण से क्षीणतर, क्षीणतर से क्षीणतम होते जाते हैं और ऐसे भाव सम्भवतः कभी भी उपचितावस्था को प्राप्त नहीं हो पाते। अतः यदि यह मान लिया जाये कि स्थायी भाव अपनी उच्चतम पराकाष्ठा को पहुँचकर ही उपचितावस्था को प्राप्त होते हैं और रस कहलाते हैं तो उपर्युक्त शोक, उत्साह, क्रोध आदि स्थायी भावों की स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

भट्ट लोल्लट के रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में शकुक की दूसरी आपत्ति न्याय-दर्शन की दृष्टि से की गयी है। भट्ट लोल्लट यह मानते हैं कि विभाव और स्थायी भाव में कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। न्यायदर्शन के अनुसार, "कारण-कार्य का नियमतः पूर्ववर्ती है तथा कारण का नाश भी कार्य को प्रभावित नहीं कर सकता।" दूसरे शब्दों में कुँभकार (जो कि घड़े का कारण है) के नष्ट हो जाने पर भी घड़े अर्थात् कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जहाँ तक रस की निष्पत्ति का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि रस भावादि के साथ ही उत्पन्न होता है और उनके नष्ट होते ही नष्ट हो जाता है। अतः विभावादि और स्थायी भावों के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता।

भट्ट लोल्लट के रस-सिद्धान्त में सहृदय का कोई उल्लेख नहीं है और कई विद्वानों ने इसी आधार पर भट्ट लोल्लट के विवेचन पर आपत्ति प्रकट की है। वास्तविकता यह है कि यद्यपि भट्ट लोल्लट ने अपने रस-सिद्धान्त में सहृदय का उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु फिर भी उन्हें अभीष्ट यही था कि रस का भोग करने वाला सहृदय तो होता ही है। दर्शक अथवा सहृदय राम-सीतादि का अभिनय करने वाले पात्रों के माध्यम से उसी रस को प्राप्त करते हैं जो कि वास्तविक राम-सीतादि ने प्राप्त किया होगा। इसी प्रसग में शंकुक की एक अन्य आपत्ति यह है कि भट्ट लोल्लट की यह मान्यता कि सहृदय अथवा दर्शक वास्तविक राम-सीता द्वारा अनुभूत रस को नट-नटी के माध्यम से प्राप्त करता है—सर्वथा निर्दोष नहीं है। भट्ट लोल्लट की यह मान्यता अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि यदि भट्ट लोल्लट की मान्यता को यथावत् स्वीकार कर लिया जाय तो जिस व्यक्ति में स्थायी भाव होंगे उसी में रस भी होगा। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यदि स्थायी भावों की स्थिति वास्तविक राम-सीतादि में मानी जाती है तो रस भी उन्हीं को प्राप्त हो सकेगा, अन्य को नहीं अर्थात् उस रस की प्राप्ति न तो राम-सीतादि का अभिनय करने वाले नट-नटी को होगी और न सामाजिक को। भट्ट लोल्लट के कई समर्थक इस

यही संचारी भाव स्थायी भावों का पोषण करते हैं और इस प्रकार स्थायी भाव उपचितावस्था में रस-स्थिति को प्राप्त होते हैं। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का स्थायी भावों के साथ संयोग-सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा है कि (1) आलम्बनोद्दीपन-विभावों और स्थायी भावों के मध्य कार्य-कारण अथवा जनक-जन्य सम्बन्ध होता है, (2) कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों और स्थायी भावों के मध्य गम्य-गमक सम्बन्ध होता है, और (3) निर्वेद आदि संचारी भावों तथा स्थायी भावों के मध्य पोषण-पोष्य सम्बन्ध होता है। मम्मट का यह विश्लेषण निस्सन्देह अत्यन्त तर्कसम्मत और वैधानिक बन पड़ा है। कतिपय विद्वानों का यह मत भी है कि मम्मट का यह विवेचन अभिनव के एतद् विषयक विशेषण से प्रभावित है। मम्मट ने भट्ट लोल्लट के मत का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया है : 'आलम्बन, उद्दीपन विभावों के कारण उत्पन्न रति आदि भाव, अनुभाव कार्यों से प्रतीति योग्य होकर व्यभिचारी सहकारियों से उपचित होकर रसरूप को प्राप्त होते हैं, जो मुख्यतः अनुकार्य में होता है किन्तु अनुसन्धानवश नट में प्रतीयमान होते हैं।" दूसरे शब्दों में, दर्शक नटादि में वास्तविक अनुकार्य का अनुसन्धान कर लेते हैं। उनकी दृष्टि में रामादि का अभिनय करने वाले नटों और वास्तविक रामादि के बीच कोई भेद नहीं रह जाता। नटों पर ही अनुकार्य का आरोप कर लिया जाता है। कदाचित् इसी कारण भट्ट लोल्लट के इस सिद्धान्त को आरोपवाद भी कहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्थायी भाव मूलतः रामादि में स्थित होते हैं क्योंकि वास्तविक रामादि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इन्हीं से होता है। रंगमंच पर रामादि का अभिनय करने वाले पात्रों में दर्शकों को वास्तविक रामादि की प्रतीति होती है, अतः स्वभावतः उन्हें उसी रस की प्रतीति भी हो जाती है जो कि वास्तविक रामादि में स्थित होता है। डा० रामसागर त्रिपाठी के शब्दों में, "इन भावों की उत्पत्ति मुख्य रूप से वास्तविक राम इत्यादि में ही होती है जिसका नर्तक रंगमंच पर अभिनय करता है। कारण यह है कि वास्तविक राम इत्यादि का ही सीता से साक्षात् सम्बन्ध होता है। नर्तक राम इत्यादि का रूप धारण कर लेता है और दर्शक लोग उसी में राम के रूप का अनुसन्धान कर लेते हैं। अतएव वस्तुतः न होते हुए भी नर्तक में भी दर्शकों को रस की प्रतीति होने लगती है जिस प्रकार रस्सी में साँप की प्रतीति होती है।"

भट्ट लोल्लट के रस-सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य शंकुक का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। भट्ट लोल्लट के रस-सिद्धान्त पर शंकुक की पहली आपत्ति तो यह है कि यदि यह मान भी लिया जाये कि "स्थायी भाव अपनी उपचितावस्था में रस कहलाते हैं।" तो यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि रति आदि भाव किस सीमा तक उपचित होकर रस कहलाने के अधि-

भरत-सूत्र की व्याख्या करने वाले इन आचार्यों का विवेचन प्रस्तुत करने से पहले भरत-सूत्र का सामान्य विवेचन भी आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में इन आचार्यों की व्याख्याएँ स्पष्टतः नहीं समझी जा सकेंगी। भरत-सूत्र इस प्रकार है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—इस सूत्र में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सामग्रीवाचक शब्द हैं और संयोग तथा निष्पत्ति प्रक्रियावाचक शब्द हैं। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में सामग्री की तरह हैं और इनके संयोग से फल-प्राप्ति अर्थात् रस-निष्पत्ति होती है।

भट्ट लोल्लट की व्याख्या उत्पत्तिवाद—भरत-सूत्र की व्याख्या करने वालों में भट्ट लोल्लट प्रथम आचार्य हैं। भट्ट लोल्लट के इस सिद्धान्त को शास्त्रीय भाषा में कई भागों से जाना जाता है यथा उपचयवाद, उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद आदि। दूसरे शब्दों में, भट्ट लोल्लट यह मानकर चलते हैं कि रस-प्रक्रिया में रस की उत्पत्ति होती है और इस कारण उत्पत्ति के सभी तत्त्वों की अवस्थिति आवश्यक है। किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ को उत्पत्ति के लिए तीन अनिवार्य तत्त्व होते हैं—कारण, कार्य और सहकारी कारण। एक उदाहरण से स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। उदाहरण के लिए, मिट्टी का घड़ा लीजिए। इस घड़े का 'कारण' स्पष्टतः मिट्टी है और घड़े का निर्माण 'कार्य' है। कुम्हार, चाक तथा कुम्हार के अन्य उपकरण इस कार्य के 'सहकारी कारण' कहलायेंगे। भट्ट लोल्लट ने इसी सिद्धान्त के आधार पर भरत-सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार स्थायीभाव परिपक्वता को प्राप्त होकर ही रस कहलाते हैं। वे स्थायी भाव अपने आप में उपचित अथवा परिपक्व नहीं होते किन्तु विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावादि के संयोग से उपचित अथवा परिपक्व हो जाते और तब वे रस कहलाते हैं। भट्ट लोल्लट यह भी कहते हैं कि यह रस अनुकार्य होता है—अर्थात् रस की यह स्थिति राम आदि में तो ही होती है, पर राम का अभिनय करने वाले अभिनेताओं में भी बराबर होती है। इस सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भट्ट लोल्लट के मत में तनिक संशोधन करके यह स्थापित किया है कि वास्तविक राम-सीतादि में मुख्य रूप से रस की स्थिति होती है जबकि रामादि का अभिनय करने वालों में गौण रूप से। मम्मट ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भावों के साथ संयोग-सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला है। रस-निष्पत्ति की यह समूची प्रक्रिया इसी संयोग-सम्बन्ध पर आधारित है। जब कभी हम नाटक अथवा काव्य का रसास्वाद लेते हैं तो रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया तीन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं में से होकर रस अर्थात् फल की प्राप्ति होती है। हमारे भीतर रत्यादि भावों की उत्पत्ति के मूल में नायिक आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन तत्त्व होते हैं। इसके पश्चात् कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि। विभिन्न प्रकार के अनुभावों के कारण रत्यादि स्थायी भाव इस योग्य बन जाते हैं कि उनकी उत्पत्ति की प्रतीति हो जाती है। संचारी भावों का कार्य सहकारी कारणों जैसा होता है और उनके भीतर स्थायी भाव वासना रूप में स्थित रहते हैं।

इस आधार पर रस के अवयवों की संख्या चार हो जाती है। विभाव उन्हें कहते हैं जो कि बोध की प्रक्रिया में सहायक हों और इसीलिए विभावों को भाव का हेतु माना गया है। आचार्यों ने विभावों के दो भेद किये हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन तो ऐसा व्यक्ति होता है जो किसी भाव-विशेष का विषय हो और उद्दीपन ऐसे कार्यों, स्थितियों आदि को कहते हैं जिनके कारण वह भाव उत्तेजित हो जाता है। अनुभाव का क्षेत्र विभाव के बाद आरम्भ होता है। अनुभाव उन चेष्टाओं तथा क्रियाओं को कहते हैं जिनके प्रयोग से दर्शकों को आश्रय में उद्दीप्त भाव का ज्ञान हो जाता है। वस्तुतः होता यह है कि जब किसी व्यक्ति के मन में कोई भाव-विशेष जाग्रत होता है तो उस भाव की अभिव्यंजना के लिए वह विविध प्रकार की चेष्टाएँ, क्रियाएँ आदि करता है और उन्हीं चेष्टाओं, क्रियाओं को देखकर दर्शक को उसके भावोद्रेक का ज्ञान होता है। भरतमुनि ने तीन प्रकार के अनुभावों का वर्णन किया है—वाचिक, आंगिक तथा सात्विक। वाचिक अनुभावों में वाणी अथवा शब्दों के रूप में भावों की अभिव्यंजना की जाती है और आंगिक अनुभावों में शारीरिक चेष्टाएँ परिगणित की जाती हैं। सात्विक अनुभावों में अश्रु, रोमांच, स्वेद आदि के रूप में भावाभिव्यंजक चेष्टाएँ की जाती हैं।

रस-निष्पत्ति के प्रसंग में भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि का विवेचन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से भरत के इस बहुचर्चित सूत्र की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस सम्बन्ध में भट्ट लोल्लट ने सर्वप्रथम भरत सूत्र की व्याख्या की। भट्ट लोल्लट का विवेचन आचार्य अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोकलोचन' में मिलता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि भट्ट लोल्लट का ही नहीं अपितु शंकुक, भट्टनायक आदि का एतद्विषयक विवेचन भी अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इन सभी काव्य-शास्त्रियों के विवेचन को एक स्थल पर रखने का प्रयास किया है। अतः भरत-सूत्र के इन विभिन्न व्याख्याताओं का जो कुछ भी विवेचन प्राप्य है वह सभी अभिनवगुप्त के माध्यम से प्राप्त हो सका है। इस सम्बन्ध में एक विद्वान् आलोचक के ये शब्द द्रष्टव्य हैं—"कुछ लोगों का विचार है कि अभिनव ने उन विचारधाराओं को काट छाँट कर ऐसे रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की जो या तो उसके मत को पुष्ट कर सके या सरलता से उसका खण्डन किया जा सके। यह असम्भव नहीं है। किन्तु साधनादि के अभाव में अभिनव पर विश्वास करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई और चारा भी तो नहीं है।" अभिनवगुप्त ने अपने ध्वन्यालोकलोचन' में चार आचार्यों का विवेचन ही प्रस्तुत किया है—भट्ट लोल्लट, शंकुक, सांख्यवादी तथा भट्टनायक। कालान्तर मे मम्मट ने भी इन सभी काव्यशास्त्रियों का विवेचन विस्तार सहित प्रस्तुत किया, किन्तु सचाई यह है कि मम्मट ने इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के मत को ही प्रायशः स्वीकार कर लिया है। प्रस्तुत प्रसंग में भी इन्हीं चार आचार्यों का विवेचन प्रस्तुतकिया गया है।

रागद्वेष से निश्चय ही अलिप्त रहती है और इसलिए स्वरूपतः सुख-दुखात्मक होती है—साथ ही, यह रति-भाव के र.फल विवेचन का भी आनन्द नहीं है क्योंकि यह मूलतः बुद्धि की क्रिया नहीं है। यह वास्तव में एक प्रकार का समंजित आस्वाद है जिसमें ऐन्द्रिय, रागात्मक और बौद्धिक तत्त्वों का लवण-नीर संयोग रहता है।"

काव्यानन्द की अनुभूति—काव्यानन्द का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् काव्यानन्द की अनुभूति का विश्लेषण भी आवश्यक है। वस्तुतः अनुभूति का विश्लेषण करने पर हमारे समक्ष केवल संवेदन ही उभर कर आते हैं। यही संवेदन हमारे मन के संघटक तत्त्व होते हैं। शारीरिक अवस्था में इन संवेदनों की प्रवृत्ति अत्यन्त स्थूल और स्पष्ट होती है किन्तु मानसिक जगत में पहुँचकर यही संवेदन किंचित सूक्ष्म हो जाते हैं और बुद्धि-क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर तो ये इतने अधिक सूक्ष्म हो जाते हैं कि उनको पकड़ पाना दुष्कर हो जाता है। इस प्रकार अनुभूति के तीनों क्षेत्रों अर्थात् शरीर, मन और बुद्धि में इन संवेदनों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। जहाँ तक काव्य के क्षेत्र का सम्बन्ध है, उसमें अनुभूति का संवेदनरूप ही होता है किन्तु ये संवेदन अत्यन्त सूक्ष्म और प्रतिबिम्बों की भाँति अमूर्त होते हैं। वैसे संवेदनों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(1) शुद्ध प्राकृतिक संवेदन, (2) परोक्ष संवेदन और (3) ऐसे संवेदन जो संवेदन की स्मृति के विश्लेषण से प्राप्त हैं। शुद्ध अथवा प्राकृतिक संवेदन अपनी प्रकृति में स्थूल होते हैं जैसे कि किसी खोये सम्बन्धी का पता लगने पर सारा शरीर पुलकित हो उठता है। परोक्ष संवेदन शुद्ध संवेदनों के प्रतिबिम्ब की तरह होते हैं। पिछले उदाहरण में पुलकित शरीर की स्मृति से जो संवेदन उत्पन्न होते हैं उन्हें परोक्ष संवेदन कहते हैं। तीसरे प्रकार के संवेदन प्रतिबिम्ब के भी प्रतिबिम्ब होते हैं, अतः स्वभावतः अत्यन्त सूक्ष्म और अरूप बन जाते हैं। संवेदनों के अन्य प्रकार की भी कल्पना की जा सकती है जो स्मृति के भावन में प्राप्त होते हैं। भावन का यह अनुभव न तो प्रत्यक्ष स्मृति का अनुभव होता है और न उस स्मृति के विश्लेषण का बौद्धिक अनुभव। वस्तुतः भावन का यह अनुभव स्मृति के अनुभव से अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव से अधिक स्थूल होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि "काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति के एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसलिए वह पहले से अधिक शुद्ध-परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरस होती है।"

रस-निष्पत्ति—रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए भरत कहते हैं कि "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादरसनिष्पत्तिः" अर्थात् रस-निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से होती है। कतिपय अन्य आचार्यों ने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी) भावों के अतिरिक्त स्थायी भावों की स्थिति भी मानी है और

काव्यानन्द को आलौकिक अथवा विलक्षण सिद्ध करना भी काव्यानन्द के स्वरूप के प्रति अन्याय होगा। जब हम यह कहते हैं कि काव्यानन्द विलक्षण अथवा अलौकिक है तो हमारा तात्पर्य यही होता है कि मनुष्य की सामान्य ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उसका आस्वाद सम्भव नहीं है और यदि ऐसा है तो दो ही विकल्प रह जाते हैं— या तो एक अन्य ज्ञानेन्द्रिय का अनुसंधान किया जाये अथवा काव्यानन्द को भौतिक अथवा लौकिक आनन्द मान लिया जाये। पहला विकल्प तो सारहीन है। दूसरे विकल्प पर विचार किया जा सकता है। काव्यानन्द को विलक्षण अथवा अलौकिक मानने वाले विद्वान् यह कहते हैं कि काव्य का आस्वाद प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अथवा मानसिक अनुभूति, भाव के प्रत्यक्ष आस्वाद, बौद्धिक अनुभूति—इन सभी से भिन्न ढंग का है। तथापि इसका यह अर्थ तो नहीं निकाला जा सकता कि काव्यानन्द में भौतिक जीवन का स्पर्श है ही नहीं। वस्तुत: काव्यानन्द में ऐन्द्रियता भी है, बौद्धिकता का भी स्पर्श है और काव्यानन्द को विलक्षण मानने वालों के अनुसार उसमें आत्मानुभव का भी स्पर्श है। इस आधार पर यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि काव्य के आधार-तत्त्वों में तो भौतिकता निश्चित रूप से विद्यमान है।

चौथा सिद्धान्त है—काव्यानन्द ऐन्द्रिय आनन्द है। काव्यानन्द का यह स्वरूप निस्सन्देह अधिक तर्कसंगत और स्वत: स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में प्राय: मतैक्य है कि भले ही काव्य प्रत्यक्ष रूप से ऐन्द्रिय अनुभूति न हो फिर भी उसका आनन्द तो निश्चय ही लौकिक जीवन की अनुभूति है। वस्तुत. काव्य का आधार मानवीय भाव होते हैं और भाव निर्विवाद रूप से लौकिक और ऐन्द्रिय होते हैं; अत: स्वभावत: काव्यानन्द अलौकिक अथवा अतीन्द्रिय नहीं हो सकता। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य-आस्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाये तो काव्यानन्द की प्राप्ति में कई अवस्थाएँ स्पष्टत: उभरकर आती हैं। जब हम किसी कविता का कोई पद अथवा अंश पढ़ते हैं तो प्रथमश: तो उसकी लय और गेयता से ही मन अनुरंजित हो उठता है—यह पहली अवस्था है। तदनन्तर असंलक्ष्यक्रम रीति से उस पद का अर्थ-बोध होता है जिसे दूसरी अवस्था कहा जा सकता है। इसके पश्चात् काव्य-पद में प्रयुक्त भाषा के लाक्षणिक और व्यंजनात्मक प्रयोगों से हमारी कल्पना-शक्ति प्रेरित हो जाती है और तब अभिधार्थ में से ही अनेक प्रकार के नए-नए अर्थ प्रकट होते हैं जो कि संस्कार-चित्रों की तरह होते हैं—इसे तीसरी अवस्था कह सकते हैं। ये नए-नए संस्कार-चित्र हमारे मन में उपस्थित रति आदि भावों को जाग्रत करते हैं और ये भाव निस्सन्देह 'स्व' और 'पर' के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होते हैं—यह चौथी अवस्था कही जा सकती है। अन्तत: इन विभिन्न भावों आदि के उद्‌बुद्ध हो जाने से हमारा मन भावानुसार सुखद अनुभव को प्राप्त होता है—इसे पाँचवी तथा अन्तिम अवस्था कहा जा सकता है। इस समूचे विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यह सुखद अनुभूति प्रत्यक्ष रति-भाव का आनन्द नहीं है, परोक्ष रति-भाव अर्थात् रति-भाव को स्मृति का भी आनन्द नहीं है क्योंकि कल्पनागत अनुभूति होने पर भी स्मृति व्यक्तिगत

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काव्यानन्द के सम्बन्ध में चार महत्त्वपूर्ण बातें उभरती हैं—पहली तो यह कि काव्य का आनन्द विशुद्ध रूप से आत्मिक आनन्द होता है, दूसरी यह कि काव्य का आनन्द प्रत्यक्ष रूप से ऐन्द्रिय-मानसिक होता है, तीसरी यह कि काव्य का आनन्द वस्तुतः कल्पना का आनन्द है और चौथी तथा अन्तिम बात यह कि काव्यानन्द सभी प्रकार की ऐन्द्रिय अथवा लौकिक अनुभूतियों से अलग ढंग का है और इस कारण वह विलक्षण तथा अलौकिक भी कहा जा सकता है। इन सभी मान्यताओं के संक्षिप्त विवेचन से काव्यानन्द का स्वरूप निस्सन्देह अधिक स्पष्ट हो सकेगा। इस सम्बन्ध में सबसे पहला सिद्धान्त यह है कि काव्य का आनन्द विशुद्ध रूप से आत्मिक आनन्द होता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, काव्य का आनन्द विशुद्ध रूप से आत्मिक आनन्द नहीं है। आत्मानन्द विशुद्ध रूप से आत्म-तत्त्व का आनन्द होता है जबकि काव्यानन्द में मृण्मय अंश बराबर बना रहता है। अन्यथा भी ऐन्द्रिय और आत्मिक आनन्द में प्रकृति का भेद नहीं है केवल गुण का ही भेद होता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि काव्य में हमें जो भावों का साधारणीकृत रूप देखने को मिलता है वह भी विशुद्ध रूप से अभौतिक नहीं कहा जा सकता। यह तो निर्विवाद है कि काव्य में निबद्ध हो जाने के पश्चात् लौकिक भावादि राग-द्वेष आदि से मुक्त हो जाने के कारण अपने आप में अलौकिक बन जाते हैं और फिर वे प्रमाता के भावों का उन्नयन तथा परिष्कार करते हैं। प्रमाता के भावलोक का यह उन्नयन अथवा परिष्कार भी तो भौतिक-तत्त्व से सर्वथा मुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस उन्नयन अथवा परिष्कार का क्षेत्र भी तो मानव मन ही है। काव्य से हमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष रूप से किसी स्थायी-भाव का आनन्द नहीं होता, वह आनन्द तो काव्य के क्षेत्र में से परिशुद्ध और परिष्कृत हुए स्थायी भावों का आनन्द होता है। इस प्रकार काव्यानन्द को विशुद्ध रूप से आत्मानन्द नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मानन्द तो योग-साधना अथवा ब्रह्म-चिन्तन के अधिक निकट है।

काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है—यह सिद्धान्त भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि काव्य का प्राण-तत्त्व तो भावादि होते हैं और कल्पना तो केवल एक माध्यम है, प्राण-तत्त्व नहीं। भावों के अभाव में अकेली कल्पना के बल पर समर्थ काव्य की रचना सम्भव नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि काव्यानन्द में भावों की अनिवार्य स्थिति रहती है और उन भावों की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम कल्पना है। तथापि कल्पना भी तो मन और बुद्धि की ही एक प्रक्रिया है, मन और बुद्धि से हटकर कल्पना का भी कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः कल्पना से निःसृत आनन्द भी स्वभावतः मन और बुद्धि का आनन्द कहा जायेगा। स्पष्टतः काव्यानन्द को विशुद्ध रूप से कल्पना का आनन्द कहना भ्रामक होगा।

रूप से ऐन्द्रिय होती है, अतः वह अनिवार्यतः आनन्दरूप भी नहीं होती। इसके विपरीत आत्मवादी विद्वानों के अनुसार रस अनिवार्यतः आनन्दपूर्ण होता है क्योंकि ये विद्वान् काव्यानुभूति को ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं मानते। इस वर्ग के विद्वान् यह मानते हैं कि काव्य में निबद्ध भाव आदि वैयक्तिकता से मुक्त होने के कारण साधारणीकृत हो जाते हैं और इस कारण स्वभावतः वे आनन्दरूप रस में परिणत हो जाते हैं। फिर भी काव्यानन्द विशुद्ध रूप से आत्मानन्द भी नहीं है। काव्यानन्द के निकट तो है किन्तु आत्मानन्द नहीं है क्योंकि आत्मानन्द स्थायी होता है और उसमें विषयानन्द का संस्पर्श अवश्य रहता है। काव्यानन्द में रति आदि भावों का समावेश रहता है अतः उसमें विषयानन्द का संस्पर्श स्वाभाविक है। काव्यानन्द में मृण्मय अंश और चिन्मय अंश दोनों ही अवस्थित अवश्य रहते हैं, तथापि चिन्मय अंश की प्रमुखता रहने के कारण काव्यानन्द आत्मानन्द के बहुत निकट होता है।

काव्यानन्द के स्वरूप के सम्बन्ध में प्लेटो, अरस्तू, सुकरात, रिचर्ड्स आदि पाश्चात्य विचारकों का विवेचन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, अतः उसका संक्षिप्त विवेचन काव्यानन्द के स्वरूप को समझने में अवश्य ही सहायक होगा। प्लेटो के मतानुसार आत्मा और बुद्धि में अभेदत्व की स्थिति रहती है और अनुभूतियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—आध्यात्मिक और ऐन्द्रिय। प्लेटो ने काव्यानन्द को ऐन्द्रिय अनुभूति सिद्ध किया और इस प्रकार काव्यानन्द को एक निम्नस्तरीय आनन्द घोषित किया। तदनन्तर सुकरात ने भी काव्यानन्द को ऐन्द्रिय अथवा लौकिक तो माना किन्तु प्लेटो की तरह उसे निम्नस्तरीय नहीं कहा। सुकरात के अनुसार काव्यानन्द न तो आध्यात्मिक आनन्द है, न ऐन्द्रिय आनन्द और न बौद्धिक आनन्द। उनके मतानुसार काव्यानन्द 'प्रत्यभिज्ञान' का आनन्द है किन्तु वह प्रत्यभिज्ञान कल्पनात्मक होता है अर्थात् प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक आनन्द न होकर किंचित सूक्ष्म प्रकृति का आनन्द होता है। इस प्रकार सुकरात ने काव्यानन्द में कल्पना की महत्त्वपूर्ण भूमिका की बात कही। इसी क्रम में काण्ट, हीगेल आदि का एतद् विषयक विवेचन उल्लेख्य है। इन सभी ने अपने-अपने शब्दों में मुख्यतः एक ही बात कही कि कला का सृजन एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है और इस कारण काव्यास्वाद भी स्वभावतः एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति होगी और अपने आप में आध्यात्मिक होने के कारण वह आनन्दपूर्ण तो होगी ही। तदनन्तर क्रोचे ने सहजानुभूति की एक नयी अवधारणा प्रस्तुत करके काव्यानन्द के स्वरूप को किंचित नये शब्दों में बाँधने का प्रयत्न किया। क्रोचे के अनुसार कला सहजानुभूति ही है और उसका क्षेत्र आत्मा की विचारात्मक क्रिया का स्वयं प्रकाश्य ज्ञान है। कलासृजन अथवा सहजानुभूति को निबद्ध करना कवि अथवा कलाकार के लिए आनन्दपूर्ण होता है और इस कारण उसके मूर्त रूप का आस्वाद भी पाठक, श्रोता अथवा सहृदय के लिए आनन्दपूर्ण होता है। क्रोचे ने काव्यानन्द को मूलतः आध्यात्मिक माना है किन्तु उसमें कल्पना-तत्त्व की सत्ता अवश्य स्वीकार की है। काव्यानन्द का आधार राग न होकर कल्पना है।

(ग) यदि रसानुभूति आनन्दमयी है तो उस आनन्द का स्वरूप—यह सिद्ध हो जाने पर कि रस का स्वरूप आनन्द रूप है, तो एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि उस आनन्द का स्वरूप कैसा है। रस का आनन्द एक अलौकिक अनुभूति है। इस सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त चिन्तन-विवेचन हुआ है। अधिकाश विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि रस अलौकिक होता है और इसके अलौकिक होने का कारण यह है कि रस अपने आप में अलौकिक विषय का आनन्द होता है। काव्य में वर्णित कोई भी लौकिक विषय काव्य में निबद्ध हो जाने पर अलौकिक रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार दैनिक जीवन के सामान्य-विषय भी काव्य की परिधि में आकर अलौकिक बन जाते हैं। इस विषय को लेकर पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त विवेचन-विश्लेषण हुआ है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने तो रस से निःसृत आनन्द को अनिवर्चनीय कहकर उसकी अलौकिकता सिद्ध की, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की विश्लेषणात्मक दृष्टि ने इस आनन्द का विस्तार से विवेचन किया है। इस दृष्टि से ब्रैडले, डा० रिचर्ड्स, हीगेल, क्रोचे, बोसान्के, बैंल आदि पाश्चात्य विचारकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हीगेल और काण्ट आदि के मतानुसार काव्य-सौन्दर्य एक विशिष्ट अनुभव होता है जो कि आनन्द रूप होता है। क्रोचे, ब्रैडले आदि के अनुसार, "सौन्दर्य की अनुभूति अपने आप में विलक्षण और विशिष्ट प्रकार की होती है।" अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि "रस अथवा काव्यानुभूति जीवनगत अन्य अनुभूतियों से भिन्न है—वह बौद्धिक अनुभूति नहीं है प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूति भी नहीं है, व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त है, व्यक्ति-चेतना की सीमाओं से परे साधारणीकृत अनुभव है—जबकि अन्य जीवनतम अनुभूतियाँ प्रायः इन्हीं कोटियों में आती हैं अर्थात् या तो वे वैयक्तिक रागद्वेष से लिप्त प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूतियाँ होती हैं या बौद्धिक अनूभूतियाँ। इसलिए भारतीय मनीषियों ने इसको अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पायी और पाश्चात्य विचारकों ने एक नवीन भावना 'सौन्दर्य भावना' की कल्पना कर डाली।"

शास्त्रीय दृष्टि से आनन्द मुख्यतः दो प्रकार का होता है—भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक आनन्द भी पुनः तीन प्रकार का हो सकता है—एक तो विशुद्ध रूप से ऐन्द्रिय आनन्द, दूसरा रागात्मक आनन्द और तीसरा बौद्धिक आनन्द। एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि काव्यानन्द आनन्द की उपर्युक्त श्रेणियों में से किसी श्रेणी के अन्तर्गत आता भी है अथवा नहीं और यदि आता है तो किस श्रेणी के अन्तगत। यद्यपि अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने रस को विलक्षण, अलौकिक अथवा अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पा ली है, फिर भी कतिपय विद्वानों ने काव्यानन्द के स्वरूप के विश्लेषण का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्रियों का विवेचन स्थूलतः दो प्रकार का हो सकता है। भौतिकवादी तथा आत्मवादी। भरत, भट लोल्लट आदि के दृष्टिकोण भौतिकवादी रहे हैं। विद्वानों के इस वर्ग के अनुसार काव्यानुभूति विशुद्ध

मुक्त हो जाता है, इसीलिए वह आनन्दमय ही होता है—यह एक प्रकार से भाव के माध्यम से आत्मा अर्थात् शुद्ध-बुद्ध चेतना का आस्वाद है जो सर्वथा आनन्दमय ही होता है।"

(ख) क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी होती है—इसी से सम्बन्धित एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या रस अनिवार्यतः आनन्दपूर्ण होता है। इस प्रश्न को लेकर भारतीय काव्यशास्त्र में विस्तार से विचार-विमर्श हुआ है। यहाँ तक तो सभी में मतैक्य है कि काव्य से उत्पन्न रस आनन्दपूर्ण होता है किन्तु इस सम्बन्ध में अवश्य ही मत-भिन्नता है कि काव्य से निःसृत रस प्रत्येक स्थिति में अर्थात् अनिवार्यतः आनन्दपूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम भरतमुनि का विवेचन उल्लेखनीय है। भरत के मतानुसार, "जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपयोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं उसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित-वाचिक, आंगिक तथा सात्विक (मानसिक) अभिनयों के संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं।" भरतमुनि के इस विवेचन से रस की आह्लादकता का ही परिचय मिलता है। भरत के टीकाकार अभिनवगुप्त की मान्यता भी भरत की स्थापनाओं से मेल खाती है। यद्यपि अभिनवगुप्त स्थायी भावों को सुख-दुखात्मक मानते हैं किन्तु जहाँ तक रस का सम्बन्ध है अभिनवगुप्त उसे आनन्दपूर्ण ही मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने तो अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में रस के आनन्दरूप की प्रतिष्ठा की है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में—

'करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।'

अर्थात् करुण आदि रसों में जो परम आनन्द होता है, उसमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि उनमें दुख होता तो कोई भी उनके प्रेक्षण-अध्ययन आदि में प्रवृत्त नहीं होता। वैसा होने पर रामायण आदि दुख के कारण बन जायेंगे। पंडितराज जगन्नाथ भी रस को आनन्दरूप ही मानते हैं और इस प्रकार अधिकांश काव्यशास्त्री रस को आनन्द रूप मानते हैं। हिन्दी के रीतिकाल में हिन्दी काव्याचार्यों ने रस के इसी आनन्दरूप की स्थापना करते हुए कहा है—

'नृत्य कवित देखत सुनत भये आवरन भंग।
आनन्द रूप प्रकाश है, चेतन ही रस अंग।
जैसो सुख है ब्रह्म को, मिले जगत सुधि जाति।
सोई गति रस में मगन भये सुरत नौ भाँति।'

नाटक अथवा काव्य में वर्णित प्रेम-प्रसंग का अन्तर है। सामान्य जीवन में अनेक
प्रेम-प्रसंग देखने में आते हैं और काव्य में अथवा नाटक में वर्णित प्रेम-प्रसंग भी लग-
भग वैसे ही प्रतीत होते हैं किन्तु सच्चाई यह है कि फिर भी इन दोनों प्रकार के प्रेम-
प्रसंगों में अन्तर होता है। लौकिक और नाटकीय प्रेम-प्रसंगों में जो साम्य भासित
होता है उसका कारण यही है कि हमारे सामान्य जीवन में भी नाटक आदि बहुत
गहरे घुल-मिल गये हैं। सामान्य जीवन के प्रेम-प्रसंगों में व्यक्तिगत स्वार्थ, ईर्ष्या,
अथवा परिहासपूर्ण उक्तियाँ कटुता उत्पन्न कर देती हैं जबकि काव्य में वर्णित प्रेम-
प्रसंगों में ऐसी कोई सम्भावना नहीं होती। इसी आधार पर अभिनवगुप्त आदि
काव्यशास्त्रियों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रसानुभूति दो पृथक् अव-
धारणाएँ हैं।

एक दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि यदि रस भाव का प्रत्यक्ष
अनुभव नहीं है तो क्या वह भाव का अप्रत्यक्ष अनुभव है। विद्वानों के अनुसार रस
भाव का अप्रत्यक्ष अनुभव भी नहीं है। अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अनुभव का आशय
भाव की स्मृति होता है। जब हम किसी प्रेम-प्रसंग का आनन्द उठाते हैं तो वह
प्रत्यक्ष अनुभूति होती होगी और जब उस प्रेम-प्रसंग के बीत जाने पर उससे उत्पन्न
हुए आनन्द का स्मरण करते हैं तो वह परोक्ष अनुभूति कही जायेगी। इस सम्बन्ध में
विद्वानों में मतैक्य है कि रस और उसकी स्मृति में कोई अन्तर नहीं होता। इस
सम्बन्ध में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—पहली तो यह कि जब कोई व्यक्ति किसी प्रेम-
अनुभव का स्मरण करता है तो उसका मन स्थिति के अनुसार सुख और दुख का
अनुभव करता है, मिलन की स्मृतियाँ सुखपूर्ण होती हैं और वियोग की स्मृतियाँ
स्वभावतः दुखद होती हैं और इसके विपरीत रस में संयोग और वियोग दोनों ही
स्थितियाँ आनन्दपूर्ण होती हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि काव्य में वर्णित
प्रेम-प्रसंग भी प्रमाता की दृष्टि में तब तक रस-रूप नहीं बन सकते जब तक कि
प्रमाता अपने 'स्व' की सीमाओं से मुक्त न हो जाये। अतः काव्य में चित्रित शृंगार
रस तभी रस-रूप हो सकता है जबकि प्रमाता व्यक्ति की सीमाओं से मुक्ति पाये।
अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव की स्मृति अथवा उसका परोक्ष अनुभव भी रस
नहीं है। स्मृति अपने आप में परोक्ष अनुभव होती है और इस कारण स्वभावतः
उसमें ऐन्द्रिय तत्त्व का आधिक्य नहीं होता है और साथ ही कल्पना के संघर्ष के
कारण स्मृति भावानुभूति की अपेक्षा रसानुभूति के अधिक निकट कही जा सकती है।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि रस भाव पर आश्रित
होता है फिर भी रसानुभूति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भावानुभूति से सर्वथा
भिन्न होती है। इस विरोधाभास की स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र
कहते हैं कि "रस व्यक्तिबद्ध भाव का आस्वाद नहीं है—साधारणीकृत भाव
का आस्वाद है। साधारणीकृत भाव निर्विषय होने के कारण राग-द्वेष के वंश से

7
रस-सिद्धान्त

उपक्रम—'रस' शब्द का परिचय भारत के प्राचीनतम साहित्य में मिलता है और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस के सुव्यवस्थित विवेचन से बहुत पहले 'रस' शब्द का प्रयोग होता था। आरम्भ में रस का प्रयोग प्रायः चार प्रकार के अर्थों में किया जाता था—पदार्थों का रस, आयुर्वेद का रस, साहित्य का रस और भक्ति का रस। सामान्य व्यवहार में रस के ये चारों अर्थ आज भी प्रवर्तमान हैं। भारतीय वाङ्मय के आदि रूप अर्थात् वेदों, उपनिषदों आदि में रस का प्रयोग किया जाता रहा। निस्सन्देह रस का यह प्राचीनतम प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में होता रहा है। ऋग्वेद में रस का उल्लेख मधु और सोमरस के रूप में हुआ है—

'जन्मे रसस्य वावृध्ने।
स्वादू रसो मधुपेयो वराय।'

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर रस का प्रयोग सोमरस के रूप में किया गया है—

'सोमो अर्वति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसन्।
सुवीरो अभिशास्तिपा: ॥'

अर्थात् संसार को धारण करने वाले सोम इन्द्रिय-पोषण रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में बहुचर्चित सोमरस वैदिक युग के आर्यों को अत्यधिक प्रिय था। सोमरस के रूप में 'रस' शब्द के प्रयोग से स्वभावतः रस का अर्थविकास हो गया और परिणाम यह हुआ कि रस के साथ सोमरस का अपूर्व आस्वाद, स्फूर्ति, शक्ति और मद का भी समावेश हो गया। सोमरस का आस्वाद आह्लादपूर्ण होता था। कालान्तर में आह्लाद का अर्थ सूक्ष्म होता गया और फिर वह भौतिक आह्लाद न रहकर आत्मा का आह्लाद बन गया। इस प्रकार वैदिक युग में ही रस का प्रयोग आत्मा के आनन्द के रूप में किया गया। उदाहरण के लिए, अथर्ववेद की अग्रलिखित पंक्तियाँ देखिये—

की ही रहती है। अपनी सत्ता के द्वारा हम ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जिसमें संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और उस आनन्द का पर्यवसान अपनी चेतना में हो जाता है।" रस की इस अभूतपूर्व सिद्धि में सत्वगुण के साथ रजोगुण और तमोगुणों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रजोगुण के कारण हमारी आत्मा में द्रुति उत्पन्न होती है जबकि तमोगुणों के प्रभाव से हमारी आत्मा का विस्तार होता है और सत्वगुण का प्रभाव यह होता है कि उसका विकास हो जाता है।

भट्टनायक के रस-सिद्धान्त की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि साधारणीकरण की परिकल्पना है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार के आधार पर साधारणीकरण की जो मौलिक परिकल्पना प्रस्तुत की है, उसके प्रति अभिनवगुप्त सरीखे परवर्ती आचार्य सहज हो नतमस्तक हो जाते हैं। यह एक दूसरी बात है कि परिवर्ती आचार्यों ने साधारणीकरण के क्षेत्र, प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किये किन्तु साधारणीकरण की मूल अवधारणा निर्विवाद रूप से भट्टनायक की उपलब्धि कही जायेगी। भट्टनायक के रस-विषयक चिन्तन की एक अन्य विशेषता सामाजिक की दृष्टि से रसास्वाद की प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण करना है। सामाजिक किस प्रकार रस का आस्वादन करता है—भट्टनायक ने इस विषय पर मौलिक चिन्तन का परिचय देते हुए कहा है कि उसके मन में स्थित तमोगुण और रजोगुण अंश का परिहार होकर सत्वगुण-अंश का उद्रेक होता है और इस प्रकार उसका मन नाटकादि का रसास्वाद प्राप्त करता है।

भट्टनायक के रस-विषयक चिन्तन के प्रति अभिनवगुप्त ने कई प्रकार के आक्षेप किये हैं। उनका सबसे पहला आक्षेप तो भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों के प्रति है। अभिनवगुप्त के अनुसार, 'इन दोनों व्यापारों का विवेचन भट्टनायक से पूर्व के किसी भी आचार्य द्वारा नहीं किया गया। अभिनवगुप्त के मतानुसार भट्टनायक को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के चिन्तन से प्राप्त हुई सामग्री की ही व्याख्या प्रस्तुत करनी चाहिए थी। अभिनवगुप्त की दूसरी आपत्ति यह है कि भट्टनायक रस की प्रतीति नहीं स्वीकार करते। अभिनवगुप्त का सशक्त तर्क यह है कि जिसकी प्रतीति ही नहीं होती उसकी सत्ता ही किस प्रकार सम्भव हो सकती है तथापि अभिनवगुप्त का रस-विषयक चिन्तन भट्टनायक का बहुत ऋणी है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के बहुचर्चित रस-सूत्र के सम्बन्ध में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की व्याख्याएँ ही प्रस्तुत नहीं की अपितु अपना स्वतन्त्र मत भी व्यक्त किया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के चिन्तन के रूप में बहुत-सी आधार-सामग्री प्राप्त हुई और स्वभावतः इस कारण उनका अपना मत परवर्ती आचार्यों के लिए आदर्श-रूप में मान्य हुआ। रस-विषयक परवर्ती चिन्तन पर अभिनवगुप्त की

मान्यताओं का भरा-पूरा प्रभाव देखा जा सकता है। अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को अभिव्यक्तिवाद का नाम दिया गया। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद शैव-दर्शन पर आधारित है। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के रस-सूत्र का अर्थ है– "विभावादि और स्थायीभावों में परस्पर व्यंजक-व्यंग्य रूप संयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् विभावादि व्यंजकों के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव ही साधारणीकृत रूप में व्यंग्य होकर शृंगारादि रसों में अभिव्यक्त होते हैं और यही कारण है कि जब तक विभावादि की अवस्थिति बनी रहती है, रसाभिव्यक्ति भी तब तक रहती है, इसके उपरान्त नहीं।" इसी प्रसंग में अभिनवगुप्त ने सामाजिक द्वारा रसास्वादन की प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार सामाजिक रति में आदि स्थायी भाव वासना-रूप में विद्यमान बने रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि ये स्थायीभाव पूर्वजन्म के संस्कारों, इस जन्म के सुख-दुखात्मक अनुभवों तथा सांसारिक व्यवहार का संस्पर्श पाकर सामाजिक के मन में सदैव बने रहते हैं। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने रस-निष्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया में कारण, कार्य और सहकारी कारणों की भूमिका पर भी विचार किया है। काव्य अथवा नाटकादि में राम-सीता के रूप में किये गये वर्णन, अभिनय आदि कारण रूप होते हैं और रामादि के भुज-प्रचालन कार्य-रूप होते हैं। इन कार्यों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले हर्ष तथा लज्जा आदि सहकारी कारण कहलाते हैं। इन्हीं कारणादि को क्रमश: विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहा गया है। लौकिक व्यवहार में ये विभावादि भी लौकिक होते हैं किन्तु काव्य नाटकादि में ये अलौकिक रूप हो जाते हैं। इन्हें अलौकिक इसलिए कहा जाता है क्योंकि लौकिक व्यवहार में तो हर्ष के कारणों से हर्ष उत्पन्न होता है और शोक के कारणों से मानव-मन शोकग्रस्त हो जाता है किन्तु काव्य-नाटकादि में इन सभी प्रकार के कारणों से केवल आनन्द की ही प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त यह भी कहते हैं कि लौकिक व्यवहार के इन कारणादि को विभाव आदि की संज्ञा देने का एक मुख्य कारण यह है कि जब ये कारणादि काव्य अथवा नाटक में अनुस्यूत किये जाते हैं तो इनका सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से न रहकर सर्वमान्य से हो जाता है। लौकिक व्यवहार में तो किसी परिजन के असामयिक निधन से उसके निकट सम्बन्धियों, मित्रों आदि को ही दुख की अनुभूति होगी किन्तु जब इसी प्रकार की असामयिक मृत्यु काव्य अथवा नाटक की अन्तर्विषय बन जाती है तो वह सभी को शोक-संतप्त करती है। वहाँ 'अपना' 'पराए' का भाव ही नहीं रह जाता। इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए—डॉ॰ रामसागर त्रिपाठी कहते हैं—"बस इसी प्रकार के विभावादि नाम से विख्यात कारणादिकों से दर्शकों की चित्तवृत्ति में वासना-रूप में विद्यमान रति इत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। वह अभिव्यक्ति उस समय यद्यपि नियमित रूप से आस्वादन करने वाले के अन्तःकरण में ही होती है किन्तु ऊपर बताये हुए रूप में व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध का परित्याग कर देने के कारण साधारणीकरण के

उपाय से प्रमाता के चित्त में एक ऐसा अपरिमित भाव जाग्रत होता है कि उसे उस समय अपनी परिमित प्रमातृ सत्ता का बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहता और उस अवस्था में उसकी दृष्टि से वे सारी वस्तुएँ बिल्कुल तिरोहित हो जाती हैं जो जानने योग्य कही जा सकती हैं। इस प्रकार वह सारे विश्व में अपनी आत्मा को मिला देता है और सारे विश्व से एकात्म भाव का अनुभव करने लगता है। वह प्रमाता ही समस्त सहृदयों से एकाकार होकर उस रति आदि भाव को प्रत्यक्ष करता है।" लौकिक व्यवहार से किये गये एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकेगी। इलायची, कपूर तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों के मिश्रण से एक विशिष्ट प्रकार का पावक-रस तैयार हो जाता है जिसमें कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों का रस भी व्यक्त हो जाता है। इस पावक-रस की विलक्षणता यह होती है कि यह सभी सुगन्धित द्रव्यों के आस्वाद से भिन्न प्रकार का होता है। ठीक इसी प्रकार काव्य अथवा नाटक के प्रसंग में विभावादि से विलक्षण और अलौकिक आस्वाद का आनन्दलाभ उठाया जाता है और वही वस्तुतः रस है। इस अलौकिक आनन्द की अनुभूति करके मानव-मन एक विशिष्ट प्रकार की मुक्ति दशा का अनुभव करता है जो कि ब्रह्मानन्द सदृश होती है।

रस के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि कार्य-कारण तथा सहकारी कारण के प्रसंग में रस के आस्वादन को कार्य की स्थिति नहीं दी जा सकती और इसका कारण यह है कि कार्य की स्थिति कारणों के नष्ट हो जाने के बाद भी बनी रहती है जबकि विभावादि के विनाश के पश्चात् रस की स्थिति नहीं रह सकती। रस की स्थिति केवल तभी तक होती है जब तक कि विभावादि होते हैं। अभिनवगुप्त यह भी कहते हैं कि रस ज्ञाप्य नहीं होता क्योंकि ज्ञाप्य तो वही हो सकता है जो पूरी तरह निर्मित हो चुका हो। उदाहरण के लिए दीपक के प्रकाश में घड़ा तभी प्रकट हो सकता है जबकि घड़ा पूरी तरह बन चुका हो। यदि घड़े का निर्माण नहीं हुआ है तो कोटिशः दीपकों का प्रकाश भी घड़े का ज्ञापन नहीं कर सकता। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि रस की तो पूर्ण सिद्धि कभी होती ही नहीं, अतः रस को ज्ञाप्य नहीं कहा जा सकता। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस तो विभावादि द्वारा व्यंजना-वृत्ति से उद्घाटित होता है। अभिनव के मतानुसार रस-निष्पत्ति का आशय रस की अभिव्यक्ति से है और कदाचित् इसी कारण अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त को अभिव्यक्तिवाद की संज्ञा दी गयी है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि "विभाव विभावना-व्यापार के द्वारा स्थायी भाव को अंकुरित करता है, अनुभाव अनुभावना व्यापार से इस स्थायी भाव को अनुभव योग्य बना देते हैं और संचारी भाव अनुरंजन व्यापार के द्वारा उसे पूर्णतया व्यंजित कर देते हैं। इस प्रकार प्रेक्षक अथवा पाठक के स्थायी भाव रस रूप में प्रकट अथवा व्यक्त होते हैं।" अभि-

नवगुप्त ने रस-निष्पत्ति की इस समूची प्रक्रिया को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। अभिनवगुप्त ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को तीन चरणों में विभाजित किया है—पहले चरण में तो पाठक अथवा प्रेक्षक को काव्य में अथवा नाटक में व्यक्ति अथवा स्थिति विशेष का परिचय मिलता है और यह विशिष्टता तब तक बनी रहती है जब तक कि रंगमंचीय साज-सज्जा अथवा काव्योचित वर्णनों से उसका लोप नहीं हो जाता। रंगमंचीय साज-सज्जा के कारण व्यक्ति अथवा स्थिति की विशिष्टता दूर हो जाती है, तथापि द्वैत का भाव तो बना ही रहता है। यही दूसरा चरण है। तीसरे चरण में प्रेक्षक अथवा पाठक के मन में स्थित स्थायी भाव साधारणीकृत रूप धारण कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में उनका सम्बन्ध न तो प्रेक्षक से रह जाता है और न किसी अन्य से। विभावादि की विशिष्टता का लोप हो जाने के कारण वे स्थायी भाव सर्व-साधारण के स्थायी भाव बन जाते हैं। अन्तिम अथवा चौथे चरण में प्रेक्षक अथवा पाठक के मन में साधारणीकृत रूप में उद्‌बुद्ध हुए स्थायी भाव रस-रूप बन जाते हैं। रस का यह आस्वादन सर्वथा निर्विघ्न होता है।

जैसा कि पहले ही विवेचन किया जा चुका है, अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त शैव मत का ऋणी है। शैव मत के अनुसार यह अखिल सृष्टि शिव की आन्तरिक इच्छा-शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। संसार में जो कुछ ही दृश्यमान् है वह शिव की इच्छा-शक्ति की ही अभिव्यक्ति है और शिव की इच्छा-शक्ति सर्वथा निर्विघ्न और निर्द्वन्द्व है। इसी मान्यता को आधार मानकर अभिनवगुप्त ने प्रेक्षक के मन में वासना-रूप में अवस्थित स्थायी भाव को निर्विघ्न अभिव्यक्ति को ही रस की संज्ञा दी है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की सत्य, रज और तमोगुण सम्बन्धी अवधारणा को स्वीकार नहीं किया और रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर-रूप सिद्ध किया है। रस का आस्वाद तभी लिया जा सकता है जबकि प्रेक्षक अथवा पाठक व्यक्ति अथवा स्थिति-सम्बन्धों से सर्वथा मुक्त होकर एक विश्रान्ति की अवस्था में पहुँच जाये। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार रस का आस्वादन एक विलक्षण और लोकातीत अनुभूति है। अभिनवगुप्त के शब्दों में, "जब इसका स्वाद किया जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह आँखों के सामने स्फुरित हो रहा हो, मानो हृदय में प्रवेश कर रहा हो, मानो सारे शरीर का आलिंगन कर रहा हो अर्थात् सारे शरीर को अमृत से सींच रहा हो। यह अन्य सब कुछ तिरोहित कर देता है। यही उसी प्रकार हृदय को आनन्द का अनुभव कराता है जिस प्रकार मुक्ति दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। यही अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला शृंगार इत्यादि रस नाम से पुकारा जाने लगता है।"

अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद ने परवर्ती काव्याचार्यों के चिन्तन को पूरी तरह प्रभावित किया है। तथापि महिम भट्ट और धनंजय आदि कतिपय ऐसे विद्वान् भी हैं जिन्होंने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद पर कई प्रकार की आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहले तो अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रस-अभिव्यक्ति के

सिद्धान्त पर ही आपत्ति की गयी है। इस वर्ग के विद्वानों का तर्क है कि रस की अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेने का आशय रस की पूर्व स्थिति स्वीकार कर लेने से है क्योंकि अभिव्यक्ति तो तभी सम्भव है जबकि पूर्वस्थिति हो। यदि रस की पूर्वस्थिति ही नहीं है तो उसकी अभिव्यक्ति ही कैसे हो सकती है। इस आपत्ति का उत्तर स्वयं अभिनवगुप्त ने भी दिया है। अभिनव के अनुसार चावल भात के रूप में प्रस्तुत होता है, ठीक उसी प्रकार प्रेक्षक के मन में स्थित स्थायी भावादि रस-रूप में व्यक्त होते हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति यह है कि यदि अभिनवगुप्त की यह मान्यता स्वीकार कर ली जाती है कि "-स्थायी भाव अपनी सूक्ष्म स्थिति में विभावानुभावादि के संयोग से रस-रूप में अभिव्यक्त होते हैं" तो रस की कोटियाँ भी स्वीकार करनी पड़ेंगी। इस सम्बन्ध में स्थिति स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि विभाव-अनुवाद आदि पृथक्-पृथक् नहीं अपितु एक साथ ही स्थायी भाव के साथ घटित होते हैं और तब कहीं स्थायी भाव रस-रूप में व्यक्त हो पाते हैं। ऐसी स्थिति में रस की कोटियाँ मानने का कोई औचित्य नहीं रह जाता।

अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी हैं और यह निर्विवाद है कि उनके रस-विषयक चिन्तन ने परवर्ती काव्याचार्यों का सफल मार्ग दर्शन किया। अभिनव के अभिव्यक्तिवाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने 'भाव की निर्विघ्न और आस्वादात्मक प्रतीति को रस माना है।" रस का आस्वाद अपने आप में ब्रह्मानन्द के समकक्ष है अतः स्वभावतः वह निर्विघ्न और सर्वथा निभ्रान्त होता है। निस्सन्देह ऐसी कई स्थितियाँ हो सकती हैं जबकि रस के निर्विघ्न आस्वाद में बाधा पहुँचती है। अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की सात स्थितियों का वर्णन किया है जो कि इस प्रकार हैं: (क) **प्रतिपत्ति की अयोग्यता**—कबि अपनी कल्पना के वल पर जिस कथावस्तु का निर्माण करे वह जीवन के यथार्थ से युक्त होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, कथावस्तु जीवन के यथार्थ पर आधारित होनी चाहिए अन्यथा प्रेक्षक का उस पर विश्वास नहीं जम सकेगा। (ख) **स्वगतत्व-परगतत्व-नियर्मन देशकाल विशेषावेश**—रसास्वाद की प्रक्रिया में अपने-पराए का भाव अथवा देशकाल-सापेक्ष अनुभूतियाँ निश्चय ही वाधक होती हैं। नाटक अथवा काव्य के प्रति प्रेक्षक के भावों का साधारणीकरण तभी सम्भव होता है जबकि नाटक अथवा काव्य में वर्णित भावादि व्यक्ति तथा देशकाल आदि की दृष्टि से निर-पेक्ष हों। (ग) **निजसुखदुःखादि विवशीभाव**—यदि प्रेक्षक अथवा पाठक के मन में स्वयं उसी के जीवन के इतने अधिक सुखदुःखादि हैं कि नाटक अथवा काव्य का रसा-स्वाद करते समय भी वह उन्हें नहीं भूल पाता तो निश्चय ही उसका रसास्वाद निर्विघ्न नहीं हो सकता। नाटक देखते समय भी उसे अपने ही सुख-दुख याद आते रहेंगे, अतः स्वभावतः वह नाटक का आनन्द नहीं ले सकेगा। (घ) **प्रतीत्युपायवैकल्प-स्फुटत्वाभाव**—अभिनवगुप्त के अनुसार रस का निर्विघ्न आनन्द तभी उठाया जा सकता है जबकि काव्य की अभिव्यक्ति अथवा नाटक की रंगमंचीय साज-सज्जा और उसके

पात्रों की अभिनयकुशलता कलात्मक दृष्टि से समृद्ध हो। (ढ) अप्रधानता—यदि किसी नाटक अथवा काव्य में अप्रधान पात्रों अथवा घटनाओं, प्रसंगों आदि को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है तो प्रेक्षक के रसास्वाद में निश्चय ही व्यवधान पहुँचेगा। दूसरे शब्दों में, कथावस्तु के भावपक्ष तथा कलापक्ष के मध्य आदर्श सन्तुलन की स्थिति होनी चाहिए। (च) संशययोग—इस रस-विघ्न का आशय यह है कि प्रेक्षक के मन में अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए। यदि किसी घटना, स्थिति आदि की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में प्रेक्षक के मन में किसी प्रकार की भी शंका अथवा संशय की स्थिति बनी रहती है तो स्वभावतः उसके रसास्वाद में व्यवधान पहुंचता है।

अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त की एक अन्य उपलब्धि लोकानुभूति और काव्यानुभूति के मध्य सुस्पष्ट विभाजन रेखा अंकित करना है। लोक-व्यवहार में किसी भी व्यक्ति के क्रियाकलाप दूसरे व्यक्ति के मन में कोई न कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इसके विपरीत काव्यानुभूति में ऐसी स्थिति नहीं होती। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० त्रिपाठी कहते हैं कि लोक में किसी व्यक्ति को कोई काम करते देखकर उस व्यक्ति से अपने सम्बन्ध के अनुसार हमारे अन्दर कोई प्रतिक्रिया जाग्रत हो सकती है परन्तु काव्य में न तो ऐसी प्रतिक्रिया ही जाग्रत होती है और न हमारे अन्दर कोई दूसरा भाव ही आता है। इसलिए काव्य-वाक्य केवल आस्वादन के प्रवर्त्तक ही माने जाते हैं। अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त की एक अन्य विशेषता उसकी दार्शनिक आधारभूमि है। अभिनवगुप्त ने शैवमत के आधार पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। यह सही है कि अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त में कतिपय दोष हो सकते हैं किन्तु फिर भी उनके सिद्धान्त की महत्ता परवर्ती आचार्यों ने मुक्त कंठ से स्वीकार की है। मम्मट, जगन्नाथ आदि ने इसी आधार पर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है।

जगन्नाथ ने यह माना है कि रस की अभिव्यक्ति होती है और वह अभिव्यक्ति मनुष्य के अज्ञान रूपी आवरण के नष्ट हो जाने पर ही हो सकती है। जब जगन्नाथ मनुष्य के अज्ञान रूपी आवरण के नष्ट हो जाने की बात कहते हैं तो उनका आशय यही है कि मनुष्य चैतन्य का विषय हो जाता है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् कहते हैं कि "किसी आच्छादन से ढँका हुआ दीपक उससे मुक्त हो जाने पर चारों ओर के पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वतः भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करती है और स्वयं प्रकाशित होती है। संसार के पदार्थों को अन्तःकरण से युक्त आत्मा भासित करती है और अन्तःकरण के रत्यादि धर्म उसके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। काव्याचार्यों ने जगन्नाथ की परिभाषा के एक दूसरे रूप का भी विवेचन किया है। इस दूसरे रूप के अनुसार रस-निष्पत्ति अपने आप में कोई अलौकिक प्रक्रिया नहीं है। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि "सहृदय की चित्तवृत्ति विशेष योग्यता के कारण अपने सम्मुख प्रस्तुत विभावादि के द्वारा उद्दीप्त

अपनी कल्पना में स्थायी भाव से युक्त आत्मानन्द में तल्लीन हो जाती है।" इस अवस्था में पहुँचकर सहृदय का मन और कहीं भी नहीं रम सकता—वह आत्मानन्द में लीन हो जाता है।

साधारणीकरण—साधारणीकरण का आशय सभी प्रकार के सम्बन्धों के परिहार से है। जब कभी किसी काव्य अथवा नाटक में निहित कोई मानवीय भाव किसी एक व्यक्ति का न होकर सभी का हो जाता है, तो उसे ही भाव का साधारणीकरण कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण का उल्लेख सर्वप्रथम भट्टनायक ने किया था। भट्टनायक ने भरत के रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए साधारणीकरण का प्रयोग किया हैं! भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण की स्थिति वह होती है जिसमें पाठक अथवा प्रेक्षक के मन में 'स्व' और 'पर' का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। पाठक अथवा प्रेक्षक के समक्ष काव्य-नाटकादि में वर्णित प्रत्येक भाव साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत होता है। भट्टनायक के पश्चात् अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण को अत्यन्त सुदृढ़ और वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के दो स्तर बताये हैं—पहला स्तर तो वह होता है जबकि विभावादि का व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध समाप्त हो जाता है और दूसरा स्तर वह होता है जबकि प्रेक्षक अथवा पाठक का 'स्वत्व' अर्थात् व्यक्तित्व-बन्धन नष्ट हो जाता है। इन्हीं दोनों स्तरों को अन्य प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है—अर्थात् पहले स्तर पर तो विभावादि के साथ स्थायी भावों का और दूसरे स्तर पर प्रेक्षक अथवा पाठक की अनुभूतियों का साधारणीकरण हो जाता है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त की दो मान्यताएँ उल्लेख्य हैं—एक तो यह कि सामाजिक के मन में स्थायी भाव वासना रूप में अवस्थित रहते हैं और दूसरी यह कि स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है।

साधारणीकरण का विवेचन करने से पूर्व भट्टनायक और अभिनवगुप्त की इस विषय से सम्बन्धित मान्यताओं का सापेक्ष अध्ययन आवश्यक है और निस्सन्देह इस प्रकार साधारणीकरण का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो सकेगा। साधारणीकरण के सम्बन्ध में भट्टनायक ने चार महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं—

(1) काव्य अथवा नाटक में साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(2) यह साधारणीकरण वस्तुतः भावकत्व प्रक्रिया का मूल है अर्थात् साधारणीकरण और भावकत्व व्यापार एक ही हैं।

(3) भावकत्व व्यापार के माध्यम से भाव्यमान स्थायी भाव ही रस रूप बन जाते हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकारों के अनुसार भाव्यमान साधारणीकृत का ही पर्याय है।

(4) साधारणीकरण रसास्वाद में पहले की प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के माध्यम से रस के विभिन्न अवयव अपने वैशिष्ट्य से मुक्ति पा लेते हैं और आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत होते हैं।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की इन्हीं मान्यताओं में किंचित संशोधन करके

नितान्त नये रूप में प्रस्तुत किया। अभिनवगुप्त के शब्दों में, "तस्यां च मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्।" अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य में आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप स्थायीभाव देशकालादि के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। आगे चलकर अभिनवगुप्त यह भी कहते हैं कि काव्य में स्थायी भावादि सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और यह निर्विवाद है कि यही लौकिक बन्धन अपनी परिमिति के कारण दुखादि के मूल होते हैं। जैसे ही मानवमन इन बन्धनों से मुक्त होता है, वह लौकिक सुख-दुख से स्वतः ही मुक्त हो जाता है। साधारणीकरण की स्थिति वहीं होती है जबकि पाठक अथवा प्रेक्षक सभी प्रकार के लौकिक बन्धनों से मुक्त होकर सर्वव्याप्त हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने अभिनवगुप्त की इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक जैसा वासना होने के कारण सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है।..........इस प्रकार एकाग्रचित्त होने के कारण समस्त सामाजिक जन रंगमंच पर उपस्थित नृत्य, गीत आदि सुधा सागर के समान प्रतीत होते हैं।" अभिनवगुप्त के उपर्युक्त विवेचन से चार महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होते हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) काव्य अथवा नाटक में साधारणीकरण स्थायी भाव का होता है, विभावादि का नहीं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं और इसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण के कारण होता है।

(2) अभिनवगुप्त के अनुसार स्थायीभाव के साधारणीकरण का आशय—विभिन्न प्रकार के लौकिक बन्धनों की मुक्ति से है। व्यक्ति-संसर्ग ही दुखों और कष्टों का मूल होता है और ज्यों ही स्थायी भावों को व्यक्ति-संसर्ग से मुक्ति मिलती है त्यों ही साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(3) काव्य अथवा नाटक में जो साधारणीकरण होता है वह किसी व्यक्ति का नहीं होता, समूह का भी नहीं होता—सारा समाज एकाग्रचित्त होकर उस भाव को सामूहिक रूप से अनुभव करता है।

(4) इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साधारणीकरण वस्तुतः स्थायी भाव का होता है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि गोविन्द ठाकुर ने अभिनवगुप्त की इन्हीं मान्यताओं को नए रूप में प्रस्तुत किया है। गोविन्द ठाकुर के अनुसार अभिनवगुप्त का वास्तविक आशय यह था कि साधारणीकरण विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन अनुभाव, स्थायी तथा संचारी सभी को होता है। अपनी इस मान्यता के पक्ष में गोविन्द ठाकुर कहते हैं कि साधारणीकरण तो एक व्यापक अवधारणा है और

वह विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी सभी का होता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त हैं वे विशेष से सामान्य बन जाते हैं और जो अमूर्त भाव-रूप हैं वे व्यक्ति संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं—विभावों की देशकाल के बन्धन से मुक्ति होती है और भावों की स्व-पर चेतना से।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के विवेचन को साभार ग्रहण किया है। मम्मट ने अभिनव की मान्यताओं को ही विशद रूप से प्रस्तुत किया है और उन्होंने कोई नितान्त मौलिक बात प्रस्तुत नहीं की। मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने निश्चय ही साधारणीकरण के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने भी स्थायी भाव तथा विभावादि के साधारणीकरण की बात कही है किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि आश्रय के साथ प्रमाता का अभेदत्व स्थापित हो जाता है और इस बात पर विश्वनाथ ने बहुत बल दिया है। विश्वनाथ के शब्दों में—

'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।'

अर्थात् यहाँ साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करने वाले हनुमान आदि से अभिन्न समझने लगता है। हनुमानादि के साथ अभेदत्व की स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण समुद्रलंघनादि के प्रति मनुष्यों का उत्साह दूषित नहीं होता। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है—सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं वरन् अलौकिक शक्तिसम्पन्न देवादि के साथ भी। एक उदाहरण से बात और स्पष्ट हो सकेगी। लौकिक जीवन में हम किसी व्यक्ति को अपनी उँगली पर पूरा पर्वत लाने की बात सोच भी नहीं सकते किन्तु काव्य नाटकादि में जब हनुमान, हाथ की उँगली पर पर्वत टिकाये दीखते हैं तो हमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होता। इसका एक मात्र कारण यही है कि काव्य नाटकादि में वर्णित हनुमान के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अतः स्वभावतः उनके द्वारा किये जाने वाले अलौकिक कृत्य भी गले उतर जाते हैं।

आचार्य विश्वनाथ के पश्चात् पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण को लेकर स्वतन्त्र और गम्भीर चिन्तन का परिचय दिया है। जगन्नाथ जी के अनुसार सबसे पहले हमें काव्य अथवा नाटकादि में प्रस्तुत विभावों का बोध होता है। इसके पश्चात् व्यंजना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक में वर्णित दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति आसक्ति का भाव रखता है। तदुपरान्त हमारी सहृदयता के कारण हमारे

भीतर एक प्रकार की भावना जन्म ले लेती है अर्थात् हमारी आत्मा पर दुष्यन्तत्व छा जाता है अथवा यूँ कह सकते हैं कि हम स्वयं अपने को ही दुष्यन्त मानने लगते हैं। जगन्नाथ के अनुसार हमारी यह भावना एक प्रकार का दोष है और इसी दोष के कारण हम अपने को दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेमी समझने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, रंग-मंच पर दीखने वाले दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति रतिभाव भावना-दोष के कारण हमारा ही रति-भाव बन जाता है। इस प्रकार पंडितराज जगन्नाथ ने प्रकारान्तर से विश्वनाथ के ही सिद्धान्तों को मान्यता दी है, अन्तर केवल यही है कि जगन्नाथ ने प्रपने विवेचन में दार्शनिकता का पुट दे दिया है। स्पष्टतः पण्डितराज ने तादात्म्य की बात तो मानी है किन्तु साधारणीकरण की सत्ता स्वीकार नहीं की है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि तादात्म्य अनुभवसिद्ध नहीं होता। काव्य अथवा नाटक का परिशीलन करने पर हम अपने को दुष्यन्त-शकुन्तला रूप में कैसे समझ सकते हैं? इसके विपरीत साधारणीकरण एक अनुभवसिद्ध अवधारणा है। रंग-मंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करने वाले पात्रों की विशिष्ट परिस्थिति हमारे सामने से ओझल हो जाती है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् शास्त्रीय विवेचन प्रायशः समाप्त हो गया। जगन्नाथ के लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पुनः साधारणीकरण के प्रश्न पर मौलिक चिन्तन का परिचय दिया। आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण पर केवल प्राचीन आचार्यों के मतों का ही समाहार नहीं किया अपितु आधुनिकता पर दृष्टि रखते हुए स्वतन्त्र चिन्तन का भी परिचय दिया। आचार्य शुक्ल के एतद्विषयक चिन्तन की मूल स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(1) जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।

(2) काव्य अथवा नाटक में वर्णित विषय सदैव विशेष होता है, सामान्य नहीं। काव्य पाठक के समक्ष व्यक्ति को लाता है, जाति को नहीं।

(3) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सहृदय पाठकों का श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(4) जिस व्यक्ति विशेष के प्रति कवि अथवा पात्र जिस भाव को व्यक्त करता है, पाठक अथवा प्रेक्षक के समक्ष वही व्यक्ति विशेष उपस्थित रहता है।

(5) प्रेक्षक अथवा पाठक की कल्पना में मूर्ति तो व्यक्ति-विशेष की ही होगी किन्तु वह मूर्ति अपने आप में ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके और जो पाठक तथा प्रेक्षक के मन में वही भाव उद्बुद्ध कर सके जिसकी अभिव्यक्ति कवि अथवा आश्रय ने की हो। इस प्रकार काव्य अथवा नाटक में साधारणीकरण आलम्बनत्व का धर्म होता है।

(6) व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। × × × 'विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं', इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।

(7) साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में होनी चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।

शुक्ल जी के उपर्युक्त विवेचन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है और आलम्बन का अभिप्राय भाव के विषय से होता है। यह एक दोहरी प्रक्रिया है—पहले तो यह आलम्बन कवि के भाव का विषय बनता है और फिर वही आलम्बन सारे सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है। शुक्ल जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि काव्य अथवा नाटक में साधारणीकरण वस्तुतः आलम्बन धर्म का होता है, अर्थात् ऐसे सामान्य गुणों का साधारणीकरण होता है जिनसे युक्त होने के कारण सीता श्रीराम को प्रिय लगती हैं। तथापि आलम्बन के साधारणीकरण का आशय यह भी नहीं है कि राम-सीतादि का व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता अथवा वे एक जाति के रूप में व्यंजित होते हैं। सचाई यह है कि साधारणीकरण की अवस्था में भी आलम्बन का व्यक्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है किन्तु उसमें कतिपय ऐसे सामान्य गुणों का समावेश अवश्य हो जाता है जिनके कारण सीता-रामादि सारे सहृदय समाज के उसी भाव का विषय बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक शंका यह उठती है कि सीता-रामादि का व्यक्तित्व भी बना रहे और उसका साधारणीकरण भी हो सके—इस द्विविधात्मक स्थिति का रसायन कैसे हो सकेगा। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि साधारणीकरण सीता-रामादि का नहीं अपितु उनके सामान्य गुणों अर्थात् आलम्बन धर्म का होता है। सफल साधारणीकरण वही होगा जबकि भाव की अनुभूति प्रथमशः कवि अथवा नाटककार में, फिर अभिनय करने वाले पात्रों में और अन्ततः सहृदयों में। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण आलम्बन-धर्म का माना है। 'धर्म' एक व्याख्यासापेक्ष शब्द है। अग्नि का धर्म है उष्णता और प्रकाश और यही अग्नि को अग्नि बनाते हैं। उष्णता और प्रकाश के अभाव में अग्नि की कल्पना भी नहीं की जा सकती; अतः अग्नि के धर्म भी यही हुए—उष्णता और प्रकाश। इसी प्रकार आलम्बन धर्म का आशय आलम्बन की ऐसी विशेषताओं से है जिनके कारण वह आलम्बन कहलाता है और जिनके अभाव में वह आलम्बन नहीं रह जाता।

आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण का विवेचन करते हुए एक शंका और उठायी है। शुक्ल जी यह मानते हैं कि कवि अथवा नाटककार मूलपात्र के साथ एकात्म भाव

का अनुभव करता है और तदुपरान्त अपनी कविता के माध्यम से पाठकों को भी अपनी भावना में सहज ही अन्वित कर लेता है। तथापि ऐसे भी कई स्थल अथवा स्थितियाँ हो सकती हैं जिनके साथ पाठक अथवा प्रेक्षक एकात्म भाव की अनुभूति नहीं कर पाता अथवा उसका तादात्म्य नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए, रावण द्वारा सीता का हरण कर लिए जाने और नाना प्रकार से प्रताड़ित किये जाने के प्रसंग के प्रति किसी भी पाठक का तादात्म्य कैसे हो सकता है। इसी प्रकार सीता-स्वयंर के समय राम द्वारा धनुभंग किये जाने पर परशुराम के क्रोधी स्वभाव के प्रति स्वभावतः क्रोध ही आता है, तादात्म्य की स्थिति नहीं उत्पन्न हो पाती। इस प्रकार के प्रसंगों के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने निम्न कोटि के रस की स्थिति मानी है। किन्तु रस के कोटि-निर्धारण की मान्यता पहले ही विवाद का विषय बनी रही है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने नितान्त मौलिक चिन्तन का परिचय देते हुए कहा है कि "पाठक या दर्शक का तादात्म्य कवि की भावना के साथ होता है। कवि जिस प्रकार की भावना का आस्वादन पाठक को कराना चाहता है या प्रकरण विशेष में कवि की जैसी भावना होती है पाठक उसी का आस्वादन करता है।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर साधारणीकरण के सम्बन्ध में चार-पाँच मान्यताएँ उभरती हैं जिनका विवेचन अपेक्षित है। पहली मान्यता के अनुसार साधारणीकरण रस के समस्त अवयवों अर्थात् विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी भावों का होता है। इस मान्यता के प्रवर्त्तक भट्टनायक हैं, जिनके मतानुसार साधारणीकरण पहले विभावादि का होता है और उसके परिणामतः स्थायी भाव का होता है। दूसरी मान्यता के सूत्रधार अभिनवगुप्त हैं। अभिनव के अनुसार, साधारणीकरण रस के समस्त अवयवों का होता है। सबसे पहले विभावादि का साधारणीकरण होता है और उसके परिणामस्वरूप स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है और इस कारण सहृदय व्यक्ति-संसर्गों अथवा स्व-पर के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय चेतना की यह मुक्ति ही साधारणीकरण की स्थिति है और यही मुख्य है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत से भाव तथा विषयी पक्ष की स्थिति स्वीकार की गयी है। तीसरा मत विश्वनाथ का है। विश्वनाथ के मतानुसार साधारणीकरण तो सभी का होता है किन्तु इससे भी आगे चलकर विश्वनाथ भी कहते हैं कि सहृदय की चेतना का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है अथवा यूँ कहा जा सकता है कि सामाजिक की चेतना विकसित होकर आश्रय के अलौकिक कृत्यों के साथ सहज तादात्म्य स्थापित कर लेती है। विश्वनाथ ने अपनी बात को दार्शनिक पुट दिया है और उनका योगदान यही है कि उन्होंने आश्रय के साथ तादात्म्य की अवधारणा प्रस्तुत करके साधारणीकरण को अपेक्षयता अधिक वैज्ञानिक और तर्कपुष्ट रूप देने का प्रयास किया है। इस क्रम में चौथी मान्यता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के अनुसार साधारणीकरण वस्तुतः आलम्बन अथवा आलम्बनत्व-धर्म का होता है। शुक्ल जी के मत से—"कवि आलम्बन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की

रक्षा करते हुए भी साधारण धर्मों के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्बुद्ध करता है, जैसा कि काव्य-प्रसंग के अन्तर्गत आश्रय के मन में आता है। इस प्रकार भाव के साधारणीकरण को शुक्ल जी यथावत् स्वीकार करते हैं किन्तु बल उनका विभाव अर्थात् आलम्बन या आलम्बन धर्म के साधारणीकरण पर ही है।" इस प्रसंग में आचार्य शुक्ल साधारणीकरण के तीन महत्त्वपूर्ण बिन्दु भी स्वीकार करते हैं—कवि, नायक तथा सामाजिक। यह मत भट्टतौत का है जिसे शुक्ल जी ने भी स्वीकार किया है।

विभिन्न मतों का विवेचन—इन विभिन्न मतों के विवेचन का मूल उद्देश्य यही तय करना है कि साधारणीकरण वस्तुतः किसका होता है। साधारणीकरण पर विचार करते समय दो सत्ताएँ निर्विवाद रूप से उभरती हैं—(1) वस्तु अथवा विषय तथा (2) विषयी। विषय के अन्तर्गत विभावादि, अनुभाव, संचारी भाव आदि आते हैं जबकि विषयी के अधीन पाठक प्रेक्षक अथवा सामाजिक आता है। भट्टनायक के मतानुसार साधारणीकरण रस के सभी अवयवों का होता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हम रस के सभी अवयवों के साधारणीकरण की बात कहते हैं तो हम आश्रय का साधारणीकरण भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया में दो स्थितियाँ हुईं—आश्रय का साधारणीकरण और प्रेक्षक अथवा पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य। आश्रय के साधारणीकरण का आशय अलौकिक शक्ति और शौर्य से सम्पन्न हनुमान के व्यक्ति-वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके सामान्य रूप का साक्षात्कार। आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य का आशय यह है कि अलौकिक शक्तिसम्पन्न हनुमान को देखकर प्रमाता भी अपने को हनुमान समझने लगता है। तथापि यह उल्लेख्य है कि आश्रय के साधारणीकरण का आशय यह नहीं है कि हनूमान सामान्य सांसारिक व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है अथवा हनुमान के स्थान पर जाति अथवा वर्ग का वर्णन किया जाता है। वस्तुतः आश्रय के साधारणीकरण का अर्थ यही है कि "आश्रय के गौरव का वैशिष्ट्य देशकालबद्ध रूप तिरोहित हो जाता है और सामान्य मानवीय औदात्य उभरकर सामने आता है जो सहृदय समाज के संस्कारों में निसर्गतः विद्यमान है।" आचार्य विश्वनाथ यह मानते हैं कि प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है और समुद्रलंघन तथा धनुर्भंग जैसे अलौकिक कृत्य करने के लिए उत्साहित हो जाता है। यह स्थिति हनुमान और राम सरीखे अलौकिक व्यक्तित्वधारियों के प्रति तो सम्भव है किन्तु दुष्ट तथा खल पात्रों के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है। दुष्ट तथा खल पात्र भी तो आश्रय ही होता है। भला शूर्पणखा अथवा रावण के साथ पाठक अथवा प्रेक्षक का ताद[illegible] कैसे हो सकता है। इस स्थिति का समाधान इस ढंग से हो सकता है कि [illegible] वि का साथ प्रमाता के तादात्म्य की स्थिति स्वतन्त्र अथवा प्रमुख स्थिति [illegible] है और यही और वह साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के एक अंग के [illegible] चाहिए। आश्रय की भाँति ही नायक के साधारणीकरण की [illegible] शास्त्र में उपलब्ध सर्वा-
[illegible] शास्त्र है। भरत ने ही सर्व-

की है। नायक के साथ प्रमाता का तादात्म्य साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के एक अंग के रूप में ही समझा जा सकता है।

शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकरण आलम्बन-धर्म का होता है। इसका आशय यह है कि काव्य अथवा नाटक में वर्णित व्यक्ति अथवा वस्तु विशिष्ट होते हुए भी कुछ ऐसे सामान्य गुणों से युक्त होती है जो कि सामाजिक अथवा प्रमाता में एक-सा ही भाव जाग्रत करती है। अतः साधारणीकरण आलम्बन का नहीं, उसके सामान्य धर्म अथवा गुणों का होता है। उदाहरणतः जब सीता रूपी आलम्बन की बात कही जाती है तो उसका आशय यही है कि सीता के ऐसे सामान्य गुणों का साधारणीकरण होता है जिनके कारण एक ओर तो वह सीता बनी रहती है, दूसरी ओर अपने सीता-धर्म अथवा सामान्य गुणों के कारण समस्त प्रेक्षक समाज के अनुराग का आलम्बन बन जाती है। शुक्ल जी की यह मान्यता अपने आप में सर्वाधिक तर्कसंगत और सुस्पष्ट होते हुए भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। स्वयं शुक्ल जी भी अपनी मान्यता से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं थे। पहले तो शुक्ल जी ने कहा कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है, तदुपरान्त उन्हें यह मानना पड़ा कि साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है। यही नहीं, शुक्ल जी ने यह भी स्वीकार किया कि साधारणीकरण भी ऐसे आलम्बन-धर्म का हो सकता है जो कि औचित्य अथवा नैतिक दृष्टि से परिपुष्ट हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आलम्बन का क्षेत्र व्यापक से सीमित होता गया और अन्ततः वह परम्परागत नैतिक मूल्यों के परिबद्ध हो गया। शुक्ल जी के मतानुसार राम, सीतादि प्रीतिकर आलम्बनों का ही साधारणीकरण हो सकता है और रावण, शूर्पणखा आदि अप्रीतिकर आलम्बनों का साधारणीकरण हो ही नहीं सकता। निस्सन्देह शुक्ल जी की इस मान्यता में नैतिकता के प्रति प्रबल आग्रह की गन्ध आती है जबकि काव्य अथवा नाटकादि का क्षेत्र नीति-संहिता से बंधा हुआ नहीं हो सकता। काव्य की पहली शर्त तो उसकी सार्वभौमिकता होती है जिसका सफल निर्वाह मानवता के उदात्त धरातल पर ही हो सकता है। नैतिक आदर्शों की रक्षा करने के लिए काव्य की सार्वभौमिकता की बलि नहीं दी जा सकती।

तीसरी सम्भावना यह हो सकती है कि साधारणीकरण सहृदय की चेतना का होता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की मान्यता यह है कि नाटक अथवा काव्यादि में विभावादि साधारणीकृत रूप में व्यक्त होते हैं और इसी कारण प्रमाता अथवा सामाजिक की चेतना भी स्व और पर के लौकिक बन्धनों से मुक्त हो जाती है। परिणाम यह होता है कि प्रमाता का चित्त एकतान और साधारणीकृत हो जाता है और फिर उसे सभी कुछ साधारण दीखता है। यह स्थिति भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती क्योंकि चित्त की यही एकतानता तो रस होती है—यही तो अभीष्ट है, परिणति है, सच्चे अर्थों में साधारणीकरण है।

इस प्रकार पुनः भट्टनायक की यह मान्यता विचारणीय हो जाती है कि साधारणीकरण रस के सभी अवयवों अथवा सर्वांग का होता है। किसी भी प्रसंग, घटना

अथवा स्थिति के कई अंग होते हैं—जैसे कि जनकवाटिका प्रसंग में आश्रय के रूप में राम, आलम्बन के रूप में सीता, राम की विभिन्न चेष्टाओं के रूप में अनुभाव, जनकवाटिका के प्राकृतिक सौन्दर्य के रूप में उद्दीपन, आश्रय के मन में उत्पन्न होने वाले हर्षादि विभिन्न भावों के रूप में संचारी भावादि। भट्टनायक के अनुसार इन सारे अवयवों का साधारणीकरण हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण प्रसंग अपने देशकालादि वैशिष्ट्य से मुक्त होकर साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत होता है और इसके साथ ही प्रेक्षक अथवा सामाजिक की दृष्टि भी व्यक्ति-संसर्गों से सर्वथा मुक्त हो जाती है, यह सारा प्रसंग उसके समक्ष साधारणीकृत रूप में उपस्थित रहता है। तथापि यह प्रसंग अपने आप में कवि की भावना ही तो है। कवि अपनी भावना को ही कल्पना का संसर्ग देकर कविता में पुनःसर्जित करता है। काव्यशास्त्रीय भाषा में कवि की इस भावना को ध्वन्यार्थ कहा जाता है। यह ध्वन्यार्थ एक व्यापक एवं संश्लिष्ट काव्यात्मक चित्र होता है जिसमें कवि की भावनाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कवि की भावना के परिचायक ये छोटे-छोटे बिम्ब एक संश्लिष्ट ध्वन्यार्थ में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीकरण रस के सभी अवयवादि का नहीं होता अपितु कवि की भावना का होता है। और यह मान्यता निस्सन्देह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अधिक अनुकूल है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में जिसे लोक हृदय की पहचान हो।" डॉ० नगेन्द्र की इस मान्यता को स्वीकार कर लेने पर 'अप्रीतिकर पात्रों के साथ तादात्म्य' की शंका का भी सहज समाधान हो जाता है। आश्रय रूप में रावण आदि यदि सीता के प्रति कुत्सित भावों को व्यक्त करता है तो इससे हमारे भीतर रसास्वाद में कोई बाधा नहीं पहुँचती क्योंकि हमारा साधारणीकरण रावण के साथ नहीं अपितु इस प्रसंग के माध्यम से कवि द्वारा व्यक्त भावना अथवा अनुभूति के साथ होता है। ऐसे प्रसंगों में सामाजिक के मन में वही भाव जाग्रत होंगे जो कि कवि की दृष्टि में अभिप्रेत होंगे—रावणादि तो उन भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम हैं। रावण के प्रति कवि का घृणित भाव सहज ही सामाजिक के तद्नुकूल भाव से घुल-मिल जाता है और यही घुलना-मिलना शास्त्रीय भाषा में साधारणीकरण कहलाता है।

रसों की संख्या—रस-सिद्धान्त पर भारतीय काव्यशास्त्र में उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन और आधिकारिक ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है। भरत ने ही सर्व-

प्रथम रसों की संख्या आदि का विवेचन किया। भरत के मतानुसार रसों की संख्या आठ है और ये आठ रस इस प्रकार हैं—

'शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाःस्मृताः।'

अर्थात् आठ रस इस प्रकार हैं-- शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि भरत ने जिन आठ रसों का निर्धारण किया है, वह अपने आप में कोई नया नहीं है। उनसे पहले द्रुहिण नाम के किसी महात्मा ने भी इसी प्रकार आठ रसों का वर्णन किया था। भरत के पश्चात् अभिनवगुप्त ने भरत के ही किसी अन्य पाठ के आधार पर नौ प्रकार के रसों का विवेचन किया अर्थात् अभिनवगुप्त ने भरत के काव्य-सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए यह सिद्ध किया कि भरत के अनुसार रसों की संख्या आठ नहीं नौ थी। अपने रस-सिद्धान्त की पुष्टि में अभिनवगुप्त ने भरत का पाठ इस प्रकार माना है —

'वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवनाट्यरसः स्मृताः।'

तथापि अभिनव की यह धारणा उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं सिद्ध होती। भरत के पश्चात् दण्डी ने भी इस विषय का विवेचन करते हुए रसों की संख्या आठ ही स्वीकार की है। दण्डी के पश्चात् उद्भट ने रसों की संख्या आठ के स्थान पर नौ कर दी। उद्भट के शब्दों में—

'शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवनाट्ये रसाः स्मृताः।'

इस प्रकार उद्भट ने परम्परागत आठ रसों में शान्त रस भी जोड़ दिया और इस तरह रसों की संख्या नौ हो गयी। इसी आधार पर शान्त रस को शास्त्रीय मान्यता दिलाने का श्रेय भी उद्भट को दिया जाता है। उद्भट के पश्चात् वामन का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु उन्होंने रस-संख्या आदि पर कोई विचार नहीं किया। वामन के पश्चात् रुद्रट ने पुनः रस-संख्या के प्रश्न पर विचार किया और उनके अनुसार परम्परागत आठ रसों के अतिरिक्त प्रेयान् नामक नौवाँ रस भी होता है। रुद्रट के शब्दों में—

'शृंगारवीरकरुणवीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानीति मन्तव्या रसाः सर्वे।'

रुद्रट के अनुसार प्रेयान् नामक रस का स्थायी भाव स्नेह होता है। तथापि तत्कालीन काव्यशास्त्रियों ने इस नये रस को मान्यता नहीं दी जिसका परिणाम यह हुआ कि रुद्रट के पश्चात् रुद्र भट्ट ने शान्त रस सहित नौ रसों को मान्यता दी है। आनन्दवर्द्धन की प्रवृत्ति समूचे काव्यशास्त्रीय विधान को व्यवस्थित करने के प्रति थी अतः उन्होंने भी नव रसों को ही मान्यता प्रदान की है। रस संख्या के विवाद के

सम्बन्ध में धनंजय और अभिनवगुप्त की मान्यताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धनंजय के अनुसार नाटक में तो आठ रसों की स्थिति हो सकती है। धनंजय यह मानते हैं कि शान्त रस की स्थिति भी हो सकती है किन्तु रूपकों में शान्त रस की पुष्टि सम्भव नहीं है। इस प्रकार धनंजय की इस धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "काव्य में नवरस की स्थिति धनंजय को मान्य है परन्तु चूँकि उनका विवेच्य विषय रूपक है अतः उनके लिए शान्त रस का वर्णन अप्रासंगिक है।" इसके विपरीत अभिनवगुप्त ने शान्त रस की स्वतन्त्र सत्ता निर्भ्रान्त शब्दों में स्वीकार की है। अभिनवगुप्त ने अत्यन्त सुस्पष्ट और निश्चयात्मक शब्दों में शान्त रस सहित नौ रस माने हैं—'एवं ते नवैव रसाः।' अभिनवगुप्त के पश्चात् भोज ने पुनः रस-संख्या पर विचार किया और परम्परागत नवरसों के अतिरिक्त तीन रसों को और मान्यता दी—ये तीन रस हैं—प्रेयान्, उदात्त और उद्धत रस। यही नहीं, भोज ने और कई प्रकार के रसों की सत्ता भी स्वीकार की है जैसे विलास, अनुराग, आनन्द आदि। वस्तुतः भोज के इस रस-संख्या विषयक विवेचन के मूल में रुद्रट आदि की यही धारणा कार्यरत है कि रसों की संख्या अनन्त होती है।

भोज के पश्चात् हेमचन्द्र ने भी अभिनवगुप्त से मिलती-जुलती बात कही है। हेमचन्द्र ने स्नेह, लौल्य तथा भक्ति रसों की सत्ता स्वीकार की है और उनके मत से इन विभिन्न भावों का समाहार परम्परागत नौ रसों में सहज ही हो जाता है। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र, गुणचन्द्र ने परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त व्यसन, दुख और सुख—इन तीन रसों की सत्ता भी स्वीकार की है। आचार्य विश्वनाथ ने भी रस संख्या के प्रश्न पर विचार किया है और उन्होंने परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त वत्सल रस को भी मान्यता दी है। विश्वनाथ के पश्चात् भानुदत्त ने रस-संख्या के सम्बन्ध में नितान्त मौलिक चिन्तन का परिचय देते हुए रस को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया है - लौकिक रस और अलौकिक रस। लौकिक रस की श्रेणी में ऐसे छः रस आयेंगे जिनका आस्वाद छः इन्द्रियों के माध्यम से किया जाता है। अलौकिक रस की श्रेणी में ज्ञान के तीन रूप आते हैं और इसी आधार पर अलौकिक रसों की संख्या तीन बतायी गयी है—स्वाप्निक, मनोरथिक और औपनायिक। स्वाप्निक रस की प्राप्ति स्वप्न में होती है। मनोरथिक रस का सम्बन्ध लौकिक संसार के मनोरथों की पूर्ति से होता है। अलौकिक रस का तीसरा भेद काव्यरस अथवा नाट्यरस कहलाता है। जहाँ तक रसों की संख्या का प्रश्न है, भानुदत्त के अनुसार कुल मिला कर चौदह रस होते हैं। परम्परागत नव रसों के अतिरिक्त भानुदत्त के पाँच अन्य रसों को भी मान्यता प्रदान की गयी है जो कि इस प्रकार हैं—वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, कार्पण्य तथा माया।

इस प्रसंग में वैष्णव आचार्य रूप गोस्वामी ने पुनः दो प्रकार के रसों का विवेचन किया। प्राचीन काव्यशास्त्रियों में गोस्वामी जी इस दृष्टि से अन्तिम आचार्य माने जा सकते हैं। गोस्वामी जी ने भक्ति रस को मुख्य रस की श्रेणी में रखा है

और अन्य शास्त्रीय रसों की गणना गौण रसों में की है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रस संख्या विस्तार के इस क्रम का खण्डन करके पुनः परम्परागत रसों की प्रतिष्ठा की। जगन्नाथ के अनुसार रस-संख्या की शास्त्रीय परम्परा का पालन ही श्रेयष्कर है।

मध्ययुगीन और आधुनिक विद्वानों ने भी अपने-अपने ढंग से रस संख्या पर विचार किया है। जहाँ तक मध्ययुगीन कवियों आदि का प्रश्न है, यह प्रायशः सिद्ध है कि इन विद्वानों ने अधिकांशतः संस्कृत काव्यशास्त्र में विद्यमान परम्परा का ही पोषण किया। केशव, देव आदि कतिपय कवियों ने निश्चय ही शृंगार रस के कई अन्य उपभेदों आदि का उल्लेख किया है आधुनिक विद्वानों, कवियों आदि में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम सबसे पहले आता है। भारतेन्दु जी ने परम्परागत नव रसों के अतिरिक्त भक्ति, वात्सल्य, सख्य और आनन्द रस की भी परिकल्पना की। तथापि आधुनिक युग के साहित्य का परिशीलन करने पर कतिपय नये रसों की स्थापना भी की जा सकती है जैसे कि प्रकृति रस, देशभक्ति रस, क्रान्ति रस, उद्वेग रस तथा प्रक्षोभ रसादि।

रसों का यह विस्तार-क्रम केवल मूल रसों तक ही नहीं अपितु रस के उपभेदों को लेकर भी चलता रहा। उदाहरण के लिए शृंगार, हास्य, करुण, वीर आदि रसों के अनेक उपभेदों आदि का वर्णन किया गया है। रस के उपभेदों की संख्या का यह विस्तार क्रम इतना प्रवर्तमान रहा कि विद्वानों ने शृंगार रस के 52, हास्य रस के 36, करुण रस के 8, वीर रस के 9, भयानक रस के 6, वीभत्स रस के 6, अद्‌भुत रस के 2 और रौद्र रस के 3 उपभेदों का वर्णन किया। इस प्रकार इन नवरसों के उपभेदों की संख्या 122 तक पहुँच गयी। उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि रसों और उनके उपभेदों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं रहा है। विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार रसों की संख्या का निर्धारण किया है। एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि रसों की संख्या का यह निर्धारण किस आधार पर किया जाता रहा है। रस-संख्या के निर्धारण के मुख्यतः दो आधार रहे हैं—लक्ष्य परीक्षा अथवा ऐतिहासिक आधार और सम्भावनात्मक दृष्टिकोण जिसे मनोवैज्ञानिक आधार भी कहा जा सकता है।

लक्ष्य परीक्षा—ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो जिस समय भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की रचना हुई थी, उस समय तक शान्त रस सम्बन्धी कोई नाटक देखने में नहीं आया होगा। कदाचित् इसी कारण भरतमुनि की दृष्टि शान्त रस पर नहीं पड़ी। कालान्तर में प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यों में शान्त रस की पुष्टि होने लगी, अतः स्वभावतः रसों की संख्या में शान्त रस भी जुड़ गया और इस प्रकार रसों की संख्या आठ से बढ़कर नौ हो गयी। इसका अर्थ यह नहीं है कि इससे पूर्व शान्त रसात्मक काव्य थे ही नहीं। भारतवर्ष एक धर्मप्रधान देश है और सृष्टि के आरम्भ से ही भारतवर्ष में भक्ति और आराधना की विमल धारा प्रवहमान रही है। जहाँ तक नाटकों का प्रश्न है, उनका एक मात्र प्रयोजन प्रेक्षक समाज को प्रसन्न करना होता था और ऐसी स्थिति

में निर्वेद की सत्ता निस्सन्देह दुष्कर होती है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त ने शांत रस की सत्ता स्वीकार करते हुए भी उसकी प्रभुता अथवा प्रधानता स्वीकार नहीं की।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि हमारे यहाँ भक्ति की अविरल धारा प्रारम्भ से ही बहती रही है फिर भी रचनात्मक काव्य में उसका स्वर बहुत बाद में सुनायी देता है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "जब महायान शाखा के प्रभाव से तथा मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण हमारे काव्य-जगत् में भक्ति का स्वर मुखर हो उठा तब आचार्यों का ध्यान भक्ति को रसरूपता प्रदान करने की ओर गया और सम्प्रदाय-विशेष ने भक्ति को ही मूल रस के रूप में मूर्धाभिषक्त कर दिया।" ऐसी ही स्थिति वात्सल्य रस की भी है। वात्सल्य रस का छिट-पुट वर्णन पहले भी होता रहा होगा किन्तु कृष्ण भक्ति साहित्य में बालकृष्ण की बाल-लीलाओं को लेकर लिखे गये निपुल साहित्य के कारण वात्सल्य रस की प्रतिष्ठा के प्रति आग्रह हुआ होगा और इस प्रकार वात्सल्य रस की प्रतिष्ठा हो गयी।

मनोवैज्ञानिक आधार—काव्य अथवा नाटक का कोई भी तत्त्व रस-रूप में किस प्रकार परिणत होता है—यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। मानव मन में प्रत्येक नई स्थिति, घटना के प्रति एक प्रतिक्रिया होती है और हमारी चित्तवृत्तियों में एक विशेष प्रकार का उत्कम्प उत्पन्न होता जाता है। मनुष्य का मन भावों का अथाह सागर होता है और जीवन की प्रत्येक असामान्य परिस्थिति इस प्रशान्त, निर्लिप्त सागर को आलोडित कर देती है। मन की इस त्थिति को शास्त्रीय भाषा में 'मनोविकार' की संज्ञा दी जाती है। यही मनोविकार मानवीय भाव कहलाते हैं। विविध प्रकार की परिस्थितियाँ हमारे मनों में तदनुकुल प्रतिक्रियाएँ जाग्रत करती हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि ये प्रतिक्रियाएँ केवल मानसिक स्तर पर नहीं, शारीरिक स्तर पर भी व्यक्त होती हैं। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० रामसागर त्रिपाठी कहते हैं कि "इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी मनोविकार की अनुभूति में एक ओर परिस्थितियाँ कारण होती हैं तो दूसरी ओर उनके प्रभाव से शारीरिक प्रयत्न उत्पन्न हो जाते हैं तथा शरीर की स्थिति परिवर्तित हो जाती है। कवि अथवा नाटककार भी हमारे मनोविकार को उत्तेजित करके आस्वाद के योग्य बनाने के लिए उसी प्रकार की परिस्थिति तथा प्रभाव की उद्भावना करता है जो लोक में उस प्रकार के प्रभाव को जाग्रत करने में कारण होते हैं।"

भावों की स्थिति का विश्लेषण करते हुए भरत मुनि कहते हैं कि हमारा मन अपने आप में विशुद्ध और सर्वथा निर्लिप्त होता है और जिस प्रकार किसी द्रव्य को किसी सुगन्धादि से भावित किया जाता है उसी प्रकार हमारा मन भी मनोविकारों से भावित होता है। इसी कारण इन्हें भावों की संज्ञा दी गयी है। भाव कई प्रकार के होते हैं किन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन्हें दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—पोषक और पोष्य भाव। पोषक भावों के अन्तर्गत संचारी अथवा

व्यभिचारी भाव आते हैं जो कि पोष्य अर्थात् स्थायी भावों का पोषण करते हैं। भरत-मुनि ने 49 प्रकार के भाव बताये हैं जिनमें 33 संचारी भाव, 8 स्थायी भाव तथा 8 सात्त्विक भाव अथवा अनुभाव माने गये हैं। यही स्थायी भाव संचारी भावों आदि से परिपुष्ट होकर रस-रूप बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि जिन भावों की अनुभूति स्वतन्त्र तथा एकाकी रूप में की जाती है, वे भाव कभी भी रस-रूप नहीं बन सकते। रस बनने के लिए यह आवश्यक है कि उस भाव में चार विशेषताएँ हों—स्थायित्व, प्रबलता, पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता और साधारणीकृत होने की क्षमता। मराठी विद्वान् डॉ० बाटवे ने दो विशेषताएँ और बतायी हैं—मौलिकता और परिष्कृति। इस प्रकार स्थायी भाव के निर्णायक तत्त्व छः हुए—(क) स्थायी प्रभाव, (ख) सार्वभौम स्वीकृति, (ग) अत्यधिक आस्वाद्यमानता, (घ) मनुष्य की किसी न किसी मूल प्रवृत्ति के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध, (ङ) जीवन के परम-पुरुषार्थों के प्रति उपयोगिता तथा (च) परिष्कृत अनुभूति। स्थायी भावों की इन छः कसौटियों पर परम्परागत आठ रसों की स्थिति ही खरी उतरती है और ये आठ रस हैं—शृंगार, वीर, हास्य, करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत। इन आठ रसों के अतिरिक्त शान्त नामक नौवाँ रस भी प्रायशः स्वीकार कर लिया गया है और निस्सन्देह स्थायी भाव की उपर्युक्त छः कसौटियों पर शान्त रस भी खरा उतरता है। निष्कर्षतः रसों की संख्या आठ ही मानी जा सकती है। तथापि उन रसों का भी विवेचन अपेक्षित है जिनकी सत्ता कई विद्वानों ने सिद्ध की है। विवादग्रस्त रसों में शान्त रस, भक्ति रस, वात्सल्य रस सर्वाधिक प्रमुख हैं।

(क) **करुण रस**—भारतीय काव्यशास्त्र में करुण रस को अत्यधिक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है और इसका सर्वाधिक सशक्त प्रमाण यह है कि "एक ओर जहाँ रसों की अनन्तता की स्थापना के प्रयत्न हो रहे थे वहाँ दूसरी ओर सभी रसों का एक रस में समाहार करने के प्रयत्न चल रहे थे—और यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि विस्तारप्रिय होने पर भी अन्ततः भारतीय दृष्टि अद्वैत पर ही जाकर रुकती है—अनेकता में एकता का अनुसन्धान ही सदा अभीष्ट रहा है।" करुण रस का उल्लेख सर्वप्रथम भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में इस प्रकार किया है :

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदारभिन्नः पृथक्पृथग्भिवाश्रुयते बिवर्तान।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयात्विकारनम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।'

अर्थात् एक ही करुण रस निमित्त भेद से विभिन्न रूप धारण करता है जिस प्रकार आवर्त, बुदबुद और तरंग का रूप धारण करने पर भी जल अन्ततः जल ही रहता है। भवभूति की इस मान्यता को लेकर विद्वानों में पर्याप्त चिन्तन-विवेचन हुआ है और निष्कर्षतः यह माना गया है कि भवभूति के करुण रस का स्थायी भाव शोक नहीं अपितु करुणा है और करुणा वस्तुतः 'सहृदयता' की परिचायक होती है न कि 'दया' की। शंकुक ने भी करुणा का यही व्यापक अर्थ माना है। ध्वनिवादी

आनन्दवर्द्धन ने भी करुण रस की सत्ता स्वीकार की है। करुण रस की आस्वाद-रूपता का वर्णन करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि :

'करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपिस्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणीदनांभविता दुःखहेतुता।'

अर्थात् करुण इत्यादि रसों में भी जो परम सुख उपलब्ध होता है उसमें केवल सहृदयों के हृदय का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त यदि उनमें दुख माना जाये तो कोई व्यक्ति उनकी ओर उन्मुख न हो और रामायण इत्यादि भी दुखरूप ही बन जायें। करुण रस के स्वरूप, आस्वाद आदि के प्रश्न पर 'करुण रस का आस्वाद' नामक प्रकरण में विस्तार में विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में तो यही द्रष्टव्य है कि करुण रस की सत्ता प्रायशः स्वीकार की गयी है और करुण रस की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने वालों में उद्भट, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र आदि विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कदाचित् इसी कारण भारतीय काव्यशास्त्र में रसों की संख्या नौ (शान्त रस सहित) माननेवाले काव्यशास्त्रियों का एक बहुत शक्तिशाली और समर्थ वर्ग रहा है।

(ख) शान्त रस—शान्त रस के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने बहुत विस्तार से विचार किया है। अभिनवगुप्त के मतानुसार मन की वह स्थिति भी अत्यन्त आनन्द-पूर्ण होती है जबकि उसमें न तो किसी प्रकार की तृष्णा रहती है, न लालसा। मन अपने आप में अपरिमित सन्तोष का अनुभव करता है और उसकी स्थिति बहुत कुछ उस व्यक्ति जैसी होती है जिसने तृप्तिपूर्वक भोजन प्राप्त कर लिया हो और उसे कुछ भी और लेने की इच्छा न रही हो। निस्सन्देह यह भी अपने आप में एक अत्यन्त आनन्द-पूर्ण अनुभूति होती है। शान्त रस की आनन्दानुभूति तृष्णाक्षय की भाँति होती है—अर्थात् उसके पश्चात् कोई कामना नहीं रह जाती। तृष्णाक्षय से उत्पन्न सुख की स्थिति स्पष्ट करते हुए डा० त्रिपाठी कहते हैं कि "तृष्णाक्षय सुख का अर्थ है विषयाभिलाषा की चारों ओर से निवृत्ति तथा उससे उत्पन्न होने वाला निर्वेद। वही निर्वेद ही शान्त रस का स्थायी भाव है।" उस समय मनःस्थिति से उत्पन्न होने वाले आनन्द की कल्पना कीजिए जबकि मानव मन में किसी प्रकार की लालसा नहीं रह जाती।

शान्त रस का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम यह कहा है कि शान्त रस का स्थायी भाव है आत्मज्ञान जो सभी प्रकार के विषय-भोगों आदि की तृष्णा से सर्वथा मुक्त शुद्ध आनन्दमय स्थिति है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने आगे चलकर यह भी कहा है कि "तत्त्वज्ञानन्तु सकल भावान्तरिभित्तिस्थानीय सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वा रत्यादिकाः स्थायीचित्तवृत्तीर्व्यभिचारी भावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायि-भावमिति" अर्थात् तत्त्वज्ञान को रत्यादि अन्य सभी भावों का आश्रयभूत, अन्य

सब स्थायी भावों की अपेक्षा अधिक स्थायी और रत्यादि सभी वृत्तियों को व्यभिचारित्व को प्राप्त कराता हुआ स्वभावतः स्थायी भाव रूप स्वयं सिद्ध है।

अभिनवगुप्त ने शान्त चित्तवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि मन की सर्वथा निर्लिप्त अवस्था ही शान्त चित्तवृत्ति की परिचायक है। मन की निर्लिप्त चित्तवृत्ति का अर्थ कई विद्वानों ने यह भी किया है कि किसी प्रकार के भाव न उत्पन्न होने की स्थिति शान्त कहलाती है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि लोचनकार ने मन की वृत्तियों के प्रध्वंस को शान्त कहा है। भावों का उत्पन्न न होना शान्त चित्तवृत्ति नहीं है अपितु उत्पन्न होने वाले भावों का प्रध्वंस शान्त चित्तवृत्ति का परिचायक है।

शान्त रस की आस्वाद्यता को लेकर कई प्रकार की शंकाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। जब यह मान लिया गया है कि शान्त रस की स्थिति में सभी प्रकार की वृत्तियों, चेष्टाओं का उपरम हो जाता है तो फिर रंगमच पर अथवा काव्य में उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार हो सकती है। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सभी चेष्टाओं एवं क्रियाओं आदि का उपरम तभी होता है जबकि शान्त रस अपनी अन्तिम दशा को अर्थात् पर्यन्त भूमि को प्राप्त हो जाता है। काव्य अथवा नाटक में इस पर्यन्त भूसि का वर्णन नहीं किया जाता और यह स्थिति केवल शान्त रस के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्य रसों पर भी चरितार्थ होती है। तथापि रसों की पूर्व भूमि का वर्णन भी आस्वाद्य होता है और इसी आधार पर शान्त रस की पूर्वभूमि भी आस्वाद्य होती है।

शान्त रस के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि शान्त रस सभी रुचियों वाले व्यक्तियों के लिए अनिवार्यतः आदरणीय नहीं होता। निस्सन्देह केवल इसी आधार पर शान्त रस की सत्ता नकारने का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि वीतरागों के लिए शृंगार रस के प्रति भी कोई आदर का भाव नहीं होता, फिर भी शृंगार के रसराजत्व पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी सम्बन्ध में कई विद्वानों की मान्यता यह भी रही है कि शान्त रस का अन्तर्भाव दयावीर अथवा धर्मवीर में सहज ही किया जा सकता है। वस्तुतः शान्त और वीरता में प्रकृत्यात्मक विरोध है। शान्त रस में नम्रता और आर्द्रता का भाव होता है जबकि वीरता में अहमाग्रह और अभिमानमयता के भावों में अन्तर्भाव होता है। इस प्रसंग में इच्छा प्रवृत्ति का भी बहुत महत्त्व होता है। और कदाचित् इसी आधार पर युद्धवीर और रौद्र रस में भेद रखा जाता है जबकि दोनों में पर्याप्त भावसाम्य स्वतः सिद्ध है।

वास्तविकता यह है कि किसी भी रस को आस्वाद्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अनुकूल वातावरण और परिस्थितियाँ तैयार की जायें। अन्य प्रवृत्तियों की भाँति ही निर्वेद की प्रवृति भी मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है और निस्सन्देह मानव मन की वह स्थिति अत्यन्त सुखद होती है जब सभी प्रकार के आक-

षणों के प्रति विराग का भाव उत्पन्न हो जाता है। निर्वेद का भाव अपने आप में एक स्वाभाविक मानवीय भाव है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "संसार की अनित्यता वस्तुजगत् की असारता और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान इसके आलम्बन हैं। भगवान् के पवित्र आश्रम, तीर्थ स्थान, रम्य एकान्त वन, महापुरुषों का सत्संग इसके उद्दीपन हैं। रोमांच इत्यादि अनुभाव हैं और हर्ष, स्मरण, मति-उन्माद इत्यादि संचारी भाव हैं। इस प्रकार समस्त सामग्री प्रस्तुत होने पर शान्त रस को स्वीकार करना ही उचित है।"

(ग) भक्ति-रस—भारतीय साहित्य में भक्ति-साहित्य के प्रचुर निर्माण हो जाने के पश्चात् वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस की प्रतिष्ठा ही नहीं की अपितु उसका रसराजत्व भी सिद्ध किया। मधुसूदन सरस्वती के शब्दों में—

'परिपूर्णरसा क्षुद्र रसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्यः इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।'

अर्थात् वास्तविक रस भक्ति रस ही है क्योंकि वही पूर्णानन्दमय है, शृंगारादि काव्य रस उसकी अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र हैं, परिपूर्णरसा भगवद्रति में और शृंगारादि रसों में वही अन्तर है जो सूर्य में और खद्योतों में। रूप गोस्वामी ने भक्ति रस से सम्बन्धित तत्त्वों को स्थूलतः दो वर्गों में बाँटा है—(क) भगवदाश्रित भाव और (ख) भगवदालम्बनात्मक भाव। भगवदाश्रित भावों का आशय ऐसे भावों से होता है जिनका आश्रय स्वयं भगवान होते हैं जैसे कि श्रीकृष्ण की रासलीला में राधा तथा अन्य गोपिकाओं के प्रति श्रीकृष्ण का रति भाव। इस स्थिति में श्रीकृष्ण ही आश्रय होंगे। श्रीकृष्ण में स्थित इस रति भाव को भक्ति नहीं कहा जा सकता और यदि भक्तिरस की स्वतन्त्र सत्ता घोषित करने के आग्रह के कारण उसे भक्ति भाव की संज्ञा दे भी दी जाती है तो श्रीकृष्ण को भक्त मानना पड़ेगा जो कि मूलतः भ्रामक होगा। भगवदालम्बित भावों की स्थिति में भगवान को आलम्बन मान लिया जाता है और इस प्रकार के भावों को पुनः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) भगवान के प्रति कोई भी स्थायी भाव जैसे कि शृंगार, वीर, हास्यादि और (ख) भगवान के प्रति केवल प्रेम का भाव। भगवान् के प्रति स्थायी भावों की पुष्टि तद्नुरूपी रस में स्वतः ही हो जाती है जैसे कि प्रसंगानुसार उत्साह का भाव वीर रस में, क्रोध का भाव रौद्र रस में और भय का भाव भयानक रस में परिणत हो जाता है। इस प्रकार इन स्थायी भावों की अभिव्यक्ति तत्सम्बन्धी रस में हो जाती है। उदाहरण के लिए कंस रावण आदि राक्षसों के प्रति भगवान के शत्रुताजन्य उत्साह आदि भावों को वी रस के अन्तर्गत समझा जायेगा। कंस के प्रति श्रीकृष्ण के क्रोध भाव को रौद्र रस ही समझा जायेगा, उसे भक्ति कैसे कहा जा सकता है। जहाँ तक भगवान के प्रति केवल प्रेम-भाव का प्रश्न है, उसमें भी हर्ष, स्मरण आदि विभिन्न प्रकार के संचारी भावों की स्थिति होती है जिनसे निर्वेद की उत्पत्ति होती है और उन्हें शान्त रस में समाविष्ट किया जा सकता है। शान्त रस के प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि

निर्वेद की व्याख्या में चित्रवृत्तियों में सांसारिक तृष्णाओं के प्रति विरक्ति का भाव होता है और विशुद्ध भगवद्-प्रेम में भी ठीक वही स्थिति होती है। अतः भगवद् प्रेम को सहज ही शान्त रस में समाविष्ट किया जा सकता है। भारतीय भक्ति की एक अन्यतम विशेषता कामना-त्याग और निवृत्तिमूलक परम्परा रही है। सच्चे भक्त के भीतर भगवान के प्रति अनन्यता का भाव जन्म लेता है और वह भाव अपने आप में इतना आनन्दपूर्ण और सुखात्मक होता है, फिर किसी भी प्रकार की कामना अथवा तृष्णा नहीं रह जाती। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "जब तक निर्वेद की परा-भूमि नहीं आती तब तक उसमें भगवदुन्मुखता सन्निहित रहती है और भक्ति में वैराग्य व्यापार ही रहता है। अतएव अन्य भावों से परिपोष को प्राप्त भगवत्प्रेम शान्त रस ही कहा जायगा। शुद्ध भगवत्प्रेम जिससे निर्वेद की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती भाव संज्ञा का ही अधिकारी है।"

इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि राधाकृष्ण के शृंगार और लौकिक शृंगार के मध्य विभाजन रेखा कहाँ और कैसे खींची जाये। शास्त्रकारों ने रस-निष्पत्ति के लिए तीन प्रकार की प्रवृत्तियों का विधान बताया है—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। कवि की सफलता इसी बात में निहित होती है कि वह इन प्रकृतियों को कहाँ तक छिपा सका है क्योंकि रस-निष्पत्ति के प्रसंग में प्रकृतियों के भेद-विभेद स्वीकार नहीं किये जाते। रसास्वादन के प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्व भाव का होता है, प्रकृतियों का नहीं। उदाहरण के लिए, महाकवि कालिदास ने शिव-पार्वती के मध्य रति भाव का जो वर्णन किया है वह निस्सन्देह लौकिक धरातल पर किया गया है। कई विद्वान इस प्रकार के शृंगार वर्णन को अनैतिक मानते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार शंकर-पार्वती का शृंगार भाव भगवद्विषयक है और इस कारण उसमें लौकिकता का संस्पर्श नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत विद्वानों का एक अन्य वर्ग भी मानता है कि उपर्युक्त उदाहरण में कालिदास की सफलता इसी बात में है कि उसने शंकर-पार्वती के शृंगार भाव का वर्णन इस रूप में किया है कि उनकी वैयक्तिक सत्ता रही ही नहीं है और यही साधारणीकरण होता है।

भक्ति को रस रूप मानने वाले विद्वानों का एक अन्य तर्क यह है कि भगवान् तो स्वयं ही रस रूप होता है, अतः भगवान् के प्रति भक्ति को रस मानने में क्या कठिनाई हो सकती है। भक्ति को रस मानने वाले प्रायः 'रसो वै सः' सूत्र के आधार पर यह तर्क उपस्थित करते हैं किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि भगवान् की प्राप्ति भावना द्वारा नहीं होती। इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि "रस के द्वारा ही हृदय की मुक्तावस्था प्राप्त कर हम भगवान की अनन्त विश्व में विस्तीर्ण अद्वैत सत्ता से सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं।" एक उदाहरण से स्थिति और स्पष्ट हो जायेगी। कालिदास द्वारा वर्णित दुष्यन्त-शकुन्तला की परस्पर रति-लीला को पढ़कर सहृदय व्यक्ति-संसर्गों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है और उसे परम आनन्द की अनुभूति होती

है और वह परम आनन्द ही भगवान का रूप होता है। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति को रस का सा स्वन्तत्र एवं आदरपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता। भक्ति तो अन्ततः एक मानवीय भाव के रूप में ही प्रतिष्ठित हो सकती है।

(घ) **वात्सल्य रस**—भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अधिकांशतः वात्सल्य को एक मानवीय भाव के रूप में ही प्रतिष्ठित किया है। तथापि कई विद्वानों ने वात्सल्य के रस-रूप की प्रतिष्ठा की है और प्रवास के आधार पर वात्सल्य रस के कई भेदों-उपभेदों का विधान बताया है। इन विद्वानों ने वात्सल्य रस के व्यभिचारी भावों के रूप में उद्वेग, अनिष्ट की आशंका, हर्ष आदि की गणना की है। हर्ष और गर्व का अनुभव तो पुत्र की सत्ता में आनन्दित होने तक ही सीमित है। जहाँ तक अनिष्ट की आशंका का प्रश्न है, उसमें दो प्रकार की सम्भावनाएँ होती हैं—एक तो पुत्र के किसी आपत्ति में ग्रस्त होने की आशंका अथवा पुत्र के विरक्त हो जाने की आशंका। पहली स्थिति में आपत्ति के वस्तुतः आने तक पुत्र-प्रेम के सहारे जीवन नहीं काटा जा सकता। स्वभावतः भावी आपत्तियों की ओर ही ध्यान लगा रहेगा और तब अनिष्ट की आशंका और उसके निराकरण में भी एक प्रकार की सुखानुभूति होगी। अनिष्ट की आशंका का रूप प्रत्येक स्थिति में एक-सा होता है किन्तु दाम्पत्य प्रेम में अनिष्ट की आशंका के प्रति किंचित भिन्न प्रकार की होती है। दाम्पत्य प्रेम में अनिष्ट की आशंका प्रेम को और अधिक दृढ़ आधार प्रदान करती है, प्रेमी के हृदय में आनन्दातिरेक की स्थिति जन्म लेती है। इसके विपरीत पुत्र के अनिष्ट की आशंका में आशंका ही आस्वाद्य बन जाती है और पुत्र-प्रेम गौण हो जाता है। यह आशंका स्वतन्त्र रूप से चर्वणीय होती है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वात्सल्य भी अन्ततः एक भाव ही हो सकता है, स्वतन्त्र रस रूप नहीं।

तथापि इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि रस की व्यापक अवधारणा के विवेचन में रस-संख्या की कोई भी उपयोगिता नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में, रस संख्या अपने आप में कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। मूल बात तो यह है कि रसास्वाद का मूल मानवीय भाव होते हैं और कदाचित् इसी आधार पर रस के अतिरिक्त भावों, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावप्रशम, भावशबलता आदि की स्थिति मानी गयी है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि रस-सिद्धान्त का मूलाधार मानवीय भाव होते हैं और भावों की संख्या अनन्त बतायी गयी है। इस प्रकार दो शब्दों में कहा जा सकता है कि रस-संख्या का प्रश्न रस से सम्बन्धित कोई आधारभूत प्रश्न नहीं है।

रसों की परस्पर सम्बन्ध-योजना—रसों के परस्पर सम्बन्ध प्रायः तीन प्रकार के हो सकते हैं—विरोध, अविरोध और विरोध परिहार। भारतीय काव्यशास्त्र में इस विषय पर सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन ने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। आनन्दवर्द्धन से पूर्व भरत, रुद्रट आदि ने इस प्रश्न पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं की। रसों की परस्पर सम्बन्ध-योजना पर विचार करते हुए

आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम रस के विरोधी तत्त्वों का विश्लेषण किया। इस सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन ने रस के विरोधी तत्त्वों का उल्लेख करते हुए भी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया और इस कारण स्वभावतः उनका विवेचन अपने आप में पूर्ण नहीं कहा जा सकता। आनन्दवर्द्धन ने इस सम्बन्ध में कोई विचार व्यक्त नहीं किये कि किस रस का विरोधी कौन-सा रस है और यह विरोध क्यों है, आदि-आदि। तथापि कतिपय प्रसंगों में उन्होंने इस आशय के संकेत अवश्य दिये है जैसे कि—

'शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव श्रृंगारादि विभाव-वर्णने' अर्थात् शान्त रस के विभावों का उसके विभावरूप में ही वर्णन करने के पश्चात् श्रृंगार के विभावादि का वर्णन आरम्भ करना। ऐसे ही कई अन्य स्थलों पर आनन्दवर्द्धन ने रसों के परस्पर विरोध भाव की ओर संकेत किया है। और इस दृष्टि से उनकी मान्यता को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—विरोधी रस : श्रृंगार और शान्त, श्रृंगार और रौद्र, श्रृंगार और करुण। रसों के परस्पर विरोध के आधारों का विश्लेषण करते हुए आनन्दवर्द्धन ने तीन प्रकार की स्थितियों का वर्णन किया है—(क) आलम्बन ऐक्य, (ख) आश्रय ऐक्य तथा (ग) नैरन्तर्य्य। आलम्बन ऐक्य का आशय विभावादि के ऐक्य से होता है और विरोध का यह आधार श्रृंगार और शान्त रस की परस्पर विरोधात्मक स्थिति में देखा जा सकता है। श्रृंगार और रौद्र तथा श्रृंगार और करुण रसों का परस्पर विरोधात्मक स्थिति का आधार आलम्बन ऐक्य होता है। नैरन्तर्य्य का आशय एक रस के वर्णन के तत्काल बाद दूसरे रस के वर्णन से होता है और श्रृंगार और शान्त रस की विरोधात्मक स्थिति में भी यही आधार देखा जा सकता है।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने इस प्रश्न पर विधिवत् विचार किया। आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने इस समूचे प्रश्न पर अधिक विस्तार से विचार किया है। विश्वनाथ के अनुसार रस और विरोधी रसों की स्थिति निम्नानुसार होती है—

विरोधी रस—श्रृंगार के विरोधी रस करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रस।

हास्य रस के विरोधी रस—करुण और भयायक रस।

करुण रस के विरोधी रस—हास्य और श्रृंगार रस।

रौद्र रस के विरोधी रस—हास्य, श्रृंगार और भयानक रस।

वीर रस के विरोधी रस—भयानक और शान्त रस।

भयानक के विरोधी रस—श्रृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त रस।

वीभत्स रस का विरोधी रस—श्रृंगार रस।

शान्त रस के विरोधी रस—वीर, श्रृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक रस।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार अद्भुत ही एक मात्र ऐसा रस है जिसका कोई भी विरोधी नहीं होता।

मिश्र रस—वीर, अद्भुत और रौद्र रस ।
श्रृंगार और अद्भुत रस ।
भयानक और वीभत्स रस ।

विरोध का आधार—रसों के परस्पर विरोध के आधारों का विश्लेषण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने पुनः तीन प्रकार की स्थितियों का वर्णन किया है—कतिपय रस आलम्बन के विरुद्ध होते हैं, कुछ आश्रय के विरुद्ध होते हैं और कुछ एक के बाद एक आने के कारण विरुद्ध होते हैं ।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार रस और विरोधी रसों की स्थिति निम्नानुसार है—

श्रृंगार रस का विरोधी वीभत्स रस ।
श्रृंगार रस का विरोधी करुण रस ।
वीर रस का विरोधी भयानक रस ।
शान्त रस का विरोधी रौद्र रस ।
शान्त रस का विरोधी श्रृंगार रस ।
मित्र रस—वीर रस और श्रृंगार रस ।
श्रृंगार रस और हास्य रस ।
वीर रस और अद्भुत रस ।
वीर रस और रौद्र रस ।
श्रृंगार रस और अद्भुत रस ।

रसों के परस्पर विरोध और अविरोध के उपर्युक्त विवेचन के दो आधार हैं—विषयगत और विषयिगत । विषयगत का आशय ऐसे आधार से है जिसके अनुसार काव्य में ऐसे भावों का वर्णन होना चाहिए जिनमें मनोवैज्ञानिक समभाव हो अर्थात् जो मानवीय मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल हों । एक उदाहरण से स्थिति स्पष्ट हो सकेगी । एक ही व्यक्ति के प्रति एक ही समय रीति और क्रोध अथवा रीति और शोक के भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति के मन में रति और क्रोध अथवा रति और शोक के भाव एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते । जहाँ तक विषयत आधार का एक प्रश्न है, उसका सीधा सम्बन्ध सहृदय की अनुभूति के साथ होता है । सहृदय के मन में एक ही समय में उपर्युक्त विरोधी प्रकार के रसों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, विशेष रूप से उस समय जबकि एक रस के तुरन्त पश्चात् उसके विरोधी रस की अभिव्यक्ति हो । निस्सन्देह ये दोनों आधार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त हैं, फिर भी मानव जीवन कोई सीधा-सपाट मार्ग नहीं है । यह सच है कि मानव मन की वृत्तियाँ केवल तीन ही प्रकार की हो सकती हैं—अनुकूल, प्रतिकूल अथवा समान और एक समय में एक ही मनोवृत्ति अथवा भाव का प्राधान्य रहता है । इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि अनुकूल

भाव अथवा मनोवृत्तियाँ एक दूसरे को पुष्ट बनाती हैं और प्रतिकूल भाव मनोवृत्तियाँ एक दूसरे को प्रभावशून्य बना देती हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि रसों में परस्पर सम्बन्ध के उपर्युक्त आधार लौकिक व्यवहार की दृष्टि से तो ठीक हैं ही, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की कसौटी पर भी वे खरे उतरते हैं।

तथापि मानव मन और मानव जीवन असंख्य विषमताओं और विरोधात्मक स्थितियों में जकड़ा हुआ होता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "आधुनिक साहित्य में इस प्रकार के अनेक प्रसंग रहते हैं। स्वदेश-विदेश के साहित्य के अनेक उपन्यास, नाटक, कहानियाँ आदि हैं जिसमें लेखक ने विरोधी भावों के द्वन्द्व के द्वारा ही रस-सृष्टि की है। × × × इसमें सन्देह नहीं कि स्थितियों का चित्रण अत्यन्त कौशल की अपेक्षा रखता है और कौशल के अभाव में रस का बोध भी हो सकता है, अनेक रचनाओं में हो भी जाता है, किन्तु यह भी ठीक है कि सफल कृतियों में न केवल रसभंग ही नहीं होता, वरन् रस-परिपाक भी होता है।"

आनन्दवर्द्धन ने रस-विरोध के परिहार के सम्बन्ध में भी मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार जब किसी रस का पूर्ण परिपाक हो जाता है तो बाह्यरूपता और अंगरूपता के रहते हुए परस्पर विरोधात्मक रसों के वर्णन से भी रसभंग की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। बाह्यरूपता का आशय प्रकृत अथवा अभीष्ट रस के अंगों के इतने सशक्त और प्रभावात्मक वर्णन से है कि उसके विरोधी रस का विरोधत्व दबा रह जाता है। ऐसी स्थिति में विरोधी रस, अभीष्ट रस का खण्डन करने के स्थान पर उसे और अधिक पुष्ट करता है। उदाहरण के लिए किसी काव्य में किसी नायिका के प्रति नायक के अत्यधिक प्रेमभाव की उपस्थिति में उसी काव्य में किसी अन्य स्थल पर भगवद्भक्ति से सम्बन्धित भक्ति भरे वचनों का कोई प्रभाव नहीं रह जाता। अन्ततः नायिका के प्रति नायक की आशक्ति ही अधिक मुखरित रहती है। जहाँ तक अंगरूपता का प्रश्न है, वह तीन प्रकार की हो सकती है—नैसर्गिक, समारोपित तथा प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों की अंगरूपता। नैसर्गिक अंगरूपता में विरोधी रस के स्थायी तथा संचारी भावादि मुख्य रस के सहज अंगों के रूप में व्यक्त होते हैं और इस कारण प्रत्यक्षतः विरोधी दीखने वाले दो रसों के वर्णन से भी रस-भंग की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। समारोपित अंगरूपता में विरोधी रस का मुख्य रस के साथ जो अंग-अंगी सम्बन्ध होता है वह श्लेष, साम्य आदि के माध्यम से आरोपित होता है, प्रत्यक्ष नहीं होता। मुख्य रस के प्रति दो विरोधी रसों की अंगता होने पर भी उन विरोधी रसों की परस्पर विरोधात्मकता का शमन हो जाता है।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् इस विषय पर अनेक काव्यशास्त्रियों ने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मम्मट ने रसों के परस्पर विरोध की स्थिति का विश्लेषण रस-दोष

के सामान्य प्रकरण के अन्तर्गत किया है। मम्मट के अनुसार रस-विरोध का परिहार सम्भव होता है और इस सम्बन्ध में उन्होंने कई उपाय बताये हैं जो निम्नानुसार हैं: (क) मुख्य रस के विरोधी संचारीभावादि का वाध्यत्वेन वर्णन करना गुणवर्द्धक होता है। (ख) जो रस आश्रय के ऐक्य में विरोधी हो उसका वर्णन पृथक् आश्रय में किया जाना चाहिए। (ग) नैरन्तर्य्य से विरोधी रसों के मध्य अवरोधी रस के समावेश से रसों की विरोधात्मक स्थिति का परिहार हो जाता है। (घ) साम्यमूलक अलंकारों के माध्यम से वर्णित विरोधी रसों की विरोधात्मकता का परिहार हो जाता है। (ङ) दो परस्पर विरोधी रस किसी तीसरे रस की अंगता को प्राप्त कर लेते हैं तो उनके मध्य विरोधात्मकता का परिहार हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि जब रस को अखण्ड और अविभाज्य माना गया है तो उसकी अंगता कैसे सम्भव हो सकती है। इस शंका का समाधान दो प्रकार से किया गया है—मम्मट के अनुसार जब रस की अंगता की बात कही जाती है तो उसका आशय वस्तुतः स्थायीभाव से ही होता है। दूसरे वर्ग के विद्वानों के अनुसार अंगी रस की परिकल्पना से इस शंका का समाधान हो जाता है।

रस विरोध के परिहार से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से रसों के परस्पर सम्बन्धों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। यही नहीं, रसों के परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण वस्तुतः रस-सिद्धान्त की व्यापकता का परिचायक है और साथ ही इससे जटिलताओं और विषमताओं से घिरे हुए मानव जीवन की भी मनोवैज्ञानिक और अपेक्षयता अधिक स्वाभाविक व्याख्या हो जाती है। इस प्रकार का अध्ययन निस्सन्देह रस-सिद्धान्त को और अधिक निकट से समझने में सहायक होगा।

अंगी रस—रसों के परस्पर सम्बन्धों की भाँति ही अंगी रस के प्रश्न पर भी आनन्दवर्द्धन ने ही सर्वप्रथम विचार किया है। यद्यपि अंगी रस का वर्णन भरतमुनि ने भी किया था किन्तु उसके स्वरूप, प्रकृति आदि के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन ने ही सर्वप्रथम विधिवत विचार किया। भरतमुनि ने कहा था कि—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषः संचारिणो मताः।

अर्थात् महाकाव्य में वर्णित अनेक रसों में से जो रस बहु अर्थात् मुख्य रूप से विद्यमान रहता है, वह रस स्थायी रस अथवा अंगी रस कहलाता है और शेष रस संचारी अथवा अंगभूत कहलाते हैं। इसी तरह की बात ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने भी कही है—

'प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने
एको रसोऽङ्गी कर्त्तव्यः।'

अर्थात् प्रबन्धों में अनेक रसों के समावेश की प्रसिद्धि होने पर भी किसी एक रस को अंगी रस अवश्य होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में दो शंकाएँ उठायी जाती हैं—पहली तो यह है कि जब रस स्वयं में चमत्कार रूप होता है तो उसके अंग-अंगी रूप को किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, रस अपने आप में पूर्ण होता है, किसी दूसरे रस का अंग नहीं हो सकता। दूसरी शंका यह होती है कि विरोधी रसों के मध्य अंगता की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है। रसों की परस्पर विरोधात्मकता दो प्रकार की हो सकती है—सहानवस्थान भाव और बाध्यबाधक भाव। सहानवस्थान भाव का आशय यह है कि प्रकृति से एक दूसरे के विरोधी दो रस एक सी प्रधानता के अधिकारी नहीं हो सकते, अर्थात् समान स्तर पर एक साथ नहीं रह सकते। इस दृष्टि से श्रृंगार और हास्य, वीर और श्रृंगार, रौद्र और श्रृंगार आदि की स्थिति उल्लेख्य है। बाध्य-बाधक भाव का आशय यह है कि दो परस्पर विरोधी रसों में से किसी एक रस के उत्कर्ष होने के साथ ही दूसरे रस का अपकर्ष हो जाता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के विरोधी रस एक ही स्थल पर रह तो सकते हैं किन्तु दोनों का एक-सा उत्कर्ष सम्भव नहीं हो सकता। इस दृष्टि से शान्त और श्रृंगार रस, वीर और भयानक रस, शान्त और रौद्र रस की परस्पर विरोधात्मक स्थिति द्रष्टव्य है। आनन्दवर्द्धन ने इन शंकाओं के समाधानस्वरूप भरतमुनि के मत का ही वर्णन किया है। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार यह तो निर्विवाद है कि प्रत्येक रस अपने विशिष्ट प्रसंग में पूर्णतः परिपुष्ट होता है और स्वयं में चमत्कृत होता है। दूसरे शब्दों में किसी भी काव्य अथवा नाटक में रस का समुत्कर्ष होता है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि किसी अन्य रस के साथ उसका किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। काव्य अथवा नाटक में वर्णित किसी भी प्रमुख रस का अन्य रसों के साथ और भी कुछ नहीं तो कम से कम तारतम्य का सम्बन्ध तो रहता ही है। वस्तुतः होता यह है कि किसी भी काव्य में किसी एक रस (प्रमुख रस) का अधिक वर्णन होता है और अन्य रसों का कम और इस प्रकार प्रमुख तथा गौण रसों में एक प्रकार का तारतम्य बना रहता है। जहाँ तक दूसरी शंका का सम्बन्ध है, आनन्दवर्द्धन ने रसों के परस्पर विरोधभाव के परिहार के लिए विधियाँ सुझायी हैं। पहली विधि तो यह है कि किसी एक रस के अंगी हो जाने की स्थिति में उसके विरोधी रसों का अत्यधिक परिपोष नहीं करना चाहिए। दूसरा उपाय यही है कि अंगी रस के प्रतिकूल व्यभिचारी भावों का अत्यधिक समावेश नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में तीसरा उपाय यह है कि अंगभूत रस के सफल निर्वाह के होते हुए भी उसकी अंगरूपता के सम्बन्ध में बराबर सचेत रहना चाहिए। आनन्दवर्द्धन के मत से इन तीन उपायों के समुचित परिपालन से रसों की परस्पर-विरोधात्मक स्थिति का परिहार हो जाता है और फिर परस्पर विरोधी दीखने वाले रस उपकार्य-उपकारक रूप में वर्णित होते हैं।

अंगी रस का स्वरूप—अंगी रस के स्वरूप को लेकर भारतीय काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है और इस समय में आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी काव्यशास्त्रियों के एतद्विषयक चिन्तन के आधार पर अंगी रस के कतिपय सामान्य लक्षण निर्धारित किये जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं :

(क) **बहुव्याप्ति**—अंगी रस का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण उसकी बहुव्याप्ति होती है। बहुव्याप्ति के भीतर उसकी प्रधानता का भाव सहज समाविष्ट है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि "जीवन के वैविध्य एवं सर्वांग-चित्रण के कारण प्रबन्ध काव्य में स्वभावतः ही विभिन्न रसों का वर्णन अनिवार्यतः रहता है और यह भी स्वाभाविक है कि उनमें एक प्रकार का तारतम्य तथा अंगागित्व हो। जिस प्रकार अनेक कक्षाओं के रहते हुए भी एक कथा की आधिकारिकता अनिवार्य है अथवा यह कहना चाहिए कि घटनाबाहुल्य के रहते हुए भी समस्त कथा विधान की एक घटना में परिणति अनिवार्य है और अनेक पात्रों के समारोह में एक पात्र की नायकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार अनेक रसों में एक रस की अंगिता भी स्वयं सिद्ध है।" अंगी रस का मूल लक्षण उसकी बहुव्याप्ति है, काव्य के सम्पूर्ण कथा सूत्र में उसकी व्याप्ति रहती है। काव्य में वर्णित अन्य अंगीभूत रस इसी अंगी रस की परिपुष्टि करते हैं। तथापि कई स्थितियों में रस-निर्णय पूर्णतः असंदिग्ध नहीं होता। इस प्रकार स्थितियों में रस-निर्णय के उद्देश्य से काव्यशास्त्रियों ने अंगी रस के कतिपय उपलक्षण भी निर्धारित किये हैं।

(ख) अंगी रस का दूसरा लक्षण यह होता है कि उसमें काव्य अथवा नाटक के प्रमुख पात्र की मूल चित्तवृत्तियों का सफल प्रतिपालन होता है। काव्य अथवा नाटक के मुख्य पात्र का जीवन स्पष्टतः दो भागों में बँटा होता है—कर्म और भाव और इन्हीं दो भागों को काव्य की कथावस्तु के प्रसंग में घटनाचक्र और भावलोक की संज्ञा दी जाती है। मुख्य पात्र के व्यक्तित्व के इन दोनों महत्त्वपूर्ण पक्षों का नियमन उसकी मूल चित्तवृत्तियों के माध्यम से होता है। काव्य अथवा नाटक में मुख्य पात्र के व्यक्तित्व के ये दोनों पक्ष अपने चरमोत्कर्ष की स्थिति को प्राप्त होते हैं और वही सम्पूर्ण काव्य-नाटक की चरम उपलब्धि होती है। घटनाचक्र की चरम परिणति फलागम में और भावलोक की चरम परिणति अंगी रस में होती है। काव्य अथवा नाटक में यद्यपि अनेक रसों का सौंदर्य-निर्वाह होता है, तथापि उन सभी रसों में एक रस प्रमुख होता है और अन्य रस गौण होते हैं जो कि समवेत रूप में उसी प्रमुख रस को समृद्ध करते हैं। उसी प्रमुख रस को शास्त्रीय भाषा में अंगी-रस कहा जाता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "नायक के चरित्र की मूलवृत्ति और उसके आधार पर अर्जित सिद्धि (या फलागम) के द्वारा अंगी रस के निर्धारण में सहायता मिलती है।"

(ग) अंगी रस की तीसरी विशेषता यह होती है कि वह काव्य अथवा नाटक मूल उद्देश्य के आस्वाद रूप होता है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि अंगीरस काव्य अथवा नाटक के समग्र प्रभाव का परिचायक होता है। काव्य अथवा नाटक का समग्र प्रभाव ही उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है। यह समग्र प्रभाव क्या होता है? काव्य अथवा नाटक के भावन के पश्चात् सहृदय के अन्तर्मन पर जो स्थायी प्रभाव पड़ता है वही उसका समग्र प्रभाव कहलायेगा। यह समग्र प्रभाव समूचे काव्य अथवा नाटक का समवेत स्वर होता है। जिस प्रकार काव्य के अंग-प्रत्यंग मिल कर एक विशिष्ट मनःस्थिति का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार काव्य का मूल उद्देश्य अंगी रस के रूप में प्रतिफलित होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी काव्यानन्द की चरम परिणति इसी प्रकार की स्थायी मनःस्थिति में स्वीकार की है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य का समग्र प्रभाव ही उसकी महत्ता का निर्णायक तत्त्व होता है। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अंगी रस काव्य के मूल उद्देश्य अर्थात् उसके सारभूत प्रभाव के आस्वाद रूप होता है।

रस-विघ्न—रस-विघ्न का सीधा-सा अर्थ रस-भंग की स्थिति होता है। किसी भी काव्य अथवा नाटक से सहृदय को रस-स्वाद की प्राप्ति होती है किन्तु कई कारणों से रस-प्राप्ति नहीं हो पाती और उसकी चेतना में रस-भंग हो जाता है। रस-भंग की स्थिति के मूल में नाना प्रकार के कारण होते हैं और भारतीय काव्यशास्त्र में इस सारे प्रश्न को लेकर विस्तार से विचार-विनिमय हुआ है। रस-विघ्नों अथवा रस-दोषों के विवेचन में सर्वप्रथम ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने विचार किया है और उन्होंने कवि की दृष्टि से पाँच प्रकार के रस विघ्नों का वर्णन किया है जो कि निम्नानुसार हैं—

'विरोधिरससम्बन्धिविभावादि परिग्रह।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च।'

अर्थात् (क) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि को ग्रहण कर लेना।

(ख) रस से सम्बन्धित होने पर भी किसी अन्य वस्तु का अत्यधिक विस्तार सहित वर्णन करना।

(ग) समय के औचित्य का ध्यान रखे बिना ही रस को समाप्त कर देना अथवा अवसर न होते हुए भी उसका वर्णन करना।

(घ) रस के पूर्ण परिपोष के बाद भी उसे बार-बार उद्दीप्त करना।

(ङ) व्यवहार का अनौचित्य।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् आचार्य मम्मट ने रस-विघ्नों का वर्णन रस-दोषों के रूप में किया और मम्मट ने रस-दोषों की संख्या में और अधिक वृद्धि कर दी। आचार्य मम्मट के अनुसार रस-दोष मुख्यतः अग्रलिखित हैं—

(1) व्यभिचारी भावों, रसों अथवा स्थायी भावों को अपने वाचक शब्द द्वारा व्यक्त करना।

(2) अनुभावों और विभावों की कष्ट-कल्पना से अभिव्यक्ति।

(3) रस के प्रतिकूल विभावादि को ग्रहण करना।

(4) रस को बार-बार उद्दीप्त करना।

(5) अवसर के प्रतिकूल रस को विस्तार देना।

(6) असमय में रस को समाप्त कर देना।

(7) गौण अर्थात् अंगभूत रसों को अत्यधिक विस्तार दे देना।

(8) प्रधान अर्थात् अंगी रस की उपेक्षा करना।

(9) प्रकृतियों का विपर्यय कर देना।

(10) ऐसे रसों का वर्णन करना जो प्रधाम रस के पोषक न हों।

मम्मट के रस-दोषों की संख्या निस्सन्देह आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिपादित पाँच रस-विघ्नों से अधिक बन पड़ी है। तथापि आनन्दवर्द्धन और मम्मट के रस-दोषों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट द्वारा प्रतिपादित रस-दोष प्रायशः आनन्दवर्द्धन के रस-विघ्नों में ही समाहित है। मम्मट के अधिकांश रस-दोष अधिकतर प्रबन्ध की स्थिति में ही सार्थक होते हैं। अधिकांश विद्वानों की मान्यता यह है कि मम्मट के उपर्युक्त दस रस-दोषों में से बाद वाले सातों रस-दोष प्रबन्धात्मक कृतियों के लिए ही हैं। पहले तीन रस-दोषों की गणना सामान्य रस-दोषों के रूप में की जा सकती है। इन सभी रस-दोषों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

सामान्य रस-दोष—(1) **स्वशब्दवाच्यता**—स्वशब्दवाच्यता का आशय रस अथवा भाव को अपने वाचक शब्द द्वारा व्यक्त करने से है। यह तो सर्वविदित है कि काव्य अथवा नाटक मे हमें रसास्वाद प्राप्त होता है किन्तु सचाई यह है कि काव्य अथवा नाटक में भावों, रसों आदि की व्यंजना होती है, उनका नामकथन नहीं होता 'शृंगार' शब्द के उच्चारण से शृंगार रस का उद्‌बोधन नहीं हो सकता। वस्तुतः भावों, रसों आदि का वाचक शब्द द्वारा कथन रस के उत्कर्ष का साधक नहीं अपितु रस के अपकर्ष का कारण होता है। वाचक शब्द के प्रयोग से केवल तथ्यबोध होता है और तथ्यबोध मूलतः बुद्धि का विषय है, हृदय का नहीं। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि "ग्रामवधुओं को राम का परिचय देते हुए सीता जी को लज्जा आ गयी" तो यह केवल एक तथ्यात्मक वर्णन कहलायेगा किन्तु इसके स्थान पर यह कहा जाये कि "ग्रामवधुओं को राम का परिचय देते हुए सीता के नयन झुक गये"—तो निस्सन्देह लज्जा का भाव साकार हो जायेगा। इस सारे विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रसोत्कर्ष की समूची प्रक्रिया में तथ्यकथन बाधक ही हो सकता है, साधक नहीं। इसके विपरीत बिम्ब-विधान रस-निष्पत्ति में निश्चय ही सहायक

होता है। कोरी तथ्यात्मक श्रेष्ठ काव्य का रूप धारण नहीं कर सकती। इस सम्बन्ध में साकेत की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'सीता भी नाता तोड़ गई।
इस वृद्ध ससुर को छोड़ गई।
उर्मिला बहू की बड़ी बहन।
किस भाँति करूँ मैं शोक सहन।'

कहना न होगा कि उपर्युक्त छंद की अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त 'शोक' शब्द शोक के भाव को व्यक्त नहीं कर पाता, अतः करुण रस का परिपाक तो हो ही नहीं सकता। तथापि ऐसी स्थितियाँ भी हो सकती हैं और होती भी हैं जहाँ रस का नामोल्लेख अनिवार्यतः रस भंग का कारण नहीं होता। ऐसा उस स्थिति में होता है जबकि रस के नामोल्लेख के साथ-साथ अनुभावों आदि के प्रयोग से बिम्ब-विधान पूर्ण बन पड़ा हो। उदाहरण के लिए 'साकेत' की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'हँस सीता कुछ सकुचाई, आँखें तिरछी हो आईं।
लज्जा से घूँघट काढ़ा, मुख का रंग किया गाढ़ा।

इसी दृष्टि से 'कामायनी' की निम्न पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

'गिर रही पलकें झुकी थीं नासिका की नोक।
भ्रूलता थी कान तक बढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल।
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्‌गद् बोल।'

यद्यपि उपर्युक्त दोनों छंदों में लज्जा के भाव का नामोल्लेख हुआ है तथापि अनुभावों के प्रयोग से पूर्ण बिम्बविधान के कारण भावों के इस नामोल्लेख से भी रस भंग नहीं होता। अतः मूल बात यह हुई कि भावों, रसों आदि का नामोल्लेख तभी रस-भंग का कारण होता है जबकि अनुभावों आदि के द्वारा पूर्ण बिम्ब-विधान की रचना न हो सके। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "यहाँ हमें वास्तविक आशय को ही ग्रहण करना चाहिए। शब्दमात्र का प्रयोग दोषकारक नहीं है, व्यंजना का अभाव और रस का कथन-मात्र दोष है, एक आध वाचक शब्द के रहने पर भी यदि बिम्ब-विधान स्पष्ट और पूर्ण है तो वहाँ दोष नहीं मानना चाहिए क्योंकि अधिकांश प्रसंगों में रस की व्यंजना प्रायः एक शब्द से सिद्ध या असिद्ध नहीं होती।"

(2) **विभावों तथा अनुभावों आदि की कष्ट-कल्पना**—रस की सम्यक् प्रतीति तभी सम्भव हो सकती है जबकि विभावों-अनुभावों की स्पष्ट प्रतीति भी हो। यदि विभाव-अनुभावादि की स्पष्ट और पूर्ण प्रतीति नहीं हो पाती तो स्वभावतः स्थायी भावों की उद्‌बुद्धि भी नहीं हो पायेगी और परिणामतः रस का परिपाक नहीं हो सकेगा। विभावों-अनुभावों की कष्ट कल्पना से रस की सम्यक् प्रतीति में निश्चित

बाधा पहुँचती है । उदाहरण के लिए यदि कोई नायिका उठती और गिरती है, अपने शरीर को बेसुध करती है तो यह तो ठीक है कि पाठक को उसकी इस शारीरिक व्यग्रता के प्रति करुण भाव का उदय हो जायेगा किन्तु जब तक यह निश्चित न हो पाये कि उस नायिका की यह दारुण स्थिति विरहजन्य है तब तक सामान्य शारीरिक पीड़ा और विरहजन्य शारीरिक आकुलता के मध्य किसी प्रकार की विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती । ऐसी स्थिति में विप्रलम्भ श्रृंगार रस की प्रतीति में निश्चित रूप से बाधा पहुँचेगी । इस दृष्टि से कवि को अभिप्रेत एक विरहिणी नायिका का निम्न शब्द-चित्र द्रष्टव्य है—

'उठति-गिरति फिर-फिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति ।
कहा करौं कासे कहौं, क्यों जीवै यह राति ।'

(3) **रस के प्रतिकूल विभावादि को ग्रहण करना**—रस के पूर्ण परिपाक के लिए यह भी आवश्यक है कि उसके अनुरूप ही विभावादि की योजना का निर्माण किया जाये । यदि विवक्षित रस के प्रतिकूल विभावादि को ग्रहण कर लिया जाता है तो स्वभावतः रस-प्रतीति में बाधा पहुंचेगी । उदाहरण के लिए यदि किसी तन्वंगी को देखकर यह कहा जाये कि—

'मानं मा कुरु तन्वङ्ग जात्वा यौवनमस्थिरम्'

अर्थात् हे तन्वंगि, तुम्हारा यह यौवन अस्थिर है और यह तथ्य जान लेने पर तुम्हें किसी प्रकार का मान नहीं करना चाहिए । निस्सन्देह श्रृंगार रस के पूर्ण परिपाक में यौवन की अस्थिरता की कल्पना मात्र से बाधा पहुँचती है । यौवन अस्थिरता, श्रृंगार रस की नहीं अपितु शान्त रस की उद्दीपक ही हो सकती है ।

इन तीन सामान्य रस-दोषों के अतिरिक्त सात ऐसे रस-दोष भी हैं जो कि प्रबन्धगत होते हैं । पीछे उल्लिखित दस रस-दोषों में पहले तीन रस-दोषों की गणना सामान्य रस-दोषों में और बाद के सात रस-दोषों की गणना प्रबन्धगत रस-दोषों में की जा सकती है । प्रबन्धगत रस-दोषों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(1) **रस को बार-बार उद्दीप्त करना**—रस का पूर्ण परिपाक हो जाने के पश्चात् उसे बार-बार उद्दीप्त करने से वैरस्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इस रस-दोष का अनुभव सामान्य जीवन तथा लोक-व्यवहार में भी किया जा सकता है । सुन्दर से सुन्दर संगीत भी कुछ समय तक ही मन को लुभा सकता है और उसका बार-बार श्रवण न केवल उसके प्रति आकर्षण को समाप्त कर देगा बल्कि वैरस्य भी उत्पन्न हो जाये, तो कोई आश्चर्य नहीं । ठीक यही स्थिति रस की भी होती है । रस के पूर्ण परिपाक के पश्चात् उसे बार-बार उद्दीप्त करने से उसके प्रति चमत्कार और वैचित्र्य का भाव तो रह ही नहीं जाता । उदाहरण के लिए गुप्तजी के 'साकेत' में (विशेष रूप से नवम् सर्ग में) विप्रलम्भ श्रृंगार को बार-बार उद्दीप्त किया गया है जिसके परिणामस्वरूप उस समूचे वर्णन में अपेक्षित मार्मिकता नहीं आ पायी है ।

(2) **अवसर के प्रतिकूल रस को विस्तार देना**—रसास्वादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में इस बात का भी महत्त्व होता है कि रसाभिव्यक्ति को अवसर के अनुरूप ही विस्तार दिया जाये। प्रसंग की सर्वथा उपेक्षा करके किसी भी रस की अभिव्यक्ति मुख्य रस के परिपाक में बाधक ही हो सकती है, साधक नहीं। इस प्रकार के रस-दोष की स्थिति उस अवस्था में भी होती है जबकि प्रसंग के विपरीत रस को अभिव्यक्त किया जाये। उदाहरण के लिए युद्ध-क्षेत्र में वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओं के पराक्रमण का वर्णन करते-करते किसी संयोग शृंगार के प्रकरण को देख और सुनकर रस-योजना का अनौचित्य ही स्पष्ट हो सकेगा। अतः यह सहज सिद्ध हो जाता है कि अवसर के प्रतिकूल रस की अभिव्यक्ति अथवा अवसर से सर्वथा असम्बद्ध रस की अभिव्यक्ति रस-परिपाक में बाधा पहुँचाती है।

(3) **असमय में रस को समाप्त कर देना**—रस के समुचित परिपोष के लिए यह भी आवश्यक है कि रस को असमय में समाप्त न कर दिया जाये। इस प्रकार का रस-दोष तब उत्पन्न होता है जबकि कोई रस अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचता ही है कि तभी किसी अन्य रस (जो प्रायः विरोधी रस होता है) की उत्पत्ति हो जाती है। एक उदाहरण से स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। राम और रावण के मध्य भीषण युद्ध का वर्णन करते-करते यदि राम अकस्मात् यह कह उठें कि "मैं सीता-सी मृगनयनी का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर लूँ, तब युद्ध करूँगा"—तो निस्सन्देह दर्शकों अथवा पाठकों को ऐसा रस-परिवर्तन रुचिकर नहीं लगेगा। अकस्मात् रस-परिवर्तन प्रायः रस-परिपोष में बाधक सिद्ध होता है। तथापि यह कोई अकाट्य नियम भी नहीं है। कई बार कुशल कवि अथवा नाटककार बलात् रस-परिवर्तन करके रसोत्कर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण के लिए 'कामायनी' की निम्न पंक्तियाँ देखिए जिनमें श्रद्धा और मनु का संयोग शृंगार पक्ष अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर सहसा ही निर्वेद में परिसमाप्त हो जाता है और इस प्रकार प्रसंग के परिवर्तन से रस-परिपोष में भी कोई बाधा नहीं पहुँचती अपितु रसोत्कर्ष ही होता है—

'दो काठों की सन्धि-बीच उस निभृत गुफा में अपने।
अग्निशिखा बुझ गई जागने पर जैसे सुख-सपने।'

(4) **गौण अथवा अंगभूत रसों को अत्यन्त विस्तार देना**—रस के सम्यक् परिपोष के लिए यह आवश्यक है कि अंगी और अंगभूत रसों के मध्य आदर्श सममिति बनी रहे। अंगी रस और अंगभूत रसों के मध्य एक आदर्श अनुपात बना रहना चाहिए। जब कभी अंगभूत रसों का विस्तार अंगी रस से भी अधिक हो जाता है अथवा अंगी रस के सम्बद्ध किसी रस का अत्यधिक विस्तार हो जाता है तब इस प्रकार के रस-दोष की उत्पत्ति हो जाती है। वस्तुतः समूचे प्रबन्ध में अंगी रस की प्रधानता बराबर बनी रहनी चाहिए और अंगभूत रसों का विस्तार केवल उसी अनुपात में होना चाहिए जिसमें कि अंग और अंगी के मध्य आदर्श सममिति अवश्य बनी

रहे। यह दोष केवल अंगभूत रसों के अत्यधिक विस्तृत वर्णन से ही नहीं अपितु अंगभूत पात्रों अथवा घटनाओं के अत्यधिक वर्णन से भी उत्पन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए रामकथा सम्बन्धी महाकाव्य में राम के आदर्श चरित्र का दिग्दर्शन ही कवि को अभीष्ट होना चाहिए और तदनुसार प्रमुखतया राम सम्बन्धी कथाओं, उपकथाओं, घटनाओं, क्रिया-कलापों का वर्णन ही होना चाहिए। यदि ऐसे किसी रामकथा सम्बन्धी प्रबन्ध काव्य में राम के स्थान पर किसी अन्य पात्र अथवा उससे सम्बन्धित घटनाओं आदि का अत्यधिक विस्तृत वर्णन किया जाता है तो स्वभावतः राम का चरित्र गौण और फीका हो जायेगा और यह एक प्रकार का रस-दोष कहलायेगा।

(5) **प्रधान अथवा अंगी रस की उपेक्षा करना**—यह रसदोष भी वस्तुतः रस-दोष संख्या ४ का ही एक परिणाम कहा जाना चाहिए। जब अंगी रस के स्थान पर अंगभूत रसों अथवा अंगभूत घटनाओं, वस्तु आदि का अत्यधिक विस्तार के साथ वर्णन किया जाता है तो स्वभावतः अंगी रस अथवा मुख्य वस्तु, घटनाओं पात्रादि की उपेक्षा हो जाती है। अंगी रस अथवा मुख्य पात्र कथावस्तु घटना आदि की उपेक्षा से गौण पात्रों, अंगभूत रसों, घटनाओं आदि को अनावश्यक गौरव और महत्ता मिल जाती है और इस प्रकार यह रस-दोष उत्पन्न हो जाता है। कई प्रबन्ध काव्यों, नाटकों आदि में नायक सम्बन्धी विवाद तभी उत्पन्न होते हैं जबकि इस प्रकार के रस-दोष की स्थिति होती है। उदाहरण के लिए नाटककार प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त के साथ-साथ चाणक्य के चरित्रांकन में भी नाटक ने अत्यधिक रुचि का परिचय दिया है और इस कारण कई स्थलों पर चन्द्रगुप्त के नायकत्व को क्षति पहुँचती है और चाणक्य का व्यक्तित्व सहज ही मुखरित हो उठता है। कदाचित् इसी कारण चन्द्रगुप्त नाटक के नायकत्व के प्रश्न पर विद्वानों में आज तक भी विवाद की स्थिति बनी हुई है। अतः रस-परिपोष के लिए यह आवश्यक है कि अंगी रस तथा मुख्य पात्र (नायक), वस्तु, घटनाओं आदि की महत्ता बराबर बनी रहनी चाहिए।

(6) **प्रकृतियों का विपर्यय कर देना**—प्रबन्ध काव्यों, नाटकों आदि में प्रत्येक पात्र, वस्तु घटनाओं आदि का एक विशिष्ट स्थान और महत्त्व होता है तथा प्रत्येक कवि नाटककार की सफलता इसी बात में है कि वह उस विशिष्ट स्थान और महत्त्व का आद्योपान्त निर्वाह करता रहे। प्रबन्ध काव्यों के नायकों के जो विभिन्न भेद-उपभेदादि काव्यशास्त्र में मिलते हैं, उनका वस्तुतः यही आधार होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में पात्रों की प्रकृति के आधार पर उनके तीन भेद किये गये हैं—दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य। पात्रों के चरित्र के आधार पर उनके चार भेद किये जाते हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत तथा धीर-प्रशान्त। रस-परिपोष के लिए यह आवश्यक है कि धीरोदात्त नायक का चरित्र-चित्रण तदनुरूप होना चाहिए और इसी प्रकार अन्य प्रकार के पात्रों का चरित्र-चित्रण उनकी प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'साकेत' में दशरथ और कैकेयी के प्रति लक्ष्मण का उद्धत व्यवहार

'कामायनी' में इड़ा के प्रति मनु का पशुतापूर्ण आचरण इसी प्रकार के रस-दोष के उदाहरण समझे जा सकते हैं।

(7) **ऐसे रसों का वर्णन जो प्रधान रस के पोषक न हों**—इस रस-दोष का आशय वस्तुत: ऐसे रसों के वर्णन से है जो कि अप्रासंगिक हों और इस कारण अंगी रस का परिपोष न करते हों। लौकिक व्यवहार में भी अप्रासंगिक वर्णनों से रस-भग होता है और ठीक यही स्थिति काव्य तथा नाटकों की भी होती है। तथापि यह रस-दोष इतना स्पष्ट और निर्विवाद होता है कि कोई भी कवि अथवा नाटककार इस प्रकार के अप्रासंगिक वर्णन नहीं करता, ठीक उसी तरह जिस तरह कि सामान्य विवेक-बुद्धि से युक्त कोई भी व्यक्ति लोक-व्यवहार में किसी प्रकार की अप्रासंगिक बात कहने में संकोच करता है।

रस-दोषों के प्रसंग में आचार्यों ने दो प्रकार से विचार किया है—कवि की दृष्टि से और सहृदय की दृष्टि से। रस-दोषों का उपर्युक्त विवेचन वस्तुतः कवि की दृष्टि से किया गया है। सहृदय की दृष्टि से रस-दोषों का विवेचन करने वालों में अभिनवगुप्त प्रथम उल्लेखनीय आचार्य हैं। अभिनवगुप्त ने सहृदय की दृष्टि से सात प्रकार के रस-दोषों का विवेचन किया है जो इस प्रकार हैं—

(क) प्रतीति में अयोग्यता अथवा रस की सम्भावना का अभाव।
(ख) स्वगत (सामाजिक की दृष्टि से) देशकाल विशेष का आवेश।
(ग) परगत (नटों आदि की दृष्टि से) भाव से देशकाल का आवेश।
(घ) निजी सुखादि से विवश हो जाना।
(ङ) प्रतीति के उपायों की अक्षमता और परिणामतः प्रतीति का स्फुट न होना।
(च) अप्रधानता।
(छ) संशय योग अर्थात् सन्देह की स्थिति का उत्पन्न हो जाना।

इन रस-दोषों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(क) **प्रतीति में अयोग्यता अथवा रस की सम्भावना का अभाव**—इस प्रकार का रस-दोष उस स्थिति में उत्पन्न होता है जबकि सामाजिक को वर्ण्य-वस्तु की ही प्रतीति न हो। स्वभावतः वर्ण्य-वस्तु की प्रतीति न होने पर पाठक कैसे रसास्वादन कर सकता है। लौकिक व्यवहार में भी जब तक प्रसंग का ज्ञान न हो, कोई भी बात, घटना अथवा स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकती और इस कारण उसका आनन्द भी नहीं उठाया जा सकता। कदाचित् इसी कारण काव्यशास्त्रियों ने काव्य में असंभाव्य अथवा अतिमानवीय घटनाओं के समावेश का औचित्य स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य अरस्तू का विवेचन भी उल्लेख्य है। अरस्तू के मत से घटनाएँ तीन प्रकार की हो सकती हैं—घटित, सम्भाव्य और असम्भव। घटित वर्ण्य-वस्तु मुख्यतः इतिहास का उपजीव्य होती है, सम्भाव्य का

सम्बन्ध काव्य अथवा साहित्य के साथ होता है और असम्भव का स्थान न तो इतिहास में होता है और न काव्य में। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य में असम्भव घटनाओं के समावेश से रस-विघ्न उत्पन्न होता है क्योंकि असम्भव घटनाओं आदि के साथ सामाजिक का साधारणीकरण नहीं हो सकता, अतः उसे आनन्द की प्राप्ति भी नहीं होती।

(ख) स्वगत भाव से देशकाल का आवेश—इस रस-दोष का आशय यह है कि नाटक आदि में वर्णित शोक, रति आदि भावों को नाटक के पात्रों के भाव ही बने रहना चाहिए। यदि उन भावों के भीतर सामाजिक को स्वयं अपने भावों का प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगे तो वह नाटक की असफलता ही कहलायेगी। ऐसी स्थिति में शकुन्तला के विरह से दुखी दुष्यन्त की पीड़ा सामाजिक की अपनी पीड़ा बन जायगी और उस स्थिति में वह नाटक सामाजिक को रस की प्रतीति न कराके दुख की सामग्री ही जुटा सकेगा। इस प्रकार देशकाल से सम्बद्ध होने पर सामाजिक को रसास्वाद नहीं हो पायेगा।

(ग) परगत भाव से देशकाल का आवेश—परगत भाव से देशकाल के आवेश का आशय यह है कि यदि सामाजिक को ऐसा प्रतीत हो कि रंगमंच पर अभिनय करने वाले पात्र वस्तुतः शोक, रति आदि भावों का स्वयं अनुभव कर रहे हैं तो भी उसके रसास्वादन में बाधा पहुँच जायगी। उस सम्बन्ध में सामाजिक के समक्ष दो प्रकार की सम्भावनाएँ रहती हैं—एक तो यह कि रंगमंच पर रामादि का अभिनय करने वाले पात्रों को वास्तविक रामादि समझ ले और दूसरी यह कि उन्हें केवल अभिनय करने वाले नटादि ही समझे। दोनों प्रकार की स्थितियों में सामाजिक की मानसिक शान्ति नहीं बनी रह सकती। तथापि इन दोनों स्थितियों में एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि सामाजिक और पात्र अथवा नटादि की अलग-अलग सत्ताएँ हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक राम का अभिनय करने वाले को राम समझे अथवा नट—इतना निर्विवाद है कि इन दोनों स्थितियों में ही सामाजिक के चित्त की शान्ति भंग अवश्य हो जायेगी। स्वगत अथवा परगत भाव से देशकाल के आवेश का अर्थ वस्तुतः वैयक्तिक संसर्गों की जकड़ से है। अपने-पराये के भावों में जकड़ा हुआ व्यक्ति केवल सीमित दृष्टि ही रखता है, उसके भावों का साधारणीकरण नहीं हो पाता। अतः इस रस-दोष के निराकरण के लिए यह आवश्यक है कि कवि अथवा नाटककार इस प्रकार की शब्द-योजना तैयार करे कि सामाजिक अथवा पाठक देशकाल के बन्धन से सर्वथा मुक्त रहे।

(घ) निजी सुखादि से विवश हो जाना—रस-दोष की स्थिति तब जन्म लेती है जबकि सामाजिक स्वयं अपने जीवन के सुख-दुखों में इतना अधिक ग्रस्त हो कि वह रंगमंच पर अभिनीत किये जा रहे नाटक का सच्चे अर्थों में आनन्द न उठा सके। नाटक अथवा काव्य का आनन्द तभी उठाया जा सकता है जबकि सामाजिक का मन

किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त हो। इस स्थिति का निराकरण स्वयं काव्य अथवा नाटक सौन्दर्य में ही निहित होता है। नाटक के रंगमंच पर पात्रों के अभिनय कौशल अथवा काव्य में कवि द्वारा निर्मित भावों का मनोमय सौन्दर्य स्वतः ही मनुष्य को उसके व्यक्तिगत राग-द्वेषों से ऊपर उठा देता है। कदाचित् इसी कारण कई बार मनुष्य अपने मन के 'भारीपन' को दूर करने के लिए नाटक अथवा काव्य का आश्रय लेता है। इस प्रकार यह एक दोहरी प्रक्रिया हुई। एक तो सामाजिक का मन व्यक्तिगत राग-द्वेष से अत्यधिक ग्रस्त होना, दूसरे नाटक, काव्यादि द्वारा मनुष्य को उसके व्यक्तिगत राग-द्वेषों से ऊपर उठाकर भावनाओं के ऐसे पावन धरातल पर प्रतिष्ठित करना जहाँ उसकी 'स्व' अथवा 'पर' की प्रतीति ही जाती रहे और वही स्थिति सच्चे आनन्द की स्थिति होती है।

(ङ) प्रतीति के उपायों की अक्षमता और परिणामतः प्रतीति का स्फुट न होना—पहले ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य अथवा नाटकादि में अभिव्यंजना के माध्यम से रस की उत्पत्ति होती है। 'श्रृंगार' शब्द के उच्चारण अथवा कथन मात्र से श्रृंगार रस की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जहाँ कहीं कवि श्रृंगार रस की उत्पत्ति करता है, वह निश्चय ही घटनाओं, पात्रों, वस्तु आदि की ऐसी सुरम्य योजना प्रस्तुत करता है कि पाठक को स्वतः ही श्रृंगार रस का आनन्द अनुभव होता है। यदि कवि की व्यंजना शक्ति असमर्थ अथवा अक्षम हुई तो पाठक को निश्चय ही रस की प्रतीत नहीं हो सकेगी। यही स्थिति नाटक की भी है। रंगमंच पर अभिनीत किये जा रहे नाटक के पात्रों आदि के अभिनयकौशल में किसी भी प्रकार की दुर्बलता अथवा अक्षमता नाटक के रसास्वादन में बाधक सिद्ध होगी। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का मूलाधार यही अवधारणा है।

(च) अप्रधानता—अप्रधानता का आशय रस की अप्रधानता से है। रस-निष्पत्ति के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है कि रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थायी भाव के साथ होता है और विभाव-अनुभाव आदि स्थायी भाव के पोषक ही होते हैं। दूसरे शब्दों में, स्थायी भाव प्रमुख होता है और अन्य भाव अर्थात् विभाव अनुभावादि की स्थिति गौण होती है। यदि किसी काव्य अथवा नाटकादि में स्थायी भाव की प्रधानता की रक्षा नहीं हो पाती और किन्हीं कारणों से विभावादि प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेते हैं तो उस काव्य अथवा नाटक में निश्चय ही रसास्वादन में बाधा पहुँचती हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि सामाजिक के मन में प्रधान रस की अनुभूति हो। तथापि यह स्थिति सामान्य रूप में स्वीकार करते हुए भी संस्कृत और हिन्दी में ऐसे अनेक काव्य-प्रसंग सुलभ हैं जिनमें मुख्यतः विभावादि का ही चित्रण किया गया है। व्यभिचारी भावों के माध्यम से रसोद्‌बोधन के कई उदाहरण हिन्दी के छायावादी काव्य में सहज सुलभ हैं। वस्तुतः अभिनवगुप्त ने जब अप्रधानता के रस-दोष की बात कही तो उनका मूल उद्देश्य काव्य के भावपक्ष को अधिक गौरव प्रदान करना था।

(छ) संशय योग—संशय योग की स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि रस के

विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हो जाये। रस के विभिन्न अवयवों में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के अतिरिक्त स्थायी भावों की गणना की जाती है। विभाव, अनुभावादि का स्थायी भावों के साथ एक विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध होता है जिसके परिणामस्वरूप स्थायी भाव की प्रतीति रस रूप में होती है। जब तक यह सम्बन्ध सुस्पष्ट और निभ्रान्त नहीं होगा, तब तक रसास्वाद में बाधा पहुँचती रहेगी। संशय की यह स्थिति इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि एक ही अनुभाव का एकाधिक रसों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए भयानक और शृंगार दोनों ही रसों में 'कम्प' अनुभाव का अनुभव होता है। इसी प्रकार व्यग्र को देखकर भयानक रसों और रौद्र रसों के अनुरूप विभावों की अनुभूति हो सकती है। अतः रस-परिपोष के लिए यह आवश्यक है कि रस विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो अर्थात् स्थायी भाव के साथ कौन-कौन से विभावों, अनुभावों, व्यभिचारी भावों आदि का सम्बन्ध है—इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि संशय योग का आशय कथात्मक कौतूहल से नहीं है क्योंकि कौतूहल तो निश्चय ही काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है जबकि संशय की स्थिति निर्विवाद रूप से रस-बाधक होती है।

रस-दोषों के उपर्युक्त विवेचन के स्पष्टतः दो पक्ष हैं—एक तो कवि की दृष्टि से और दूसरा सहृदय की दृष्टि से। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से रस-विघ्न की स्थिति केवल विषयिगत अर्थात् सहृदय की दृष्टि से ही होती है तथापि अध्ययन की सुविधा के लिए रस-विघ्नों का यह द्वि-पक्षीय विवेचन निस्सन्देह अधिक व्यावहारिक है। मूल बात यह है कि रस-विघ्न की स्थिति मुख्यतः दो कारणों से हो सकती है—अनुभूति की कमी तथा अभिव्यक्ति की विकलता। अनुभूति की कमी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहृदय के साथ होता है जबकि अभिव्यक्ति की विकलता का सम्बन्ध कवि के साथ होता है। इस आधार पर रस-दोषों का उपर्युक्त विवेचन निश्चय ही अधिक तर्कसंगत और व्यावहारिक है।

करुण रस का आस्वाद—भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में प्रायशः कोई विवाद नहीं है कि काव्य-रस अनिवार्यतः आनन्दपूर्ण होता है। ऐसी मान्यता के रहते हुए एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि शृंगार, हास्य आदि सुखात्मक रसों से आनन्द की अनुभूति तो निर्विवाद है किन्तु कारुणिक प्रसंगों आदि का आस्वाद किस प्रकार आनन्दपूर्ण हो सकता है। इसी प्रश्न को एक और ढंग से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। चारों ओर हाहाकार और त्रासपूर्ण वातावरण के रहते हुए, माँ की गोद से उसके अबोध बालक को छीनकर सूली पर लटका देने अथवा किसी नवविवाहिता की माँग का सिन्दूर पुँछ जाने से किसी भी व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है। ये सारे प्रसंग मूलतः कारुणिक और त्रासपूर्ण हैं, इनसे सहृदय दुखी ही हो सकता है, फूट-फूटकर रो सकता है, अतः ऐसी स्थिति

में यह कैसे माना जा सकता है कि ऐसे प्रसंगों को देखकर अथवा पढ़कर कोई भी सहृदय आनन्दित हो सकता है। इसके विपरीत यह तथ्य भी उल्लेख्य है कि यदि इस प्रकार के कारुणिक प्रसंग अनिवार्यतः अप्रीतिकर और दुखात्मक होते हैं तो फिर सहृदय ऐसे प्रसंगों से परिपूर्ण नाटकों, आदि में क्यों जाते हैं। इसका सीधा-सादा अर्थ यही हुआ कि यदि किसी त्रासपूर्ण प्रसंग को देखकर अथवा पढ़कर सहृदय दुखी होता है और इस पर भी यदि ऐसे प्रसंगों के प्रति सहृदयों में आकर्षण बना रहता है तो इन प्रसंगों में अवश्य ही ऐसा कुछ होता है जो विशुद्ध रूप से दुखात्मक नहीं होता अथवा यूँ कह सकते हैं कि काव्य अथवा नाटक में कारुणिक प्रसंगों को किसी ऐसे कौशल से प्रस्तुत किया जाता है कि सहृदय को आँसू बहाने में भी एक प्रकार की आनन्दानुभूति होती है, दुखी होने में भी सुख की दिव्यता दीख पड़ती है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रायशः सिद्ध हो चुका है कि कविता का आदि स्वर करुणा के क्रोड में फूटा था। विश्व का श्रेष्ठतम साहित्य इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का साक्षी है कि

'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप वही होगी कविता अनजान।'

इस प्रश्न को लेकर भारतीय काव्यशास्त्रियों में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त विवेचन हुआ है। इसी प्रश्न के साथ रस के स्वरूप का प्रश्न भी बहुत गहरा जुड़ा है। यद्यपि अधिकांश भारतीय आचार्य रस को सुखात्मक मानते हैं फिर भी ऐसे भी कई काव्यशास्त्री हैं जो कि रस को सुख-दुखात्मक दोनों प्रकार का मानते हैं। इस वर्ग के काव्यशास्त्रियों का एक प्रबल तर्क यह है कि कवि की जिन अनुभूतियों से कविता का सृजन होता है, वे अनुभूतियाँ अनिवार्यतः सुखात्मक और दुखात्मक दोनों प्रकार की होती हैं। ऐसी स्थिति में कविता से निःसृत रस भी स्वभावतः सुख-दुखात्मक होगा। सुखात्मक रसों में शृंगार, हास्य आदि रस होंगे और दुखात्मक रसों में करुणादि दुखात्मक रसों की गणना की जायेगी। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की यह धारणा उल्लेखनीय है कि रस को सुख-दुखात्मक मानने वाले विद्वानों का चिन्तन सांख्य दर्शन से प्रभावित है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति—यही दो आदि तत्त्व हैं। तथापि पुरुष निर्लिप्त है अर्थात् न तो वह किसी अन्य तत्त्व से जन्म लेता है और न किसी तत्त्व को जन्म देता है। यह अखिल सृष्टि प्रकृति का ही एक मात्र प्रताप है। प्रकृति के तीन गुण बताये गये हैं—सत्त्व, रज और तम। इन तीनों गुणों की भी अपनी-अपनी प्रकृतियाँ हैं, अर्थात् सत्त्व की प्रकृति सुखात्मक है, रजोगुण दुखात्मक है और तमोगुण मोह, माया आदि का जनक होता है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार इस अखिल सृष्टि के मूल में सुख, दुख और मोह की उपस्थिति बनी रहती है। कवि की कविता भी इसी सृष्टि में बिखरी हुई इन तीनों प्रकार की अनुभूतियों को लेकर बनती है। अभिनवगुप्त के इस विवेचन से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरता है कि उनके समय में रस की प्रकृति सुख-दुखात्मक मानने वाले काव्य-

शास्त्रियों की एक सुदीर्घ परम्परा अवश्य रही थी। अभिनवगुप्त के पश्चात् तो अनेक काव्यशास्त्रियों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रस को सुख-दुखात्मक सिद्ध किया। इस दृष्टि से जैन आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने स्पष्टतः कहा है कि "सुखदुःखात्मकः रसः" और इसी आधार पर रसों को सुखात्मक और दुखात्मक—इन दो मुख्य वर्गों में बाँट दिया है। इस वर्गीकरण के अनुसार वीर हास्य, शृंगार, अद्भुत और शान्त आदि सुखात्मक रस होते हैं और रौद्र, बीभत्स, करुण तथा भयंकर आदि दुखात्मक रस होते हैं। इस वर्गीकरण का आधार लौकिक व्यवहार में भी देखा जा सकता है। लौकिक संसार में मनुष्य के अनुभव मुख्यतः सुखात्मक और दुखात्मक होते हैं और कवि का संसार भी इसी सुखात्मक-दुखात्मक अनुभवों से बनता है। कवि की अनभूति जितनी गहरी, सच्ची और ईमानदार होगी उसकी कविता भी उतनी ही प्राणवान् होगी। स्वभावतः उसकी अनुभूति की गहराई इसी एक तथ्य में छिपी होती है कि वह जीवन को कितनी समग्रता के साथ समेट पाया है। जिस कविता में जीवन का जितना व्यापक चित्र उतारा जायेगा, वह कविता उतनी ही अधिक प्रभावपूर्ण और जीवन के अधिक निकट होगी। जीवन की व्यापकता का आशय स्पष्टतः यही है कि उसमें जीवन के सुख-दुख, राग-द्वेष, पाप-पुण्य सभी का समाहार हो जाता है। यदि किसी कविता में केवल सुख के सुनहले प्रसंगों को ही स्थान मिल पाता है तो वह कविता निश्चित रूप से जीवन का एकांगी चित्र ही प्रस्तुत कर सकेगी। स्वभावतः इस प्रकार के काव्य में जनजीवन का पूरा चित्र नहीं उभर पायेगा। रामचन्द्र गुण-चन्द्र के अनुसार कविता अथवा नाटक में वर्णित दुखात्मक प्रसंगों से सहृदय को वस्तुतः दुख ही होता है किन्तु कवि अथवा नाटककार के कलाकौशल से उसी दुख में परमानन्द का भ्रम हो जाता है। होता यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी दुखात्मक प्रसंग को देखता है और जब उस दुखमय आस्वाद का विराम हो जाता है तो वह नटादि के अभिनय-कौशल, चमत्कार में खो जाता है और तब उसे उस दुखपूर्ण आस्वाद में भी परमानन्द की अनुभूति होती है। आचार्य शुक्ल भी करुण रस के आस्वाद को दुखपूर्ण मानते हुए कहते हैं कि, "यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—इस भाव की सहानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्दरूप अनुभव हुआ तो साधारणीकरण कैसा ? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि ने बिना इन भावों का अनुभव किये उनका रूप प्रदर्शित किया है।"

भारतीय काव्यशास्त्रियों में ऐसे अनेक काव्यशास्त्री हैं जो कि रस को मूलतः सुखात्मक मानते हैं। भरतमुनि ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रस को आनन्दात्मक माना है। भट्टनायक, अभिनवगुप्त तथा आचार्य विश्वनाथ आदि भी प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः यही स्वीकार करते हैं। इन विचारकों के मत से करुण रस सहित सभी रस

आनन्दपूर्ण होते हैं। करुण रस की आस्वादरूपता का परिचय देते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि—

'करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपिस्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनामभविता दुःखहेतुता।'

अर्थात् करुण आदि रसों में जो भी परमानन्द अनुभव होता है उसमें केवल प्रमाताओं के हृदय ही प्रमाण हैं। यदि उनमें दुःख भी मान लिया जाय तो कोई भी व्यक्ति उनके प्रति उन्मुख न हो और तब रामायणादि भी दुखपूर्ण बन जायेंगे। इस प्रकार काव्यशास्त्रियों के इस वर्ग के अनुसार करुण रस सहित सभी रस आनन्दपूर्ण होते हैं और उनकी अनुभूति तदनुसार सुखपूर्ण होती है।

काव्यशास्त्रियों के इन दो मुख्य वर्गों के अतिरिक्त एक ऐसा अन्य वर्ग भी है जिसे मध्यवर्ती वर्ग कहा जा सकता है। काव्यशास्त्रियों के इस वर्ग के अनुसार करुण रस का आस्वाद सुखात्मक भी होता है और दुखात्मक भी। इस दृष्टि से आचार्य वामन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विद्वानों का एक अन्य वर्ग ऐसा भी है जिसके अनुसार काव्य अथवा नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है। इस वर्ग के अनुसार काव्य अपने आप में एक ऐसी जटिल अनुभूति है जिसमें मनुष्य की विविध प्रकार की वृत्तियों का सम भाव रहता है। काव्य में जीवन की परस्पर विरोधी और समान वृत्तियों का वैविध्य बिखरा होता है जिसमें सुख-दुख, करुण-त्रास आदि का अत्यन्त सूक्ष्म और स्वस्थ सन्तुलन बना रहता है। रस-निष्पत्ति का बहुचर्चित सिद्धान्त भी स्थूलतः इसी भाव-वैविध्य पर टिका है। रस-सिद्धान्त में यह माना जाता है कि अनेक प्रकार के व्यभिचारी भाव एकनिष्ठ होकर किसी एक स्थायी भाव का पोषण करते हैं और तभी वह स्थायी भाव रसरूप बन जाता है। इस प्रकार रसरूप जीवन की विभिन्न वृत्तियों के समवाय की परिणति हुआ। यह परिणति सुखात्मक भी हो सकती है, दुःखात्मक भी और उभयात्मक भी।

आचार्य शुक्ल ने रस को सुखात्मक और दुखात्मक—दोनों प्रकार की अनुभूतियों से ऊपर माना है। शुक्ल जी के अनुसार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। शुक्ल जी के मतानुसार कविता का परिशीलन करते समय सहृदय की सत्ता तिरोहित हो जाती है। डॉ० त्रिपाठी के अनुसार, "वैसे तो लौकिक विषयों के ग्रहण करने में हम उन विषयों का अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध कर लेते हैं और उस समय हमारे हृदय अपने योगक्षेम की वासना से वासित रहते हैं। किन्तु जब हम काव्य का परिशीलन करते हैं तब उनसे हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता बल्कि उन्हें हम निर्विशेष शुद्ध और मुक्त स्वभाव से ग्रहण करते हैं। इसी को निस्संगता (डिटेचमेंट) कहते हैं और इसी को हम ब्रह्मानन्द सहोदर इत्यादि चाहे जो संज्ञा

प्रदान कर सकते हैं।" इसी आधार पर आचार्य शुक्ल को भी आनन्दवादी मान लिया गया है क्योंकि उनके मत से काव्य की रसदशा आनन्दमय होती है और उसका पर्यवसान भी आनन्द में ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर करुण रस की आस्वादरूपता को लेकर स्पष्टतः दो मत उभरते हैं—एक के अनुसार रस का आस्वाद उभयात्मक है अर्थात् रस सुखात्मक और दुखात्मक दोनों प्रकार का है और दूसरे के अनुसार रस विशुद्ध रूप से आनन्दमय होता है। दोनों वर्ग अपने-अपने पक्ष में सशक्त तर्क उपस्थित करते हैं। यदि रस की प्रकृति उभायात्मक मान ली जाये तो एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठेगा कि रस की दुखात्मक अभिव्यक्ति किस प्रकार प्रीतिकर हो सकती है। यह प्रश्न तब और भी अधिक जटिल दीखता है जबकि दुःखात्मक काव्यों और नाटकों के प्रति सहृदयों में अत्यधिक आकर्षण बराबर बना रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि करुण प्रसंगों से युक्त नाटकों, काव्यों में अवश्य ही कुछ ऐसा होता है जिससे सुख की अनुभूति होती है। इसके विपरीत यदि रस को अनिवार्यतः आनन्दमय मान लिया जाये तो यह प्रश्न पुनः उठता है कि अपने एकमात्र पुत्र की मृत्यु पर विलाप करती हुई किसी दुखी माता को देखकर कौन निष्ठुर हृदय हर्षित हो सकता है।

करुण रस के आस्वाद को आनन्दमय मानने वाले काव्यशास्त्रियों ने अपने मत की पुष्टि में नाना प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है :

(क) इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि काव्यरस अपने आप में अलौकिक होता है अतः उसमें लौकिक कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज करना निस्सार होगा। दुखमय प्रसंगों के वर्णन से दुख की उत्पत्ति होना एक लोक-व्यवहार का सिद्धान्त है जो कि काव्य के प्रसंग में चरितार्थ नहीं होता। कवि अपनी प्रतिभा का संस्पर्श देकर काव्य में वर्णित दुखमय प्रसंगों को सुखात्मक बना देता है। 'रस गंगाधर' में कवि की इसी अलौकिक प्रतिभा का परिचय देते हुए कहा गया है कि 'अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा यत्प्रयोज्या अरमणीय अपिशोकादयः पदार्थं आह्लादमलौकिक जनजयन्ति" अर्थात् यह अलौकिक काव्य-व्यापार (अर्थात् व्यंजना) की ही महिमा है कि कवि द्वारा व्यक्त अरमणीय शोकादि पदार्थ भी अलौकिक आह्लाद को उत्पन्न करने वाले सिद्ध होते हैं। वस्तुतः इस वर्ग के काव्यशास्त्री मूलतः आनन्दवादी ही हैं क्योंकि इनके मत से रस अलौकिक है। इन काव्यशास्त्रियों का समूचा चिन्तन रस की अलौकिकता पर निर्भर करता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में भी रस की दिव्यता, अलौकिकता के प्रति पर्याप्त आग्रह रहा है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा के सूत्रधार प्लेटो ने भी दिव्य प्रेरणा की बात आग्रहपूर्वक कही है। तथापि आज के बुद्धिवादी युग में इतनी बात स्पष्ट हो चुकी है कि कवि, कविकर्म, कविता और उससे निःसृत होने वाला काव्यरस—ये भी अलौकिक हैं तो

केवल इसी अर्थ में कि उनमें और लौकिक जीवन में गुण का ही अन्तर है। काव्यरस और जीवनरस, कविता और जीवन, कविप्रतिभा और सामान्य बुद्धि—इन सभी की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है और जो अन्तर प्रत्यक्षतः भासित होता है वह गुण का अन्तर है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में वर्णित शोक प्रसंग और लौकिक संसार के शोक प्रकरण प्रकृति से एक हैं किन्तु उनमें गुण का ही अन्तर है।

(ख) काव्य में भावकत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित करने वाले भट्टनायक ने भी इस समस्या का एक समाधान प्रस्तुत किया है। भट्टनायक के मतानुसार कवि भावकत्व व्यापार के माध्यम से दो कार्य करता है—एक तो सहृदय को व्यक्तिगत रागद्वेष के भावों से मुक्त कर देता है और दूसरा विभावादि का साधारणीकरण कर देता है। कवि का यह भावकत्व व्यापार सामान्य भाषा में 'काव्य-कौशल' कहलाता है। जिसका आशय दोषमुक्त और गुणालंकारों से युक्त शब्दार्थ-योजना से होता है। कवि दोषमुक्त और गुणालंकार युक्त शब्दार्थ-योजना का प्रयोग करता हुआ लौकिक शोकादि भावों को उनके आश्रय और आलम्बनादि के साथ साधारणीकृत रूप में व्यक्त करता है। परिणामतः शोकादि भाव सुखद चर्वणा के पात्र हो जाते हैं। इस प्रकार कवि भावकत्व व्यापार के माध्यम से मूलतः दुखमय भावों को सुखमय आस्वाद में परिणत कर देता है। उसका यह कार्य स्पष्टतः दो प्रकार से सम्पन्न हो पाता है—उसका अपना काव्यकौशल और विभावादि का साधारणीकरण। काव्यकौशल का आशय कवि-प्रतिभा और कल्पनाशक्ति से है जिसके प्रयोग से कवि लौकिक शोकादि के भावों को साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत कर देता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "कल्पना के चमत्कार से साधारणीकृत होकर शोकादि की विशिष्टता नष्ट हो जाती है। व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त होकर उसके स्थूल लौकिक सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उसका रूप सामान्य जीवनगत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त हो जाता है।" भारतीय दर्शन की भाषा में 'भूमा' की जिस स्थिति का उल्लेख किया जाता है वह वस्तुतः यही स्थिति होती है। भूमा की चेतना व्यक्तिगत राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होती है और मन की इसी स्थिति में सच्चा सुख होता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भट्ट-नायक ने काव्यकौशल और विभावादि के साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत करके करुण रस की आस्वाद्यता सिद्ध की है।

(ग) इस विषय पर तीसरा महत्त्वपूर्ण विचार अभिव्यक्तिवादी काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अभिव्यक्तिवादियों के अनुसार, सहृदय को न तो रस का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसकी प्रतीति ही होती है बल्कि काव्य का आस्वाद आत्मानन्दरूप होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि रस की उत्पत्ति काव्य से होती ही नहीं। जिसे रस कहते हैं वह तो कविता के माध्यम से विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्मा का आस्वाद है जो कि अनिवार्यतः आनन्दपूर्ण होता है। इस प्रकार अभिव्यक्तिवादियों के अनुसार काव्य में वर्णित शोक व्यक्तिगत शोक नहीं रह जाता

अपितु कवि उसकी अभिव्यंजना साधारणीकृत शोक की भाव-भूमिका के रूप में करता है। अतः काव्य तो केवल एक माध्यम है जिसके द्वारा कवि व्यक्तिगत शोकादि को 'स्व' और 'पर' के सम्बन्धों से मुक्त करके प्रस्तुत करता है। निस्सन्देह इस उद्देश्य से कवि अपने काव्यकौशल और वस्तु-तत्त्व का उपयोग करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में शोकादि भावों के लौकिक रूप का नहीं अपितु उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का महत्त्व होता है। कलात्मकता का संस्पूर्श लौकिक भावादि को व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त करके साधारणीकृत रूप में व्यक्त करता है। लौकिक शोकादि भावों का यह साधारणीकृत रूप स्वतः रसमय होता है। दार्शनिक भाषा में बात करें तो कहा जा सकता है कि लौकिक संसार में रजोगुण और तमोगुण की प्रभुता विघ्नकारी होती है, चित्त के लिए क्लेशप्रद होती है। काव्य में इसी रजोगुण और तमोगुण का शमन होता है और सत्त्वगुण की प्रतिष्ठा की जाती है। सत्त्वगुण के उद्रेक का अर्थ विविध प्रकार के भावों से युक्त व्यक्ति को व्यक्तिगत राग-द्वेषादि से मुक्ति दिलाना है। अभिव्यक्तिवादियों का यह चिन्तन अद्वैतवादी सिद्धान्त से प्रभावित है।

(घ) इस प्रश्न पर शारदातनय के विचार भी उल्लेख्य हैं। शारदातनय के मत से मनुष्य की आत्मा नित्य आनन्दमय होती है और यह संसार विभिन्न प्रकार के दुख-मोहादि से ग्रस्त होने के कारण भोग्य नहीं है। तथापि मनुष्य की आत्मा राग, विद्या और कला के माध्यम से इस दुखमय संसार का भोग करती है। राग, विद्या और कला—ये तीनों तत्त्व अपने-अपने ढंग से दुखमय संसार को भोग्य बना देते हैं। राग सुख का आधार होता है, विद्या राग के माध्यम से ही अज्ञान का नाश करती है और चैतन्य के ज्ञान के साथ साक्षात्कार कराती है तथा कला मानवीय आत्मा को प्रदीप्त करने वाला साधन होती है। सामाजिक अथवा सहृदय इसी माध्यम से रसास्वाद प्राप्त करता है। शारदातनय के मत से मानवीय आत्मा मूलतः आनन्दमयी है अतः उसके लिए करुण रस भी, अन्य रसों की भाँति आस्वाद्य बन जाता है। क्योंकि मानवीय आत्मा आनन्दमयी होती है, अतः उसके लिए सुख-दुख के भीतर कोई भेद नहीं रह पाता। उसकी प्रकृति आनन्दमयी होने के कारण वह करुण रस को भी आस्वाद्य बना लेती है। शारदातनय की यह धारणा वस्तुतः भारतीय दर्शन के आनन्दवाद से अनुप्राणित है।

शारदातनय के पश्चात् रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रस को सुखात्मक और दुखात्मक—दोनों प्रकार का माना है। उनके मतानुसार, "सुखदुखात्मक रसः" अर्थात् रस सुखात्मक और दुखात्मक दोनों प्रकार का होता है। इसी आधार पर उन्होंने परम्परागत रसों का विभाजन भी किया है। उनके मतानुसार—शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त—ये पाँच रस सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक—ये चार रस दुखात्मक हैं। इसी प्रसंग में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि जब करुण, रौद्रादि रस प्रकृति से दुःखमय हैं तो उनके प्रति सहृदय के मन में

आकर्षण क्यों रहता है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार करुण प्रसंगों आदि को देखकर अथवा पढ़कर सामाजिक को जो आनन्ददायिनी अनुभूति होती है उसका सम्पूर्ण श्रेय नटादि के अभिनय कौशल को है। नटादि अपने अभिनय कौशल का सफल प्रयोग करते हुए करुण प्रसंगों के अभिनय में इतना चमत्कार भर देते हैं कि बुद्धिमान पाठक, प्रेक्षकादि भी आनन्दित हो उठते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि "प्रेक्षक या श्रोता करुण रस में आनन्दानुभूति नहीं करता, वरन् उसकी अभिव्यंजना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कलानैपुण्य से चमत्कृत होता है। इस चमत्कार से ही करुण रस में आनन्द की भ्रान्ति अथवा आभास हो जाता है।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कलागत सौन्दर्य का संस्पर्श पाकर शोकपूर्ण और करुण प्रसंगों की अभिव्यक्ति एक प्रकार का चमत्कार बन जाती है। यह कलागत सौन्दर्य क्या है? कलागत सौन्दर्य का आशय मन की अनेकशः वृत्तियों के समन्वय से है। जो कवि अथवा अभिनेता मन की अन्तर्वृत्तियों के मध्य जितना गहरा और आदर्श समन्वय स्थापित कर सकेगा उसकी कला उतनी ही अधिक प्राणवान और समर्थ कहलायेगी। चित्तवृत्तियों के मध्य सामंजस्य की स्थापना करना ही वस्तुतः कला-सृजन कहलाता है। तथापि इस दृष्टि से रसास्वाद की समस्या का समाधान नहीं होता, यह तो केवल काव्य-सृजन की प्रक्रिया का समाधान हो सकता है। जहाँ तक सहृदय द्वारा रसास्वाद का प्रश्न है, वह भी चित्तवृत्तियों के मध्य एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित करने से सम्भव होता है। इस प्रकार मन की वृत्तियों का सामंजस्य केवल काव्य-सृजन करते हुए कवि के लिए ही नहीं अपितु काव्य का आनन्द लेते हुए पाठक के लिए भी अपेक्षित है।

करुण रस के आस्वाद के प्रश्न पर भारतीय काव्यशास्त्र में तो इतना नहीं, किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विस्तार से विचार हुआ है और इसका मूल कारण यह है कि करुण रस का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली त्रासदी पाश्चात्य साहित्य-जगत् की एक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय विधा रही है। अरस्तू के बहुचर्चित विरेचन सिद्धान्त में वस्तुतः इसी प्रश्न का समाधान खोजने का प्रयास किया गया है। अरस्तू एक वैद्य के पुत्र थे अतः उनका विरेचन सिद्धान्त भी चिकित्साशास्त्र पर आधारित है। अरस्तू के मतानुसार जिस प्रकार रेचक का सेवन करने से शरीर के भीतर विद्यमान अस्वास्थ्यकर पदार्थों का बहिष्कार हो जाता है और परिणामतः शरीर स्वस्थ और शुद्ध हो जाता है ठीक उसी प्रकार त्रासदी में शोक, त्रास आदि भावों का अतिरंजित वर्णन सामाजिक के अपने शोकादि भावों को उद्बुद्ध कर देता है और इस प्रकार त्रासदी से उत्तेजित होकर उसके भीतर के दुखात्मक करुण, त्रास आदि भाव सहज ही अभिव्यक्त हो जाते हैं और उनका निराकरण हो जाता है। मनुष्य के भीतर वासना रूप में स्थित कटु मनोविकारों से दो प्रकार से मुक्ति मिल सकती है—एक तो उनका शमन कर दिया जाये अथवा उन्हें अभिव्यक्ति दी जाये। त्रासदी में दूसरी विधि का पालन किया जाता है। त्रासदी में वर्णित दुखादि के अतिरंजित वर्णन से पाठक अथवा सामाजिक के अपने शोकादि भाव उत्तेजित हो जाते हैं और अन्ततः उसका भारीपन हल्का हो

जाता है, उसका दुखी चित्त सर्वथा निर्विकार और शान्त हो जाता है। मन की यही स्थिति मन का सच्चा सुख है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेख्य है कि विरेचन सिद्धान्त के माध्यम से अरस्तू मानव-मन की निर्विकार स्थिति की सुखमय कल्पना साकार कर देते हैं किन्तु काव्यानन्द का यह अभावात्मक रूप ही हो सकता है। चित्त की शान्ति ही काव्य का श्रेय नहीं हो सकती। पाठक अथवा प्रेक्षक त्रासदी केवल इसीलिए देखने नहीं जाते कि चित्त को शान्ति मिलेगी, अपितु वे चित्त की शान्ति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण काव्यानन्द की प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं। अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त के इस अभावात्मक रूप के प्रति पश्चिम के कई विद्वानों ने अपने-अपने ढंग मे आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। अँग्रेजी के महान् विचारक और लेखक श्री ल्यूकस ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "प्रेक्षक भावों के विरेचन के लिए नहीं वरन् भोग के लिए नाटक या काव्य की ओर साग्रह प्रवृत्त होता है क्योंकि प्रेक्षागृह आखिर कोई अस्पताल तो है नहीं।" इस प्रकार विरेचन सिद्धान्त करुण रस की आस्वाद्यता का समाधान प्रस्तुत तो करता है किन्तु उसमें रस की केवल अभावात्मक स्थिति की ही प्रतिष्ठा हो सकी है।

पाश्चात्य साहित्य जगत् में करुण रस की आस्वाद्यता को लेकर और भी कई विचारकों ने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। इस दृष्टि से रूसो, शापेनहावर, श्लेगेल आदि पश्चिमी विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रूसो के मत से मनुष्य को त्रासदी में भी एक विशिष्ट प्रकार का देवेषजन्य आनन्द मिलता है और इसका कारण यह है कि स्वपीड़न और परपीड़न मनुष्य की स्वाभाविक अन्त-र्वृत्तियाँ होती हैं। स्वपीड़न की मनोवृत्ति का परिचय तब मिलता है जबकि मनुष्य अपने आपको बहुविध यातनायें देकर भी सुखी अनुभव करता है। परपीड़न का आशय दूसरों द्वारा वहन की जाने वाली पीड़ाओं और यातनाओं से होता है। मनुष्य की यह सहज प्रकृति होती है कि वह दूसरों को दुखी देखकर भी आनन्दित हो जाता है। जिस प्रकार बालक को निरीह तितली के पंखों को छेदते समय एक प्रकार का सुखानुभव होता है ठीक उसी प्रकार त्रासदी के पात्रों को यातनायें झेलते हुए देखकर प्रेक्षक को भी एक प्रकार की आनन्दानुभूति होती है। तथापि इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि स्वस्थ मनःस्थिति वाले व्यक्ति के भीतर स्वपीड़न अथवा परपीड़न की चित्त-वृत्तियों का उदय नहीं होता। केवल मनोविकारग्रस्त अथवा अस्वस्थ मनःस्थिति वाले व्यक्ति को ही स्वपीड़न अथवा परपीड़न के भावों में रुचि रहती है। दूसरे शब्दों में, ये मनोवृत्तियाँ मानसिक अस्वास्थ्य की परिचायक हैं। कदाचित इसी कारण अनेक विचारकों ने यह माना है कि त्रासदी में प्रेक्षक को मानवीय सहानुभूति का सुख प्राप्त होता है। महान् दार्शनिक शापेनहावर ने त्रासदी से निःसृत होने वाले आनन्द के रहस्य की चर्चा करते हुए यह स्वीकार किया है कि त्रासदी में जीवन के त्रासपूर्ण

और दुखमय पक्ष को ही अधिक उभारा जाता है जिसके परिणामस्वरूप जीवन की व्यर्थता और निस्सारता सिद्ध हो जाती है और इसी चरम सत्य का उद्‌घाटन ही त्रासदी का मूल लक्ष्य है। इसी प्रसंग में श्लेगेल का विचार भी उल्लेखनीय है। श्लेगेल के अनुसार, त्रासदी में चित्रित कारुणिक प्रसंगों और दृश्यों को देखकर प्रेक्षक के मन में यह विश्वास जम जाता है कि इस लौकिक जीवन का सूत्रकार कोई दिव्य और अदृष्ट शक्ति है जिसकी तुलना में मनुष्य का सारा शौर्य एवं बल नितान्त अर्थ-हीन है। जब प्रेक्षक यह विश्वास कर लेता है कि इस पार्थिव संसार का संचालन कोई अदृश्य शक्ति कर रही है तो उसे स्वयं अपनी तुच्छता का आभास मिल जाता है और इस स्थिति के प्रत्यक्षतः दो लाभ होते हैं। एक तो प्रेक्षक के मन में अपने शौर्यादि का अहंकार जन्म नहीं लेने पाता और दूसरे दुख की कठिन घड़ियों में भी धैर्य बँधा रहता है। यही त्रासदी के आनन्द का मूल रहस्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रासदी से निःसृत होने वाले आनन्द को लेकर जो भी समाधान पश्चिमी विचारकों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं उनके मूल में दुःखवाद का स्वर ही सुनायी देता है। शापेनहावर, श्लेगेल आदि विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से दुःखवाद से ही त्रासदी के आनन्द का रहस्य खोजने का प्रयत्न किया है। रूसो की यह मान्यता है कि त्रासदी में एक प्रकार का द्वेषजन्य आनन्द प्राप्त होता है जिसका कारण मनुष्य के भीतर विद्यमान स्वपीड़न और परपीड़न की वृत्तियाँ हैं—अपने आप में सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। परपीड़न की वृत्ति मनुष्य की वर्बरता की परिचायक है जबकि सभ्यता के क्रोड में पला हुआ आज का सामान्य व्यक्ति वर्बर नहीं हो सकता और इसके अतिरिक्त कला अथवा कविता मनुष्य के उदात्त अंश को जाग्रत करने के लिए कृतसंकल्प होती है, उसकी बर्बरता को उत्तेजित करने के लिए नहीं। जहाँ तक स्वपीड़न के सिद्धान्त का प्रश्न है वह निश्चय ही मनोविकारग्रस्त तथा असाधारण मनःस्थिति वाले व्यक्ति के साथ जुड़ा हुआ है। सामान्य और स्वस्थ मनःस्थिति वाले व्यक्ति में स्वपीड़न की मनोवृत्ति हो ही नहीं सकती। जहाँ तक मानव-सहानुभूति जाग्रत करने के सिद्धान्त का प्रश्न है लौकिक जीवन के कारुणिक प्रसंगों एवं दृश्यों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त की व्यर्थता स्वतः सिद्ध है। लौकिक जीवन में कारुणिक दृश्यों को देखकर हमारे भीतर सहानुभूति तो उत्पन्न हो सकती है किन्तु क्या वह अनुभव अपने आप में प्रीतिकर अथवा सुखपूर्ण कहला सकता है? निस्सन्देह नहीं। किसी युवक की असामयिक मृत्यु हमारे अन्तर्मन को द्रवित कर सकती है, हमारे भीतर की संवेदनाओं को उद्‌बुद्ध कर सकती है, किन्तु ऐसी दुखद घटना की पुनरावृत्ति के लिए हम कभी भी लालायित तो क्या मानसिक तौर पर तैयार भी नहीं कर सकते। इसके विपरीत त्रासदी में चित्रित कारुणिक प्रसंगों के प्रति मानव मन में बराबर आकर्षण बना रहता है। अतः मानव सहानुभूति जाग्रत करने का सिद्धान्त भी त्रासदी के आनन्द का समाधान नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार शापेनहावर का सिद्धान्त भी दुःखवाद पर आधारित है और इस

दृष्टि से भारतीय बौद्ध धर्म के पर्याप्त समीप है। शापेनहावर की यह मान्यता है कि त्रासदी में जीवन का दुखमय अंश ही अधिक उभरता है जिसके कारण संसार की व्यर्थता का चरम सत्य उद्‌घाटित हो जाता है और यही त्रासदी का मूल उद्देश्य भी है। इस प्रकार शापेनहावर के अनुसार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य जीवन की निस्सारता के महान् सत्य का उद्‌घाटन करना है। बौद्ध धर्म की धुरी भी यही है कि—दुख ही जीवन का चरम सत्य है और इस सत्य की प्रतीति ही जीवन की परम सिद्धि है। इस प्रकार करुण रस की आस्वाद्यता के मूल में भारतीय दुःखवाद का सिद्धान्त ही है। भारतीय दुःखवाद का जन्म बौद्ध धर्म के साथ माना जाता है और इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि करुण रस जीवन का आद्य रस है।

करुण रस की आस्वाद्यता के प्रश्न पर कई विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक ढंग से भी विचार किया है। मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत की गयी विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ निस्सन्देह अधिक तर्कपूर्ण और व्यावहारिक है।

(क) इस सम्बन्ध में सबसे पहला सिद्धान्त यह है कि काव्य अथवा नाटक में करुण दृश्यों, प्रसंगों को देखकर हमें यह विश्वास हो जाता है कि इस दुखमय संसार में केवल हम ही दुखी नहीं हैं, और लोग भी हमारी ही तरह दुखी हैं। हमारा यह विश्वास एक ओर तो हमारे भीतर की निराशा और अतृप्ति का शमन करता है और दूसरी ओर हमारे व्यक्तित्व के उदात्त पक्ष को विकसित करता है। तथापि यह सिद्धान्त लौकिक व्यवहार में तो सिद्ध हो जाता है किन्तु काव्य अथवा नाटकादि में इसकी सिद्धि सम्भव नहीं होती। काव्य अथवा नाटक का परिशीलन करते समय तो हम अपने व्यक्तिगत राग द्वेषों से मुक्त होते है और तभी काव्य नाटकादि का आनन्द उठा सकते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य नाटकादि में वर्णित करुण दृश्यों के साथ अपने व्यक्तिगत दुखों की तुलना करने का न तो हमें अवकाश ही रहता है और न ऐसा करना ही सम्भव होता है। अतः यह मनोवैज्ञानिक समाधान लोक-व्यवहार में भले ही सिद्ध हो जाता हो, काव्य, नाटकादि में इसकी निस्सारता स्वतः स्पष्ट है।

(ख) दूसरा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि काव्य, नाटकादि में वर्णित करुण दृश्यों, प्रसंगों के परिशीलन से मनुष्य की आसुरी वृत्तियों का परितोष हो जाता है। रंगमच पर कठोर यातनाएँ सहते हुए पात्रों को देखकर हमारे भीतर का आसुरी अंश आनन्दित हो उठता है। यह समाधान भी लोक-व्यापार में ही खरा उतरता है क्योंकि सामान्य जीवन में मनुष्य प्रायः दूसरों को सुखी देखकर सुखी नहीं होता। दूसरों को अत्यधिक दुखी देखकर मनुष्य में प्रायः इर्ष्या का भाव उदय होता है और यही ईर्ष्या उसकी आसुरी वृत्ति की परिचायक होती है। जहाँ तक काव्य अथवा नाटक का प्रश्न है, उसका लक्ष्य मनुष्य की आसुरी वृत्ति का परितोष करना कभी भी नहीं हो सकता। अन्यथा भी काव्य, नाटकादि में यातनाएँ सहती हुई, विलाप करती

हुई किसी दुखी विधवा के अपार दुख को देखकर कोई भी व्यक्ति आनन्दित नहीं हो सकता। इस प्रकार यह मनोवैज्ञानिक समाधान अनुभव के आधार पर खरा नहीं उतरता। बनवास के लिए जाते हुए राम के दुख से दुखी राजा दशरथ की पीड़ा निश्चित रूप से हमारे आनन्द का कारण नहीं हो सकती, अपितु उन्हें देखकर हमारा हृदय द्रवित ही होगा।

(ग) तीसरा मनोवैज्ञानिक समाधान यह प्रस्तुत किया जाता है कि करुण दृश्यों, प्रसंगों को देखकर हमारे भीतर दया, ममता आदि के भावों का उदय होता है और हम सच्चे अर्थों में मानव बन जाते हैं। दूसरों के दुख से दुखी होना मानवता की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। नाटकादि में वर्णित करुण दृश्यों आदि को देखकर हम भी दुखी हो उठते हैं और हमारे भीतर की मानव संवेद्यता तथा सहानुभूति सजग हो उठती है। यह स्थिति भी अनुभव-विरुद्ध है। लोक-व्यवहार में किसी दुखी जन के दुख को देखकर हमारी ममता उमड़ आती है किन्तु हम उसके दुख की पुनरावृत्ति से सुखद नहीं हो पाते; जहाँ तक काव्य, नाटकादि का प्रश्न है वहाँ भी यह मान्यता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि कला का लक्ष्य तो मनुष्य के भीतर की ममता को जाग्रत करना है। तथापि कला के माध्यम से वर्णित करुण दृश्यों के प्रति हमारे भीतर आकर्षण बना रहता है। लोक-व्यवहार में जिन कटु प्रसंगों से हम बचना चाहते है, नाटकादि में उन्हीं प्रसंगों के परिशीलन से हम आनन्दित हो उठते हैं। इस प्रश्न का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है अतः यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी करुण रस की आस्वाद्यता का कोई समुचित उत्तर नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से करुण रस की आस्वाद्यता कोई सर्वथा मान्य अथवा अकाट्य समाधान प्रस्तुत नहीं होता है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इस समस्या का समाधान खोजने का प्रयास किया है, किन्तु कोई भी मान्य समाधान प्रस्तुत नहीं हो पाया है। इसी प्रसंग में एक अन्य समाधान भी उल्लेखनीय है जिसके अनुसार करुण रस में दुख की छाया तो अवश्य रहती है किन्तु वह दुख व्यक्तगत राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होता है। अतः वह आस्वाद्य होता है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "हमारा मत है कि करुण रसानुभूति में दुख की छाया तो रहती है पर यह दुख राग, द्वेष, भय और व्यक्तिगत स्वार्थ सम्बधों से असम्पृक्त, उदात्त एवं स्पृहणीय होता है—ऐसा दुख जिसे हम चाह कर अपनाते हैं। अतः वे आँसू तो शोक के ही होते हैं पर उदात्त स्पृहणीय भावना से सम्बद्ध होने के कारण वह शोक और उसके आँसू भी ग्राह्य होते हैं—हम बार-बार उसी तरह रोना चाहते हैं। 'चित्त की द्रुति' सहानुभूति आदि उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण हृदयावस्था की द्योतक होती है अर्थात् हमारा हृदय उदात्त, स्पृहणीय, परिष्कृत भावों से भर जाता है। हमारी चेतना निर्मल और उदात्त हो जाती है। अतः हम अपनी आत्मा का आनन्द अनुभव करते हैं, यह दुख हमारी आत्मा को तोष प्रदान करता है।" उदाहरण के लिए, किसी निरीह, कंकालवत् भिक्षुक को दो पैसे देकर हमें कितना तोष होता है। इसी प्रकार

घर आए अतिथि के लिए स्वयं कष्ट सहकर भी भोजनादि जुटाना, और स्वयं अपना भोजन उसे दे देने में एक अपरिमित सुख उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति में यद्यपि हमें तो भूखा पेट रहने के कारण किंचित कष्ट हो सकता है किन्तु दो दिन से भूखे जर्जर भिखारी को अपना खाना खिलाकर जो आत्मिक तोष हमें मिलता है, वह उस 'किंचित कष्ट' से निश्चित रूप से अधिक स्पृहणीय होता है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उल्लेख्य है। स्वयं भूखे रहने से जो हमें कष्ट होता है, वह कष्ट उस व्यक्ति को नहीं होता जिसे हमने अपना भोजन सहर्ष दिया है। करुण रस की आस्वाद्यता का रहस्य भी यही है। रंगमंच पर यातनाएँ सहते हुए पात्रों को देखकर हमें दुख नहीं होता, अपितु हमारे व्यक्तित्व का उदात्त पक्ष उभर उठता है और फिर वह दुखानुभूति भी ग्राह्य और सर्वथा स्पृहणीय बन जाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि करुण रस की आस्वाद्यता को लेकर प्रस्तुत किए गए नानाविध समाधान केवल आंशिक सत्य ही लिये हुए हैं। कोई भी समाधान अपने आप में सर्वथा पूर्ण मान्य और निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता। तथापि करुण रस की आस्वाद्यता के प्रश्न पर प्रस्तुत किये गये विविध समाधानों का आश्रय लेकर एक समेक्षित समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि काव्य में वर्णित शोकादि वास्तविक नहीं होते, अपितु कल्पना के रंग में रंगे होते हैं, अतः स्वभावतः वे इतने कष्टकर नहीं होते जितने कि वास्तविक सुखद अनुभव होते हैं। इस प्रकार कल्पना के संस्पर्श से लौकिक दुखादि के वंश का निराकरण हो जाता है और दुख सुख में परिणत हो जाता है। दूसरी बात यह है कि काव्य नाटकादि में वर्णित दुखादि व्यक्तिगत सुख-दुखात्मक अनुभूतियों से मुक्त होते हैं। काव्य की परिधि में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् लौकिक शोकादि साधारणीकृत रूप में होते हैं, स्व और पर के सम्बन्धों का परिहार हो जाता है। परिणामतः मनुष्य (सहृदय) की चेतना विशद बन जाती है जो कि अपने आप में एवं प्रीतिकर अनुभूति होती है। इस प्रसंग में तीसरी महत्त्वपूर्ण बात का सम्बन्ध करुण दृश्यों, प्रसंगों आदि से सम्बद्ध व्यक्तियों की महत्ता के साथ होता है। काव्य, नाटकादि में प्रायः इतिहास प्रसिद्ध और महान् व्यक्तियों को लेकर करुण दृश्यों की योजना प्रस्तुत की जाती है। अतः स्वभावतः शोकादि के भाव भी व्यक्तित्व की महत्ता से महिमान्वित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सहृदय के समक्ष दुख, शोकादि की क्षुद्रता सिद्ध हो जाती है और उसके व्यक्तित्व का उदात्त और महान् पक्ष उभर उठता है। यही जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "इस प्रकार के प्रसंग (करुण) जीवन के गम्भीर पक्ष को सामने रखते हैं। इनसे सहृदय गहनतर जीवन-तथ्यों के साक्षात्कार का अवसर प्राप्त करते हैं और सत्य का साक्षात्कार निश्चय ही एक उपलब्धि है जिससे आत्मा का उत्कर्ष होता है। इस प्रकार करुण प्रसंगो से गम्भीर जीवन-रस की सिद्धि होती है।" इस सम्बन्ध में चौथा महत्त्वपूर्ण तथ्य कला

के उद्देश्य से सम्बन्धित है। कला का लक्ष्य जीवन के बिखरे हुए वैविध्य में अन्विति और सामंजस्य स्थापित करना है। नाटक, काव्य आदि भी कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। कवि अथवा नाटककार कला के संस्पर्श से जीवन में एक अन्विति स्थापित करता है जिसके परिणामस्वरूप विरूप भी रूप में परिणत हो जाता है। कला का मूलाधार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति होती है जिसके कारण भेद में अभेदत्व की प्रतिष्ठा होती है। यह स्थिति निस्सन्देह एक सुखकर स्थिति होती है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं कि "अनुभूति के आधार हैं संवेदन और अनुभूति में एक पृथक् संवेदन नहीं होता, संवेदना का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति प्रीतिकर होती है और जब ये विशृंखल तथा विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्बरूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा 'भावित' होते हैं। इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में अपने आधारभूत संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।"

8

काव्य-गुण विवेचन

'गुण' शब्द का प्रयोग केवल काव्यशास्त्र में ही नहीं, जीवन के बहुविध क्षेत्रों, शास्त्रों आदि में होता रहा है। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में भी गुण शब्द का प्रयोग किया गया है। जीवन के सामान्य व्यवहार में भी गुण का प्रयोग होता रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गुण एक ऐसा सामान्य तत्त्व है जिसका प्रयोग जीवन के विविध क्षेत्रों में किया जाता है। साहित्य भी जीवन से जुड़ा होता है अतः साहित्य में भी गुणों के स्वरूप, उसकी महत्ता, आदि का विवेचन होता रहा है। साहित्य के क्षेत्र में गुणों के स्वरूप को लेकर विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ सामने आयी हैं जिनका विश्लेषण अपेक्षित है। कतिपय विद्वान् गुणों को रीति के अन्तर्गत मानते रहे हैं और कुछ विद्वान् गुणों और अलंकारों में पूर्ण अभेदत्व की स्थिति मानते आये हैं। इसके विपरीत, विद्वानों का एक वर्ग गुणों और अलंकारों की पृथक्-पृथक् सत्ताएँ मानता है और कुछ विद्वान् उसे शब्दार्थ का ही धर्म मान लेते हैं। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में गुणों के स्वरूप, उसकी महत्ता आदि को लेकर विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में गुणों का विधिवत विश्लेषण वामन और आनन्दवर्द्धन ने ही किया है किन्तु अन्य काव्यशास्त्रियों ने भी किसी-न-किसी रूप में गुण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम भरतमुनि का नाम उल्लेख्य है जिन्होंने काव्य-दोषों का वर्णन करते हुए गुणों का भी उल्लेख किया है। भरतमुनि के अनुसार काव्य-दोषों का विपर्यास ही गुण है—

'एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिः नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ताः, गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।'

इस प्रकार भरतमुनि के मतानुसार काव्य में जो कार्य काव्य-दोष करते हैं, गुण उनका विपरीत कार्य करते हैं अर्थात् जहाँ काव्य-दोष काव्य का अहित करते है वहाँ गुणों से काव्य की शोभा की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार यद्यपि भरतमुनि ने गुणों की कोई विधिवत् परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है, तथापि उनका उपर्युक्त विवेचन गुणों के स्वरूप को समझने में निश्चय ही सहायक सिद्ध होगा।

भरतमुनि के पश्चात् भामह ने गुण शब्द का प्रयोग किया है किन्तु वह प्रयोग केवल भाविक के प्रसंग में ही किया गया है। भामह ने भाविक का विवेचन एक अलंकार के रूप में किया किन्तु अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप में उसे अलंकार भी सिद्ध नहीं किया है। इसी भाविक के प्रसंग में भामह ने गुण शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का उल्लेख तो किया है किन्तु उन्हें गुण भी नहीं माना है। वस्तु स्थिति यह है कि उस समय के काव्यशास्त्रियों की प्रवृत्ति प्राय; विवेचनापरक थी अतः परिभाषाएँ प्रस्तुत करने की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता था। स्वभावतः भामह ने गुण की कोई परिभाषा प्रस्तुत नहीं की। उनके मतानुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद—यही तीन गुण होते हैं और इन तीनों गुणों का आधार समास होता है।

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने दस काव्य-गुणों का वर्णन किया है। तथापि दण्डी ने भी भामह आदि की भाँति गुणों की कोई स्पष्ट और स्वतन्त्र परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। तथापि उनके गुण सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मत से गुण के सामान्य लक्षण क्या होते हैं। दण्डी के शब्दों में—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।
काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणममलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते।'

अर्थात् काव्य के शोभा-विधायक सभी धर्म अलंकार होते हैं जिनकी संख्या बराबर बढ़ती रहती है, यहाँ तक कि वे असंख्य भी हो सकते हैं। इससे पहले भी मार्गों का विभाजन करने के उद्देश्य से कुछ अलंकारों का वर्णन किया गया है और अब साधारण अलंकारों का वर्णन किया जाता है। दण्डी के अनुसार इन साधारण अलंकारों की श्रेणी में उपमा, रूपक आदि अलंकारों की गणना की जा सकती है। इन साधारण अलंकारों के अतिरिक्त भी जो अन्य तत्त्व काव्य की शोभा की अभिवृद्धि करते हैं वे भी अलंकार कहलाते हैं। दण्डी के इस विवेचन के आधार पर दो महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरते हैं—एक तो यह कि दण्डी के मत से गुण भी एक प्रकार के अलंकार होते हैं जो कि अलंकारों की भाँति ही काव्य की शोभा का विधान करते हैं। दूसरा यह कि ये गुण अपनी पृथक् सत्ता रखते हुए काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "गुणों को भी अलंकारों के अन्तर्गत रखने के कारण कहा जा सकता है कि इनकी अलंकार की परिभाषा ही गुण की भी परिभाषा है। दण्डी के मत में 'काव्यशोभाकारक' धर्मों को अलंकार कहा जा सकता है।

अतएव कहना न होगा कि दण्डी के मत में गुण की परिभाषा है "काव्यशोभाकारक धर्म' और यही परिभाषा अलंकार की भी है। ये दोनों दण्डी के मत में एक हैं, केवल प्रकार का अन्तर है।"

दण्डी के पश्चात् आचार्य वामन ने पहली बार गुण का स्वरूप विवेचन किया। वामन के शब्दों में, "काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं। शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं। वे हैं ओज, प्रसादादि—यमक, उपमादि नहीं क्योंकि यमक, उपमादि अलंकार अकेले काव्य-शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते। इसके विपरीत ओज, प्रसादादि अकेले ही काव्य की शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं। × × गुण नित्य हैं—उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।" वामन के गुण सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वामन के अनुसार गुण शब्द तथा अर्थ का धर्म होता है और काव्य की शोभा का विधान करने वाला मूल तत्त्व होता है। काव्य की शोभा-सम्पन्न करने वाला गुण काव्य का प्राण-तत्त्व होता है। गुणों के रहते हुए ही कोई भी काव्य सच्चे अर्थों में काव्य कहलाने का पात्र होता है। वामन यह भी मानते हैं कि काव्य में गुणों की सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता होती है, वे किसी भी अन्य तत्त्व पर आश्रित नहीं होते। इस दृष्टि से वामन और दण्डी में मतैक्य है।

वामन के पश्चात् गुण विवेचन की दृष्टि से ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का नाम उल्लेखनीय है। ध्वनिकार ने भी वामन की भाँति गुण का स्वतन्त्र विवेचन किया है। गुणों की रसधर्मता सिद्ध करते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा स्मृताः" अर्थात् उस अंगी अर्थ अर्थात् रस का आलम्बन करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन गुण की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते और उसे रस पर आश्रित मानते हैं। अपनी इस मान्यता की पुष्टि में आनन्दवर्द्धन ने प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार माधुर्य-गुण का वास्तविक सौन्दर्य शृंगार रस में ही दीखता है और उसी प्रकार ओजगुण की शोभा रौद्र रस की परिचायक शब्द-योजना में देखी जा सकती है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन के अनुसार गुण, काव्य अर्थात् शब्दार्थ का धर्म होते हैं।

आनन्दवर्द्धन के पश्चात् आचार्य मम्मट और विश्वनाथ आदि विद्वानों ने भी गुण के स्वरूप का विवेचन किया है, किन्तु ये तीनों ही काव्यशास्त्रीय ध्वनिकार के एतद्विषयक विवेचन से प्रभावित थे। मम्मट के अनुसार—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हे तवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।'

अर्थात् जिस प्रकार शौर्यादि मानव-आत्मा के गुण होते हैं, उसी प्रकार माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि तीनों गुण भी काव्यरस के धर्म होते हैं। रस अंगी होता है और गुण उसके अंग-रूप होते हैं। ये गुण रसोत्कर्ष के हेतु होते हैं और काव्य में इनकी स्थिति अचल होती है, अर्थात् रसविहीन काव्य में गुणों का भी अभाव होगा। इस प्रकार मम्मट के अनुसार काव्यगुण की परिभाषा इस प्रकार होगी, "जो रस के धर्म होने के कारण उसके साथ अचल भाव से रहते हैं और उसका उत्कर्ष करते हैं, वे गुण

कहाते हैं।" मम्मट के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने भी गुण का स्वरूप-विवेचन करते हुए मम्मट का ही अनुकरण किया है। इस दृष्टि से मम्मट और विश्वनाथ का चिन्तन प्रकारान्तर से प्रायः एक-सा ही है।

पंडितराज जगन्नाथ ने मम्मट और विश्वनाथ की परम्परा से तनिक हटकर गुण के रसधर्मत्व पर आपत्ति प्रकट की है। उनके विचार से गुण काव्य-रस का धर्म नहीं हो सकता और इस सम्बन्ध में उनका सबसे प्रबल तर्क यह है कि जब रस को काव्य की आत्मा माना गया है तो रस आत्मा ही की भाँति गुण और धर्मविहीन होगा। आत्मा का कोई भी गुण अथवा धर्म नहीं होता, अतः रस का भी न तो कोई गुण होता है न कोई धर्म, इस प्रकार पंडितराज के अनुसार गुण रस का नहीं, शब्दार्थ का धर्म होता है। इसी सम्बन्ध में पंडितराज ने ध्वनिवादियों द्वारा प्रवर्तित रसधर्मता का भी खण्डन किया है। उनका कहना है कि जब ध्वनिवादी आचार्य यह मानते हैं कि माधुर्यादि गुण रस-धर्म होते हैं तो उनके इस कथन की सत्यता कैसे सिद्ध हो सकती है। लौकिक व्यवहार में हम देखते हैं कि धर्म और कार्य दो भिन्न अवधारणाएँ होती हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। अग्नि का कार्य तो जलाना है किन्तु उसकी उष्णता उसका धर्म है, कार्य नहीं। जलाने और उष्ण-स्पर्श की प्रतीति पृथक् रूप में होती है किन्तु काव्य के क्षेत्र में धर्म और कार्य की ऐसी पृथक् प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार गुण को रस का धर्म कैसे माना जा सकता है। पंडितराज यह भी नहीं मानते कि गुणविशिष्ट रस चित्तवृत्ति आदि में कारण-रूप हो सकते हैं। उनके मतानुसार जब चित्तवृत्ति के कारण स्वयं रस ही हो सकते हैं तो गुण विशेष रसों की कल्पना का कोई औचित्य नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए, शृंगार रस अपने आप में चित्त को द्रवित करने में समर्थ होता है तो यह कहना कहाँ तक तर्कसंगत हो सकता है कि "माधुर्यगुणादि से युक्त शृंगार रस चित्त को द्रवित करता है।" पंडितराज जगन्नाथ की इस मान्यता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् एक स्वाभाविक शंका यह उठती है कि यदि गुण रस-धर्म नहीं होते तो शृंगार मधुर है और रौद्र ओजपूर्ण है—इस प्रकार के प्रयोग क्यों किये जाते हैं। इस शंका का समाधान करते हुए पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं कि ऐसे प्रयोग औपचारिकतावश किये जाते हैं। वस्तुतः जब यह कहा जाता है कि शृंगार मधुर है तो उसका आशय यही है कि तत्सम्बन्धी काव्य-रचना के परिशीलन से पाठक के मन पर मधुर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए असगन्ध उष्ण मानी जाती है किन्तु वह वस्तुतः उष्ण होती नहीं है, उसके प्रयोक्ता को अवश्य ही उसके उष्ण प्रभाव का अनुभव होता है किन्तु उसके स्पर्श से उष्णता प्रकट नहीं होती। ठीक यही स्थिति 'शृंगार मधुर है' आदि कथनों की होती है। इस प्रकार पंडितराज के अनुसार इस प्रकार के प्रयोग केवल औपचारिक प्रयोग ही कहे जा सकते हैं। पंडितराज जगन्नाथ के मत का सार इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "द्रुत इत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकता को गुण कहा जाता है। आशय यह है कि गुण एक ऐसी शक्ति है जो चित्त को प्रभावित करके उसे द्रुत, विस्तृत

या विकसित कर देता है।" प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रयोजकता शब्द भी व्याख्यासापेक्ष है क्योंकि यहाँ प्रयुक्त प्रयोजकता सामान्य प्रयोजकता से निश्चय ही भिन्न अर्थ लिये हुए है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रयोजकता का आशय शब्द, अर्थ, रस आदि विशेष प्रकार की प्रयोजकता से है।

गुण के स्वरूप सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुण काव्य के शोभाकारक धर्म हैं—इस सम्बन्ध में सभी विद्वानों में प्रायः पूर्ण मतैक्य है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वामन आदि आचार्यों ने तो गुण को शब्दार्थ का धर्म माना है और इस प्रकार गुण की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है और इसके विपरीत उत्तर-ध्वनि युग के आचार्यों ने गुण को रस का धर्म माना है। उत्तर-ध्वनियुग के आचार्यों के मतानुसार गुणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती अपितु वे रस के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष कर पाते हैं। मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने इसी मान्यता की परिभाषा में बाँध दिया और इस प्रकार ध्वनिवादी युग के पश्चात् यही परिभाषा सर्वमान्य हो गयी। रस के साथ गुण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया। यह स्थिति भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं रह सकी और पंडितराज जगन्नाथ ने पुनः गुण को शब्दार्थ का अर्थ सिद्ध किया। इस प्रकार "मूलतः रस के साथ सम्बद्ध होते हुए भी गुण शब्दार्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है, उन्हें रस के धर्म तो मानना ही चाहिए परन्तु साथ ही शब्दार्थ के धर्म मानने में भी आपत्ति नहीं करनी चाहिए। शौर्यादि की उपमा भी इसी मन्तव्य को ही पुष्ट करती है क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि वे मूलतः आत्मा के अन्तरंग व्यतित्व के धर्म हैं—परन्तु बाह्य व्यक्तित्व से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो, यह भी नहीं माना जा सकता। मधुर व्यक्तित्व तथा ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए आत्मा के ही माधुर्य अथवा ओज की अपेक्षा नहीं होती, आकृति के माधुर्य और तेज की भी आवश्यकता रहती है—केवल औपचारिक कहकर उसको टाल देना पर्याप्त नहीं है। अतः गुण उन तत्त्वों को कहते हैं जो विशेष रूप से प्राणभूत रस के और गौण रूप से शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते हैं अथवा गुण काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्त्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य-धर्म हैं।"

गौण और अलंकार में भेद—भारतीय काव्यशास्त्र में गुण और अलंकार के प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में भट्टोद्भट, दण्डी और वामन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भट्टोद्भट के अनुसार लोक-व्यवहार में गुण और अलंकार दो पूर्णतः पृथक् अवधारणाएँ हैं। हारादि अलंकार शरीर पर धारण किये जाते हैं और इस प्रकार आत्मोत्कर्ष के साधक होते हैं जबकि शौर्यादि गुणों का सीधा सम्बन्ध आत्मा के साथ होता है। गुण और आत्मा का सम्बन्ध नित्य होता है। जहाँ तक काव्य की स्थिति का प्रश्न है, उसमें गुण और अलंकारों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। काव्य में गुण और अलंकार इतने समवाय रूप में उप-

स्थित रहते हैं कि उनकी पृथक सत्ता ही नहीं रह पाती। भट्टोद्भट की भाँति ही दण्डी भी गुण को अलंकार मानते हैं। तथापि दण्डी ने गुण और अलंकारों की पृथक् सत्ता भी स्वीकार की है और यह माना है कि गुण मार्गों के भेदक-रूप होते हैं अर्थात् विशिष्ट मार्ग में उनकी विशिष्ट स्थिति रहती है, जबकि अलंकारों की स्थिति सभी मार्गों में प्रायः एक-सी रहती है। दण्डी के पश्चात् वामन ने सबसे पहले गुण और अलंकार के मध्य स्पष्ट विभाजन रेखा खींची है। वामन ने गुण और अलंकार की पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए पहली बार इस भ्रान्तिपूर्ण स्थिति का निराकरण किया है। वामन के मत से :

'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।

अर्थात् काव्य की शोभा के कारक अर्थात् विधायक धर्म-गुण होते हैं और—

—तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः'

अर्थात् काव्य की शोभा के अतिशय हेतु अर्थात् वृद्धिकारक धर्म अलंकार होते हैं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए वामन कहते हैं कि अकेले अलंकार काव्य में शोभा उत्पन्न नहीं कर सकते, वे तो केवल काव्य-शोभा की अभिवृद्धि कर सकते हैं। दूसरी ओर माधुर्यादि गुण काव्य-शोभा के विधायक धर्म होते हैं अर्थात् इन्हीं गुणों से काव्य में शोभा उत्पन्न हो पाती है। दूसरे शब्दों में, गुणों के अभाव में काव्य का काव्यत्व भी सुरक्षित नहीं है। काव्य तभी तक काव्य कहलाने का अधिकारी है जब तक उसमें माधुर्यादि गुणों की स्थिति रहती है। इस प्रसंग में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वामन कहते हैं कि कोमलता, सुन्दरता आदि गुणों से युक्त युवती में सहज आकर्षण बना रहता है किन्तु अलंकार धारण करने पर वह आकर्षण बढ़ जाता है। ऐसी युवती के गुण उसकी आत्मा के अन्तरंग गुण हैं और उसकी वास्तविक शोभा इन्हीं गुणों के कारण है। इन गुणों के अभाव में बहुमूल्य अलंकार भी उसमें सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। अतः गुणों की स्थिति नित्य-रूप होती है। इसी तरह यदि काव्य की वापी माधुर्यादि गुणों से रहित है तो अलंकारों के प्रयोग से उसकी स्थिति वैसी ही हो जायगी जैसी कि किसी कुरूप और यौवन-विहीना नारी द्वारा अनेक प्रकार के आभूषण धारण करके होती है। वामन के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुण और अलंकार में साम्य के साथ-साथ वैषम्य भी है अर्थात् कुछ प्रसंगों में गुण और अलंकार एक-सा कार्य करते हैं और अन्य प्रसंगों के गुण और अलंकार की स्थिति में भेद रहता है। जहाँ तक साम्य-भाव का सम्बन्ध है, दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि गुण और अलंकार दोनों ही शब्द के धर्म होते हैं और दूसरी यह कि दोनों का लक्ष्य काव्य शोभा का उत्कर्ष करना है। जहाँ तक गुण और अलंकार के वैषम्यभाव का सम्बन्ध है, यह उल्लेखनीय है कि गुण शब्द-अर्थ के नित्य धर्म होते हैं जबकि अलंकार अनित्य धर्म होते हैं। दूसरी बात यह है कि गुण काव्य-शोभा का सृजन करते हैं जबकि अलंकार उस शोभा की अभिवृद्धि करते हैं। तीसरी बात यह है कि गुण के अभाव में

काव्य का सौन्दर्य नहीं हो सकता जबकि अलंकारों के अभाव में काव्य-सौन्दर्य बना रह सकता है किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जबकि काव्य में गुणों का सद्भाव अवश्य हो। चौथी और अन्तिम बात यह है कि गुणों के अभाव में अलंकारों के प्रयोग से काव्य-सौन्दर्य की श्रीवृद्धि नहीं हो सकती अपितु अपकर्ष ही होता है।

वामन के पश्चात् ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने भी गुण और अलंकार के मध्य तात्त्विक भेद स्वीकार किया है। किन्तु उन्होंने वामन की मान्यताओं को यथावत् रूप में स्वीकार नहीं किया। आनन्दवर्द्धन के अनुसार, जो उस प्रधानभूत (रस) अंगों के आश्रित रहने वाले (माधुर्यादि) हैं, उनको गुण कहते हैं और जो (उसके) अंग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं।" अर्थात् वामन और आनन्दवर्द्धन के अभिमतों मे एकमात्र अन्तर यह है कि वामन गुण और अलंकार दोनों को ही शब्द-अर्थ का धर्म मानते हैं जबकि आनन्दवर्द्धन गुण को प्राण रूप रस का धर्म मानते हैं और अलंकारों को शरीरभूत शब्द-अर्थ का धर्म मानते हैं। दूसरे शब्दों में, आनन्दवर्द्धन गुणों का सम्बन्ध काव्य के प्राण-तत्त्व अर्थात् रस के साथ और अलंकारों का सम्बन्ध काव्य के शरीर-तत्त्व के साथ मानते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार, गुण, काव्य के अंगभूत रस के उत्कर्ष विधायक हैं और उनकी स्थिति शौर्यादि जैसे आत्मा के अचल धर्म जैसी होती है अर्थात् जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के अन्तरंग गुण होते हैं उसी प्रकार माधुर्यादि गुण भी अंगभूत-रस के उत्कर्षवर्द्धक अचल-स्थिति धर्म होते हैं। जहाँ तक काव्य में अलंकारों की स्थिति का सम्बन्ध है, वे काव्य के अनिवार्य तत्त्व नहीं होते। दूसरे शब्दों में, अलंकारों के अभाव में तो काव्य की स्थिति सम्भव हो सकती है किन्तु माधुर्यादि गुणों के अभाव में काव्य की स्थिति ही सम्भव नहीं हो सकती। मम्मट के शब्दों में, सगुणा-वनलंकृती पुनः क्वापि—अर्थात् काव्य का सगुण होना आवश्यक है, अलंकृति कभी नहीं हो पाती। मम्मट के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने तो अलंकार की परिभाषा में ही अलंकार की परिहार्यता स्वीकार कर ली। विश्वनाथ के शब्दों में, "शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः" अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ की शोभा में अभिवृद्धि करने वाले अस्थिर धर्म होते हैं। इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं होती जबकि गुणों के अभाव में काव्य, काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता। इन रस-ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं का सार इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—गुण काव्य के प्राण-तत्त्व रस के धर्म होते हैं और अलंकार काव्य के शब्द-अर्थ के धर्म होते हैं। अतः स्वभावतः गुण काव्य के अन्तरंग तत्त्व होते हैं और अलंकार काव्य के केवल बहिरंग तत्त्व होते हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि रसानुभूति में गुणों का प्रत्यक्ष योगदान रहता है जबकि अलंकारादि केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही रसानुभूति में योग देते है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गुण काव्य के नित्य धर्म होते हैं जबकि अलंकार अनित्य धर्म होते हैं। दो शब्दों में यही कहा जा सकता है कि गुण मूलतः काव्य के आन्तरिक तत्त्व हैं और अलंकार बाह्य।"

गुणों का आधार—गुणों के आधार के प्रश्न पर भी भारतीय काव्यशास्त्र में पर्याप्त चिन्तन हुआ है। दण्डी और वामनादि ध्वनि-पूर्व आचार्यों ने गुणों में शब्द-अर्थ की समस्त विशेषताओं के दर्शन किये अर्थात् उन्होंने गुणों को एक अत्यन्त व्यापक आधार प्रदान किया। इस व्यापक आधार में रस तत्त्व के अतिरिक्त कला-सौन्दर्य, वस्तु-सौन्दर्यादि भी सन्निविष्ट थे। इसके पश्चात् कुन्तक ने कई नये गुणों का विधान किया किन्तु उन्होंने भी गुणों का एक व्यापक आधार प्रस्तुत किया। कुन्तक के पश्चात् रुद्रक ने गुणों का आधार समास को स्वीकार किया है। रुद्रट ने काव्यरीतियों का विवेचन करते हुए उन्हें गुणों पर आधारित माना है और गुणों का आधार समास को माना है। इसके पश्चात् ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने गुण को रसधर्म मान लिया और इस प्रकार गुण का आधार भी सूक्ष्मतर हो गया। आनन्दवर्द्धन के मत से गुण का आधार शब्द और अर्थ का चमत्कार न होकर केवल 'चित्तवृत्ति' रह गया और इस प्रकार गुण का विस्तृत आधार सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया। गुण को 'चित्तवृत्ति' मानने वाले विद्वानों में अभिनवगुप्त, मम्मट, आचार्य विश्वनाथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रसध्वनिवादी आचार्यों के मत से गुण का आधार रस ही है, तथापि व्यंजक रूप में समास, रचना आदि भी गुण के आधार हो सकते हैं। इस प्रकार निष्कर्वतः कहा जा सकता है कि "अतएव गुण अपने सूक्ष्म रूप में चित्तवृत्त रूप हैं और स्थूल अथवा मूर्त्त रूप में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-घटना रूप हैं, द्रुति, दीप्ति, व्यापकत्व नामक चित्तवृत्ति उसका आंतरिक आधार तत्त्व हैं तथा वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ बाह्य।"

✓ **गुणों का मनोवैज्ञानिक आधार**—गुण के स्वरूप-निर्धारण से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से गुण के सामान्य लक्षण तो स्पष्ट हो जाते हैं फिर भी उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण नहीं होता। निस्सन्देह गुणों के मनोवैज्ञानिक आधार के विश्लेषण के गुण का स्वरूप समझने में निश्चित सहायता मिलेगी। इस प्रसंग में आनन्दवर्द्धन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने गुण के मनोवैज्ञानिक आधार के विश्लेषण में सर्वप्रथम मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। आनन्दवर्द्धन ने सीधे-सादे शब्दों में रस के आश्रय से गुणों का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया। उनके मत से शृंगार, रौद्रादि रसों से सहृदय का चित्त आह्लादित हो जाता है और इस आह्लाद का एकमात्र कारण यही होता है कि उसमें माधुर्यादि गुणों की अवस्थिति होती है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि माधुर्यादि गुणों और चित्त के आह्लादित अथवा दीप्त होने के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन ने कुछ नहीं कहा है। अभिनवगुप्त ने इस शंका का यथोचित समाधान प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त के मतानुसार गुण वस्तुतः चित्त की वृत्ति का ही दूसरा नाम है। माधुर्यादि गुण वस्तुतः चित्त की अवस्थाओं के ही परिचायक हैं। इस सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि माधुर्य गुण चित्त की द्रवित अवस्था का, ओजगुण चित्त की दीप्तावस्था का और प्रसाद गुण चित्त की व्यापकता

का परिचायक होता है। अभिनवगुप्त ने रस और गुण के मध्य कारण-कार्य का सम्बन्ध माना है। उसके मतानुसार रस रूपी कारण गुण रूपी कार्य सम्पन्न होता है। अभिनवगुप्त की इस मान्यता को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है—श्रृंगार रस की अनुभूति से चित्त में जो आर्द्रता उत्पन्न होती है वही तो माधुर्यगुण है, उसी प्रकार वीररस की अनुभूति से चित्त में जिस दीप्ति का संचार होता है, वही तो ओज-गुण होता है। इसी प्रकार सर्वरसों की अनुभूति से हृदय में जो व्यापकता उत्पन्न होती है, वही वस्तुतः प्रसाद गुण होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस और गुण के मध्य कारण-कार्य सम्बन्ध सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया है। इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि लौकिक व्यवहार में कारण और कार्य की जो जो पृथक् सत्ताएँ दीखती हैं, रसानुभूति में कारण और कार्य का वैसा ही पार्थक्य क्यों नहीं दीखता। अभिनवगुप्त ने इस शंका का भी समाधान प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त भी कारण और कार्य की पृथक् सत्ताएँ स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके मतानुसार रस की सम्पूर्ण स्थिति में किसी भी अन्य प्रकार के अनुभव के लिए अवकाश नहीं रहता। रसानुभूति अपने आप में इतनी पूर्ण और व्यापक होती है कि चित्त की अवस्थाओं की पृथक् अनुभूति सम्भव ही नहीं हो पाती। सहृदय तो पूर्णतः रस के आनन्द में ही खो जाता है।

अभिनव के पश्चात् आचार्य मम्मट ने गुणों को रसोत्कर्ष के विधायक तत्त्व के रूप में माना है और उन्हें अचल-स्थिति धर्म का स्थान दिया है। मम्मट के अनुसार चित्त की विभिन्न अवस्थाओं के मूल में यही माधुर्य आदि गुण होते हैं। अभिनवगुप्त और मम्मट के विवेचन में मूल अन्तर यह है कि अभिनवगुप्त ने चित्त की अवस्थाओं को गुण से सर्वथा अभिन्न माना है (क्योंकि उन्होंने रस को कारण-रूप और गुण को कार्य-रूप स्वीकार किया है) और मम्मट ने गुणों को चित्त की अवस्थाओं का कारण माना है। दो शब्दों में, कहें तो अभिनवगुप्त के अनुसार गुण और चित्त-द्रुति अभिन्न होते हैं और मम्मट के अनुसार गुणों और चित्त-द्रुति के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध होता है और वे दोनों पृथक् सत्ताएँ रखते हैं। मम्मट के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने पुनः अभिनवगुप्त के मत की प्रतिष्ठा करते हुए चित्त-द्रुति को गुण से अभिन्न माना। तथापि विश्वनाथ की मान्यता अभिनवगुप्त के चिन्तन से पूर्णतः मेल नहीं खाती है। विश्वनाथ के शब्दों में "द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के करण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।" इस प्रकार विश्वनाथ ने गुण और रस में पूर्ण अभेद की स्थिति स्वीकार कर ली।

इस प्रसंग में विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियों के पश्चात् पण्डितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पंडितराज ने सर्वप्रथम अभिनवगुप्त की इस धारणा को अमान्य सिद्ध किया कि गुण, रस के धर्म और कार्य दोनों हैं। पंडितराज की यह स्पष्ट धारणा थी कि रस और धर्म परस्पर अभिन्न नहीं हो सकते। इस स्थिति

को स्पष्ट करते हुए पंडितराज अग्नि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसका धर्म तो उष्णता होती है और कार्य जलाना होता है। जलाए बिना भी अग्नि में उष्णता बनी रह सकती है। अतः गुण को—रस का धर्म और कार्य—दोनों नहीं माना जा सकता। आचार्य मम्मट के मतानुसार गुण और चित्त-वृत्ति में अभेद की स्थिति नहीं होती और उन्होंने गुण और चित्त-वृत्ति में कारण-कार्य सम्बन्ध माना है। पंडितराज गुण और चित्तवृत्ति में प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। प्रयोजक और प्रयोज्य का सम्बन्ध ऐसा है कि दोनों को एक भी माना जा सकता है। पंडितराज का यह विवेचन सर्वथा निर्दोष नहीं माना जा सकता क्योंकि उनके विवेचन में अन्तर्विरोध स्पष्टतः देखा जा सकता है। एक ओर तो वे गुण को रस और शब्द-अर्थ दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरी ओर गुण और चित्तवृत्ति के मध्य प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध मानकर गुण को चित्तवृत्ति के रूप में भी मानते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में सर्वथा निर्भ्रान्त और सुस्पष्ट स्थिति नहीं बन सकी है। प्रत्येक युग के विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से गुण का स्वरूप निर्धारित किया है किन्तु उसकी सत्ता तो निश्चय ही सिद्ध हो गयी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गुण और रस—दोनों ही विशिष्ट प्रकार की मनः स्थितियाँ हैं। रस की मनःस्थिति अपने आप में आनन्दमय होने के साथ साथ अखण्ड होती है और उसमें मन की सभी अन्तवृं त्तियाँ अन्वित हो जाती हैं। रस की मनःस्थिति आनन्दमय होती है और वह आनन्द अपने आप में पूर्ण और परम उपलब्धि होता है। उस स्थिति में पहुँच कर मन को कोई भी कामना नहीं रह जाती। इसी प्रकार गुण भी विशिष्ट प्रकार की मनःस्थिति होती है जिसमें गुणानुसार चित्त की अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, माधुर्यगुण के कारण चित्त की अवस्था द्रवित हो जाती है, ओज-गुण के कारण दीप्त हो जाती है और प्रसाद गुण के कारण चित्त की अवस्था व्यापकत्व को प्राप्त होती है। इसके साथ ही यह भी मानना होगा कि विशिष्ट भावों और विशिष्ट शब्दों में चित्त को प्रभावित करने की क्षमता होती है। शृंगार के सुकोमल भावों और मधुर शब्द-योजना में बाँधे गये करुणा आदि भावों से निश्चय ही मान वमन तरल हो उठता है। ठीक इसी प्रकार रौद्र आदि भावों और टवर्ग वर्णों के प्रयोग से हमारे भीतर की चित्तवृत्ति दीप्त हो उठती है। तथापि चित्त की ये विभिन्न अवस्थाएँ पूर्णतः आह्लादात्मक नहीं कही जा सकतीं क्योंकि आह्लाद की स्थिति तो रस दशा होती है और चित्त की ये अवस्थाएँ रस दशा से पूर्व की अवस्थाएँ ही हैं। रस परिपाक की स्थिति में तो ये अवस्थाएँ अन्वित हो जाती हैं। इस प्रकार चित्त की ये विभिन्न अवस्थाएँ रस से पूर्ववर्ती अवस्था ही हो सकती हैं।

गुणों की संख्या—गुणों की संख्या के सम्बन्ध में भी भारतीय काव्यशास्त्र में

विवाद की सी स्थिति बनी रही है। भरत ने सर्वप्रथम दस गुणों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं—

'श्लेषः प्रसादः समता समाधिः।
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च।
कांतिश्च काव्यस्य गुणाः दर्शते।'

भरत के इन दस काव्यगुणों के सामान्य और विशेष—इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। सामान्य गुणों में ऐसे गुणों की गणना की जा सकती है जो किसी भी प्रकार की साहित्यिक कृति में आवश्यक हो सकते हैं जबकि विशेष गुणों के के अन्तर्गत केवल ऐसे गुण ही परिगणित किये जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध केवल काव्य से होता है। भरत द्वारा प्रतिपादित दस गुणों में से प्रसाद, अर्थव्यक्ति, समाधि और समता—इन चार गुणों को सामान्य गुण कहते हैं और शेष छः गुणों को अर्थात् माधुर्य, सौकुमार्य, कान्ति, उदारता, ओज और श्लेष को विशेष गुण कह सकते हैं। इन गुणों का सामान्य परिचय भी आवश्यक है। प्रसाद गुण एक सामान्य गुण है और प्रत्येक प्रकार की रचना में इसकी अपेक्षा रहती है। प्रसाद गुण का आशय काव्य में स्वच्छता, सरलता और अर्थ की सहज ग्राह्यता से होता है। जिस काव्य की अर्थ-प्रतीति में न तो कोई व्यवधान होता है और न किसी भी प्रकार का संशय रह जाता है, उसमें प्रसाद गुण की अवस्थिति मानी जानी चाहिए। अर्थव्यक्ति भी एक सामान्य गुण होता है और वास्तविकता यह है कि प्रसाद और अर्थव्यक्ति—इन दोनों गुणों में अधिक भेद नहीं होता। अर्थव्यक्ति गुण का आशय काव्य में शब्दों, पदों आदि के माध्यम से सम्पूर्ण अर्थ की पूरी अभिव्यक्ति से है। जिस काव्य में शब्दों और पदों के माध्यम से समग्र अर्थ की पूर्ण प्रतीति हो जाती है उसमें अर्थव्यक्ति गुण की स्थिति मानी जानी चाहिए। समाधि गुण भी एक सामान्य गुण होता है जिसका आशय यह होता है कि रचना में ऐसा कुछ अवश्य होना चाहिए कि उसकी अर्थ-प्रतीति में सहृदय को तनिक बौद्धिक प्रयास अवश्य करना पड़े। सीधे सपाट भावों की सीधी सच्ची अभिव्यक्ति श्रेष्ठ कविता नहीं कहला सकती। कविता में ऐसा कुछ अवश्य होना चाहिए कि उसकी अर्थ-प्रतीति के लिए किंचित निपुणता की अपेक्षा रहे। इसी गुण को समाधि गुण कहते हैं। चौथा सामान्य गुण समता है। समता से आशय यह है कि कविता में न तो अनावश्यक रूप से शब्दों की भरमार की जाये और न कठिन शब्दों का प्रयोग ही किया जाये। कई बार कविगण चमत्कार प्रदर्शन के लिए भारी भरकम शब्दों का अनावश्यक प्रयोग कर देते हैं और इस प्रकार उनकी कविता सहज संवेद्य होने के स्थान पर चमत्कारमात्र रह जाती है। भरत के अनुसार कविता में प्रयुक्त शब्दों के मध्य एक प्रकार का सन्तुलन रहना चाहिए जिसे शास्त्रीय भाषा में समता के नाम से अभिहित किया गया है।

शेष छः विशिष्ट होते हैं जिनका सम्बन्ध काव्य के साथ होता है।

छः विशिष्ट गुणों में से भी चार गुणों का सम्बन्ध काव्य की सौंदर्याधान से होता है। ये चारों गुण—माधुर्य, सौकुमार्य, कान्ति और उदारता सहृदय के चित्त को द्रवणशील बना देते हैं। इन चारों गुणों में से दो गुणों का सम्बन्ध भाषा के साथ होता है और शेष दो अर्थगौरव के परिचायक होते हैं। माधुर्य और सौकुमार्य भाषा के गुण होते हैं और कान्ति तथा उदारता का सम्बन्ध काव्य के अर्थगौरव के साथ होता है। भाषा में श्रुतिमधुर और कर्णकटु—दो प्रकार के वर्ण होते हैं। माधुर्य गुण की स्थिति श्रुतिमधुर वर्णों के प्रयोग में होती है। इसी प्रकार कोमल वर्णों के प्रयोग से भाषा में सुकुमारता आती है अर्थात् सौकुमार्य गुण का विकास होता है। कान्ति गुण काव्य के अर्थ के साथ जुड़ा होता है। जिस कविता के अर्थ की प्रतीति सहृदय के मन को प्रसन्न कर देती है उसमें कान्ति गुण की स्थिति समझी जानी चाहिए। जिस कविता में प्रत्येक घटना अथवा प्रसंग आदि का वर्णन श्रृंगार और अद्भुत की योजना के अनुरूप किया जाता है वहाँ उदारता गुण की स्थिति होती है। इन चार गुणों के पश्चात् दो गुण शेष रह जाते हैं—श्लेष और ओज। ओजगुण की उपस्थिति चित्तवृत्ति को दीप्त करती है। ओजगुण की स्थिति भाषा और अर्थ दोनों में हो सकती है। श्लेष गुण का सम्बन्ध ऐसी संघटना से है जो चित्त को द्रवणशील भी करती है और प्रदीप्त भी करती है। श्लेष गुण की स्थिति ऐसी कविता में मानी जाती है जिसमें अनेक शब्दों, अर्थों आदि की योजना एक में ही कर दी जाती है।

भरत के पश्चात् दण्डी ने भी गुण विवेचन किया है और उन्होंने भी भरत की भाँति ही दस काव्यगुणों का उल्लेख किया है। दण्डी के मत से काव्य के दस गुण इस प्रकार हैं—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।'

यद्यपि दण्डी ने भरत की भाँति ही दस काव्यगुण निर्धारित किये हैं और प्रत्यक्षतः ऐसा प्रतीत होता है कि गुण विवेचन में दण्डी का कोई मौलिक योगदान नहीं है किन्तु वास्तविकता यह है कि दण्डी की अनेक परिभाषाएँ भरत से सर्वथा भिन्न हैं। दण्डी द्वारा प्रतिपादित समाधि, कान्ति आदि गुणों की परिभाषा तो भरत की तत्सम्बन्धी परिभाषाओं से तनिक भी मेल नहीं खाती। दण्डी के गुण विवेचन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने गुण का सम्बन्ध काव्य-मार्गों के साथ स्थापित किया है। दण्डी ने गौणी और वैदर्भी—दो मार्गों का वर्णन किया है और इन्हीं के साथ इन दस गुणों का सम्बन्ध ठहराया है। दण्डी के मतानुसार ये दस गुण काव्य के गुण नहीं अपितु वैदर्भ मार्ग (शैली) के गुण हैं। गौड़ी मार्ग इन गुणों का प्रायः विपर्यय ही होता है। उनके मतानुसार श्लेष, समता, सौकुमार्य, ओज और माधुर्य (केवल शब्दगत) शब्दगुण होते हैं और शेष छः गुण अर्थगुण होते हैं। दण्डी के मतानुसार इन दस गुणों का संक्षिप्त परिचय अग्रानुसार है :

(क) श्लेष—श्लेष गुण का आशय शैलीगत शैथिल्य के अभाव से है। काव्य में शैलीगत कसावट अपेक्षित होती है और उसके अभाव में काव्य प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। इस कथित शैथिल्य के निराकरण के लिए प्रायः महाप्राण वर्णों का प्रयोग किया जाता है। वैदर्भ मार्ग में शैली की कसावट के प्रति अत्यधिक आग्रह रहता है जबकि गौड़ीय मार्ग में अनुप्रास की छटा के प्रदर्शन हेतु शैली की कसावट की भी उपेक्षा कर दी जाती है।

(ख) प्रसाद—प्रसाद गुण का आशय व्यवधानरहित तथा संशयरहित अर्थ-प्रतीति से है। वैदर्भ मार्ग में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनकी अर्थप्रतीति में न तो किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता है और न किसी प्रकार का संशय ही रह जाता है। इसके विपरीत गौड़ीय मार्ग में जान-बूझकर अनावश्यक और कठिन शब्दों की भरमार कर दी जाती है। इस प्रकार प्रसाद गुण के अभाव में कविता का अर्थ कठिन और दुर्बोध हो जाता है।

(ग) समता—समता गुण का आशय काव्य के बन्ध की एकरूपता से होता है। काव्य के बन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं—मृदु, स्फुट और मध्यम। समता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि काव्य में जिस प्रकार के बन्ध का प्रयोग आरम्भ में हुआ हो, अन्त तक उसी का निर्वाह होता रहे। वैदर्भ मार्ग में इस प्रकार की समता बराबर बनी रहती है। इसके विपरीत गौड़ीय मार्ग में समता गुण की उपेक्षा कर दी जाती है और अनावश्यक शब्दाडम्बर के कारण काव्य का समस्त सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

(घ) माधुर्य—माधुर्य गुण दो प्रकार का हो सकता है—शब्दगत और अर्थगत और इस विभाजन का आधार काव्य का रस है जो कि शब्दगत और अर्थगत दो प्रकार का होता है। दण्डी के मतानुसार, काव्य रस एक ऐसा सामान्य तत्त्व होता है जिनके माध्यम से कवि विशिष्ट शब्द और अर्थ की योजना तैयार करता है। शब्द और अर्थ की इस विशिष्ट योजना से कवि का मन अनुरंजित होता है और ऐसे काव्य के परिशीलन से पाठक भी स्वभावतः अनुरंजित हो जाता है। यही शब्द और अर्थ का माधुर्य गुण होता है जिसकी अनुभूति से पाठक झूम-झूम उठता है। शब्दगत माधुर्य उत्पन्न करने के लिए कवि अधिकांशतः समान वर्णों का प्रयोग करते हैं और वर्णों की अनावश्यक आवृत्ति से बचते हैं। वैदर्भ मार्ग का अनुसरण करने वाले कवि समान वर्णों का प्रयोग इसलिए करते हैं कि पाठक का मन वर्णों की ओर न रहकर समान वर्णों के प्रयोग से निःसृत होने वाली सरसता की ओर आकृष्ट रहे। यदि वर्णों की आवृत्ति रहेगी तो पाठक का मन स्वतः वर्ण में ही उलझा रहेगा और इस कारण रसानुभूति में व्यवधान पहुंचेगा।

(ङ) सौकुमार्य—सौकुमार्य का आशय कोमलता से होता है और जिस कविता

में सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति कोमलकान्त पदावली के माध्यम से की जाती है, उसमें सौकुमार्य गुण की अवस्थिति मानी जानी चाहिए। काव्य में सौकुमार्य गुण की सृष्टि के लिए कवि कोमल वर्णों का प्रयोग करते हैं। सौकुमार्य गुण, शब्द और अर्थ दोनों में अपेक्षित होता है ताकि काव्य का रसोत्कर्ष सम्भव हो सके। सौकुमार्य गुण के प्रति वैदर्भ मार्ग में ही अत्यधिक आग्रह होता है। गौड़ीय मार्ग में स्थिति विपरीत होती है और प्राय: कठोर शब्दों, वर्णों आदि का प्रयोग किया जाता है।

(च) अर्थव्यक्ति--अर्थव्यक्ति गुण का आशय शब्दों के माध्यम से समग्र अर्थ की प्रतीति से होता है। काव्य की शोभा और उसके अर्थ की प्रतीति के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का अत्यन्त सुविचारित प्रयोग किया जाये अर्थात् उतने ही शब्दों का प्रयोग किया जाये जो कि काव्य की अर्थ-प्रतीति के लिए आवश्यक हों। जिस काव्य में अर्थ की पूर्ण प्रतीति नहीं हो पाती और आक्षेप करना आवश्यक होता है वह काव्य निस्सन्देह श्रेष्ठ कोटि का होता है। दण्डी के मतानुसार वैदर्भ और गौड़ीय—दोनों मार्गों के अर्थव्यक्ति गुण की महत्ता मानी जाती है।

(छ) उदारता—उदारता का आशय ऐसे गुण से है जिसके कारण शौर्यादि गुणों की प्रतीति केवल अर्थ-व्यापार से ही हो जाती है। कई बार कवि वाच्यार्थ का प्रयोग किये बिना ही इस प्रकार की अर्थ-सृष्टि कर देता है कि महान् गुणों की प्रतीति स्वत: और किसी भी कठिनाई बिना ही हो जाती है। यही उदारता का गुण है और वैदर्भ तथा गौड़ीय—दोनों मार्गों में इस गुण की अपेक्षा रहती है।

(ज) ओज—ओज गुण की सृष्टि समास के बहुल प्रयोग से की जाती है। ओज गुण की उपस्थिति में चित्तवृत्ति दीप्त हो उठती है और ओज गुण युक्त काव्य में इसकी प्रतीति भी स्वत: ही हो जाती है।

(झ) कान्ति—कान्ति गुण का आशय लौकिक अर्थ के भीतर ही स्वाभाविक और सहज वर्णन में है। जिस कविता में कवि प्रसंगों और घटनाओं का वर्णन लौकिक अर्थ की सम्भावनाओं के भीतर रहते हुए कमनीय ढंग से किया जाता है उसमें कान्ति गुण की स्थिति मानी जाती है। वैदर्भ मार्ग में कान्ति गुण के प्रति बहुत आग्रह रहता है और उसमें अर्थ को इतना अधिक विस्तार नहीं दे दिया जाता कि लौकिक अर्थ का सर्वथा अतिक्रमण हो जाये। गौड़ीय मार्ग में स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है। उसमें लौकिक अर्थ की उपेक्षा करके काव्यार्थ को अत्यधिक विस्तार दे दिया जाता है।

(ञ) समाधि—समाधि गुण का आशय अन्य धर्मों का अन्य स्थलों में आरोप कर देने से होता है। उदाहरण के लिए, कई ऐसे शब्द होते हैं जिनमें ग्राम्य दोष माना जाता है, किन्तु यदि उन्हीं शब्दों का प्रयोग अन्य प्रसंगों में किया जाये तो वही दोष-पूर्ण शब्द-गुण का रूप धारण कर लेते हैं। उगलना, वमन करना आदि ऐसे ही प्रयोग होते हैं, किन्तु यदि इन शब्दों का प्रयोग इस प्रकार कर दिया जाये कि "सूर्य अग्नि उगल रहा है अथवा अरुण धूलि देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों सूर्य अग्नि कणों

का वमन कर रहा है" तो निश्चय ही ऐसे प्रयोग दोषपूर्ण नहीं माने जायेंगे, अपितु उन्हें काव्य के शोभाकारक गुण माना जायेगा । यही समाधि गुण कहलाता है ।

गुण-विवेचन की दृष्टि से दण्डी के पश्चात् आचार्य वामन का नाम उल्लेखनीय है । वामन ने भी इन्हीं परम्परागत दस गुणों को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के दो भेद कर दिये हैं—शब्दगुण और अर्थगुण । इस प्रकार वामन ने गुणों की संख्या दस से बढ़ाकर बीस तक पहुँचा दी । गुण-विवेचन के प्रसंग में वामन ने कई मौलिकताओं का परिचय दिया है । पहली बात तो यह कि वामन ने गुणों का सम्बन्ध रीति से माना है । इस दृष्टि से वामन और दण्डी के विवेचन में पर्याप्त साम्य है क्योंकि दण्डी की भाँति ही वामन ने भी गुणों का सम्बन्ध मार्ग से माना है, अन्तर केवल यह है कि वामन ने मार्ग के स्थान पर 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है । यही नहीं, वामन ने काव्य की आत्मा पर विचार करते हुए रीति को ही काव्य की आत्मा का गौरवपूर्ण स्थान दिया है । वामन ने दण्डी द्वारा प्रतिपादित वैदर्भ और गौड़ीय के अतिरिक्त पांचाली नामक एक तीसरा मार्ग अथवा रीति का प्रतिपादन भी किया है । वामन ने परम्परागत दस गुणों के दो रूप माने हैं—शब्दगत और अर्थगत । ये सभी गुण अर्थात् 20 गुण केवल वैदर्भी रीति में ही होते हैं । ओज और कान्ति गौड़ी में तथा माधुर्य और सौकुमार्य पांचाली रीति में होते हैं । वामन के विवेचन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने गुण और अलंकार में सुस्पष्ट भेद भी बताया है । उनके मतानुसार गुण काव्य के शोभाकारक धर्म होते हैं और अलंकार केवल काव्य-शोभा में अभिवृद्धि ही करते हैं । दूसरे गुणों की स्थिति नित्य होती है अलंकार अनित्य होते हैं । वामन द्वारा प्रतिपादित गुणों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :

शब्दगत गुण—(क) **ओज**—ओज गुण में संश्लिष्ट वर्ण-विन्यास अपेक्षित होता है । इस गुण की सृष्टि के लिए कवि संयुक्ताक्षरों का प्रयोग करते हैं । (ख) **प्रसाद**—प्रसाद गुण का आशय बन्ध के शैथिल्य से होता है । देखने में यह एक दोष प्रतीत हो सकता है, किन्तु ओजगुण के साथ इस प्रकार का बन्ध शैथिल्य एक प्रकार का गुण हो जाता है । (ग) **श्लेष**—श्लेष गुण का आशय अक्षरों की कोमलता से है । श्लेष गुण से युक्त कविता में अनेक पद एक ही पद की भाँति प्रतीत होते हैं । (घ) **समता**—समता गुण का आशय कविता में आद्योपान्त एक ही मार्ग अथवा रीति के निर्वाह से होता है । (ङ) **समाधि**—समाधि गुण की स्थिति वहाँ होती है जहाँ आरोह और अवरोह को क्रम से रखा जाता है । (च) **माधुर्य**—माधुर्य गुण से आशय कविता में समासविहीन वर्णयोजना से होता है । (छ) **सौकुमार्य**—सौकुमार्य गुण की सृष्टि कोमल कान्त पदावली के प्रयोग से होती है । (ज) **उदारता**—उदारता का आशय बन्ध की विकटता से होता है जिसमें कि कविता के शब्द नृत्य करते हुए-से दीखते हैं । (झ) **कान्ति**—प्रांजल और निर्मल शब्दों की योजना से कान्ति गुण की सृष्टि होती है ।

(ञ) अर्थव्यक्ति—अर्थव्यक्ति गुण का आशय ऐसी शब्द-योजना से होता है जिससे अर्थ की प्रतीति तत्काल हो सके।

अर्थ गुण—(क) ओज—जिस कविता में अर्थ की प्रौढ़ता और गम्भीरता होती है उसमें ओज गुण की स्थिति समझी जानी चाहिए। प्रौढ़ता का अर्थ है—एक ही शब्द में पूरे वाक्य का अर्थ सँजो देना। (ख) प्रसाद—अभीष्ट अर्थ की स्पष्ट प्रतीति ही प्रसाद गुण होती है। प्रसाद गुण की सृष्टि के लिए कविगण अनावश्यक शब्दाडम्बर से बचते हैं। (ग) श्लेष—श्लेष गुण की स्थिति ऐसी कविता में होती है, जिसमें घटनाओं का वर्णन क्रमानुसार किया जाये, असम्भव और अप्रसिद्ध वर्णनों का अभाव हो और विदग्ध चेष्टाओं, क्रियाओं आदि का वर्णन हो। (घ) समता—समता गुण का आशय वस्तुतः अर्थगत वैषम्य के अभाव से होता है। काव्य के अर्थ में आद्योपान्त किसी भी प्रकार वैषम्य नहीं दीखना चाहिए। (ङ) समाधि—समाधि गुण का सम्बन्ध अर्थ की प्रतीति से होता है और अर्थ दो प्रकार का हो सकता है—एक तो वह जो कि कवि की अपनी कल्पना का परिचायक हो और दूसरा वह जिसका प्रतिपादन अन्य कवियों ने पहले ही कर दिया हो और उसी अर्थ के आधार पर कवि ने अपनी कल्पना से किसी नये अर्थ की सृष्टि की हो। (च) माधुर्य—माधुर्य गुण का आशय उक्ति-वैचित्र्य से है। (छ) सौकुमार्य—काव्य के अर्थ की कोमलता अथवा उसका अपारुष्य सौकुमार्य गुण का परिचायक है। (ज) उदारता—उदारता गुण का आशय यह है कि कविता में ग्राम्यत्व दोष न हो। (झ) कान्ति—कान्ति गुण का सम्बन्ध काव्य के रस के साथ होता है। (ञ) अर्थव्यक्ति—अर्थव्यक्ति गुण का आशय ऐसी वस्तु-योजना से है जो सहज ही स्पष्ट हो सके। जिस कविता की वस्तु का स्वभाव सहज ही स्पष्ट हो जाता है उसमें अर्थव्यक्ति गुण की स्थिति समझी जानी चाहिए।

गुण-विवेचन की दृष्टि से वामन के पश्चात् ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्योंकि गुणों को लेकर वामन के पश्चात् आनन्दवर्द्धन ने पुनः मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। आनन्दवर्द्धन की मौलिकता का प्रथम परिचय तो तब मिलता है जबकि उन्होंने परम्परागत दस काव्यगुणों के स्थान पर केवल तीन गुणों की ही प्रतिष्ठा की। ध्वनिवादियों के अनुसार काव्यगुण केवल तीन ही होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनिवादियों के चिन्तन पर भरत का भरा-पूरा प्रभाव है क्योंकि काव्यगुणों का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने इन तीनों काव्यगुणों का उल्लेख किया था। ध्वनिवादियों ने काव्य की आत्मा का स्थान रसध्वनि को दिया था अतः स्वभावतः उनका गुण-विवेचन भी इसी परिप्रेक्षय में किया गया है। उदाहरण के लिए, माधुर्य गुण की सर्वाधिक अभिव्यक्ति सम्भोग श्रृंगार, करुण, वियोग श्रृंगार और शान्त रसों में होती है और इन सभी रसों में माधुर्य गुण की उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्याप्ति होती रहती है। ठीक इसी प्रकार ओज गुण, वीर, बीभत्स और अद्भुत रसों में अधिकाधिक व्यक्त होता है और

प्रसाद गुण की अपेक्षा तो सभी रसों में होती है। ध्वनिवादियों ने इन तीनों गुणों का स्वरूप-विवेचन भी किया है जिसका आधार चित्त की विभिन्न अवस्थाओं में खोजा गया है। माधुर्य गुण की स्थिति में चित्तवृत्ति द्रवणशील हो जाती है और इस प्रकार माधुर्य गुण युक्त रचना आह्लादपूर्ण बन जाती है। ओजगुण के कारण चित्तवृत्ति का विस्तार हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मानव-मन दीप्त हो उठता है। प्रसाद गुण की स्थिति में चित्तवृत्तियों में व्यापकता आ जाती है। गुण-विवेचन के प्रसंग में ध्वनिवादी अचार्यों ने वर्ण प्रयोग का आश्रय भी लिया है, तथापि उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि कठोर अथवा कोमल वर्णों का प्रयोग अपने आप में कोई गुण अथवा दोष नहीं होता अपितु वह तो केवल गुणों अथवा दोषों का व्यंजक होता है।

ध्वनिवादियों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद— इन तीनों गुणों की प्रतिष्ठा ही नहीं की अपितु परम्परागत दस गुणों को भी अमान्य सिद्ध किया और इस दृष्टि से आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रियों के नाम उल्लेख्य हैं। इन ध्वनिवादियों की मूल धारणा यह रही है कि काव्यगुण तो वस्तुतः तीन ही हैं अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद तथा शेष सात गुणों का समाहार किसी न किसी रूप में इन्हीं तीनों गुणों में हो जाता है। उदाहरण के लिए, आचार्य मम्मट के मत से वामन द्वारा प्रतिपादित श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद—इन चार शब्द-गुणों का समाहार अकेले ओजगुण में ही हो जाता है। जहाँ तक माधुर्य गुण का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है क्योंकि माधुर्य गुण की सत्ता स्वयं ध्वनिवादियों ने भी स्वीकार की है। अर्थव्यक्ति गुण का अन्तर्भाव सहज ही प्रसाद गुण में हो जाता है, अतः उसकी पृथक् स्थिति अनावश्यक है। शेष रह गये तीन गुण, अर्थात् समता, सौकुमार्य और कान्ति। जहाँ तक समता नामक गुण का सम्बन्ध है वह सदैव गुण ही नहीं होती है। कई बार वह दोष भी बन जाती है और ऐसा विशेष रूप से उन स्थितियों में होता है जहाँ किन्हीं अपरिहार्य कारणों से मार्गान्तर (रीति परिवर्तन) आवश्यक हो जाता है। सौकुमार्य को पृथक् गुण मानना इसलिए आवश्यक नहीं है क्योंकि काव्य दोषों के अन्तर्गत क्लिष्टत्व का दोष भी परिगणित है और सौकुमार्य वस्तुतः शब्दों की क्लिष्टता के अभाव का ही परिचायक तो है। ऐसी स्थिति में सौकुमार्य की गणना एक स्वतन्त्र गुण के रूप में करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ठीक यही स्थिति कान्ति गुण की भी है क्योंकि कान्ति गुण का आशय ग्राम्यत्व दोष के अभाव से होता है और ग्राम्यत्व दोष अपने आप में एक स्वतन्त्र दोष है। अतः कान्ति गुण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना आवश्यक नहीं होता। इसी प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित दसों अर्थगुणों पर भी विचार किया जा सकता है। वामन के मतानुसार ओज का आशय अर्थ की प्रौढ़ता से होता है और वामन ने प्रौढ़ता की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह उसके काव्य का वैचित्र्य ही तो है। काव्य में तो अन्यथा भी नाना प्रकार के वैचित्र्य स्थित रहते है, अतः वैचित्र्य अपने आप में कोई विशिष्ट गुण नहीं बन सकता। इसी आधार पर अर्थ की प्रौढ़ता भी कोई पृथक् गुण नहीं कहला सकती।

यही स्थिति प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, और उदारता गुणों की भी है। प्रसाद गुण की स्थिति अधिकपदत्व के अभाव की स्थिति होती है, माधुर्य गुण का आशय अनवीकृतित्व के अभाव से होता है, सौकुमार्य गुण अमंगल रूप अश्लील तत्त्व के अभाव में होता है और ग्राम्यत्व दोष का अभाव उदारता रूपी गुण होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य और उदारता—इन चार गुणों की पृथक् सत्ताएँ स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। वामन द्वारा प्रतिपादित अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति अलंकार में हो जाता है अतः अर्थव्यक्ति गुण की भी पृथक् स्थिति स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। श्लेष गुण की भी जो विशेषताएँ वामन ने निर्धारित की हैं वे सभी एक प्रकार का वैचित्र्य मात्र ही हैं अतः श्लेष गुण की स्वतन्त्र स्थिति भी आवश्यक नहीं है। कान्ति का अर्थ दीप्त रस है और इस दीप्त रस का अन्तर्भाव रसध्वनि में हो जाता है। इसी प्रकार समता अर्थगुण का अन्तर्भाव वैषम्य-दोष के अभाव में हो जाता है। समाधि गुण की जो विशेषताएँ निर्धारित की गयी हैं वे वस्तुतः अर्थदर्शन की ही विशेषताएँ हैं, अतः उसकी पृथक् सत्ता भी आवश्यक नहीं है।

ध्वनिवादी आचार्यों के पश्चात् वक्रोक्तिकार कुन्तक ने गुण-विवेचन प्रस्तुत करते हुए अपने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। कुन्तक ने पुनः काव्य-रीतियों के स्थान पर काव्यमार्गों की प्रतिष्ठा की। कुन्तक के मतानुसार मार्ग तीन प्रकार के होते हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इसी प्रकार कुन्तक ने गुणों के भी दो प्रकार निर्धारित कर दिये—सामान्य गुण और विशिष्ट गुण। सामान्य गुण दो होते हैं—औचित्य और सौभाग्य। और विशिष्ट गुण चार होते हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, तथा अभिजात्य। कुन्तक के गुणों के इस विभाजन का आधार उपर्युक्त तीन काव्य-मार्ग हैं। सामान्य गुणों की स्थिति सभी मार्गों में एक-सी रहती है, किन्तु विशिष्ट गुणों की स्थिति मार्गों के साथ बदलती रहती है। उदाहरण के लिए, माधुर्य विशिष्ट गुण को लीजिए। सुकुमार मार्ग में माधुय गुण का आशयं आह्लादात्मक और और अर्थवत्ता के प्रति आग्रह रहता है। इसी प्रकार—मध्यम मार्ग में माधुर्य गुण का मिश्रित रूप व्यक्त होता है। यही स्थिति प्रसाद गुण तथा अन्य गुणों की भी होती है। सुकुमार मार्ग में प्रसाद गुण का आशय ऐसी पदावली के प्रयोग से होता है जिसका अर्थ समझने में तनिक भी व्यवधान उपस्थित न हो, अर्थ तत्काल ही स्पष्ट हो जाये और रसवत्ता विद्यमान हो। स्वभावतः सुकुमार मार्ग में प्रसाद गुण की सृष्टि के लिए समासरहित शब्द-योजना का प्रयोग किया जाता है और यदि किन्हीं कारणों से समासयुक्त शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है तो वे समास भी ऐसे होने चाहिए जिनकी अर्थप्राप्ति कष्टकर न हो। विचित्र मार्ग में प्रसाद गुण की स्थिति समासयुक्त पदावली के प्रयोग से होती है और ओज गुण का भी संस्पर्श रहता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसे समस्त पदों का प्रयोग किया जाय जिनकी अर्थप्राप्ति कष्टकर हो। जहाँ तक लावण्य गुण का सम्बन्ध है, सुकुमार मार्ग में उसकी स्थिति बन्ध-सौंदर्य की परिचायक

होती है। यही नहीं, सुकुमार मार्ग में लावण्य गुण की सृष्टि के लिए सुन्दर वर्ण-विन्यास और आदर्श पदयोजना भी अपेक्षित होती है। विचित्र मार्ग में लावण्य-गुण वर्ण-विन्यास का परिचायक होता है और संश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के प्रति आग्रह रहता है। लावण्य गुण की सृष्टि के लिए विसर्गों को यथावत् रहने दिया जाता है और संयुक्त वर्ण से पूर्व ह्रस्व अक्षर का प्रयोग किया जाता है। स्वभावतः इस सुन्दर वर्ण-विन्यास के कारण सुकुमार मार्ग की कविता की शोभा में वास्तविक वृद्धि होती है। जहाँ तक आभिजात्य गुण का सम्बन्ध है, सुकुमार मार्ग में उसकी सृष्टि हृदय को भाने वाले शब्दों के प्रयोग से सम्भव होती है। आभिजात्य गुण की सृष्टि के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो कि स्वभाव से सुन्दर और कोमल हों। विचित्र मार्ग में लावण्य गुण की स्थिति तब होती है जबकि ऐसी शब्द-योजना का प्रयोग किया जाता है जो कि स्वभाव से न अधिक कठोर होती है और न अधिक कोमल। मध्यम मार्ग में शब्द योजना के मिश्रित रूप का प्रयोग होता है।

कुन्तक ने इन चार विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त दो सामान्य गुणों का भी वर्णन किया है—औचित्य और सौभाग्य। औचित्य का अर्थ तो स्वतः स्पष्ट है। कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें औचित्य का पूर्ण निर्वाह हो और जीवन के विभिन्न प्रसंगों, क्रियाकलापों आदि का स्वाभाविक वर्णन किया जाये। जहाँ तक सौभाग्य गुण का सम्बन्ध है उसका सम्बन्ध कवि और प्रमाता दोनों के साथ होता है। कवि अपनी कविता में ऐसी अर्थ-योजना प्रस्तुत करता है जो कि सामान्य जीवन में व्यावहारिक न हो किन्तु काव्य में जिसकी अलौकिकता देखते ही बनती हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि अपनी प्रतिभा और कल्पना शक्ति का प्रयोग करता है और दूसरी ओर वह प्रमाता के हृदय को चमत्कृत भी करता है। स्वभावतः इस प्रयोजन के लिए कवि कविता के सभी अवयवों का प्रयोग करता है। काव्य के इसी गुण को सौभाग्य गुण कहते हैं।

परवर्ती आचार्यों ने गुण-विवेचन के संदर्भ में अधिकांशतः ध्वनिकार की मान्यताओं को ही यथावत् स्वीकार कर लिया है और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—इन्हीं तीन काव्यगुणों की सत्ता स्वीकार की है, तथापि अग्निपुराणकार और भोजराज ने इस सम्बन्ध में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। अग्निपुराणकार ने तीन प्रकार के गुण बताये हैं—शब्दगुण, अर्थगुण तथा उभयगुण और इन तीनों के पुनः छः-छः भेद और किये हैं। इस प्रकार अग्निपुराणकार ने गुणों की संख्या बढ़ाकर 18 कर दी है। शब्दगुणों के अन्तर्गत श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, औदार्य और ओज—ये छः गुण आते हैं। इसी प्रकार अर्थगुणों के अन्तर्गत माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकता—ये छः गुण परिगणित किये जाते हैं। उभयगुणों के छः गुण इस प्रकार हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग। उपर्युक्त गुणों में से कई गुण तो अग्निपुराणकार ने अन्य काव्यशास्त्रियों से यथावत् स्वीकार कर लिये हैं तथा कुछ नए गुणों की कल्पना भी की है। उदाहरण

के लिए छः शब्दगुणों में से केवल लालित्य और गाम्भीर्य ही ऐसे दो गुण हैं जो कि अग्निपुराणकार की अपनी कल्पना कहे जा सकते हैं और शेष चार गुण अर्थात् श्लेष, सुकुमारता, उदारता और ओज वामन द्वारा प्रतिपादित गुणों में से ही लिये गये हैं। यही स्थिति अर्थगुणों की भी है। अर्थगुणों में भी संविधान और सामयिकता—यही दो गुण ऐसे हैं जो कि अग्निपुराणकार ने नये जोड़े हैं और शेष चार गुण अर्थात् माधुर्य, कोमलता, उदारता और प्रौढ़ि तो वामन द्वारा निर्धारित गुण ही हैं। उभय गुणों में केवल प्रसाद गुण ही ऐसा है जिसे परम्परागत कहा जा सकता है। सौभाग्य गुण के लिए अग्निपुराणकार कुन्तक के ऋणी हैं और शेष चार उभय गुण उनकी अपनी कल्पना है। अग्निपुराणकार की भाँति ही भोजराज ने गुणों की संख्या में और अधिक वृद्धि कर दी। भोजराज ने परम्परागत दस गुणों के अतिरिक्त 14 नये गुणों का वर्णन किया है जो कि इस प्रकार हैं—उदाहरण, ओजस्व, प्रेयस, सुशब्दता, सौक्षम्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्त्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढ़ि। यही नहीं, भोजराज ने इन 24 गुणों के पुनः तीन-तीन भेद और किये हैं और इस प्रकार भोजराज द्वारा प्रतिपादित गुणों की कुल संख्या 72 तक पहुँच जाती है।

निष्कर्षतः, हम गुणों की संख्या और स्वरूप के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों के स्पष्टतः तीन वर्ग कर सकते हैं। पहला वर्ग तो ऐसे काव्याचार्यों का होगा जिन्होंने परम्परागत दस गुणों की स्थिति स्वीकार की है। इस वर्ग में भरत मुनि, दण्डी और वामन आदि के नाम परिगणित किये जा सकते हैं। दूसरा वर्ग ध्वनिवादी आचार्यों का हो सकता है जिन्होंने परम्परागत दस गुणों का खण्डन करके केवल तीन ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है। तीसरे वर्ग में अकेले आचार्य कुन्तक आते हैं जिन्होंने गुणों की संख्या छः बतायी है जिनमें से चार विशिष्ट गुण माने हैं और शेष दो सामान्य गुण माने हैं। इनके अतिरिक्त भोजराज और अग्निपुराणकार द्वारा प्रतिपादित गुण-संख्या को लेकर भी एक चौथा वर्ग बनाया जा सकता है, किन्तु विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निपुराणकार और भोजराज द्वारा प्रतिपादित गुणों में कोई मौलिकता नहीं है। इस दृष्टि से उपर्युक्त तीन वर्गों का ही औचित्य सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के ये शब्द द्रष्टव्य हैं : "भेद-प्रभेदों का प्रस्तार अपने आप में कोई मौलिक उद्भावना नहीं है। भोज ने गुण-क्षेत्र में संख्या-वृद्धि कर कोई विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं की। उन्होंने गुण-विवेचन को अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक बनाने के स्थान पर और भी उलझा दिया। और तथ्य यह है कि काव्यशास्त्र की परम्परा में उनके गुण-विस्तार को विशेष महत्त्व कभी नहीं मिला।....वास्तव में भोज और अग्निपुराणकार का गुण-विवेचन अत्यन्त अपुष्ट तथा बहुत कुछ अनर्गल-सा है।" इस प्रकार मूल विवाद आनन्दवर्द्धन और वामन के गुण-विवेचन को लेकर ही रहा है। वामन द्वारा निर्धारित दस गुण और आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिपादित तीन गुणों में भी विवाद की स्थिति संख्या को लेकर नहीं है अपितु गुणों के स्वरूप अथवा यूँ कहें कि काव्य के स्वरूप को लेकर है। आनन्दवर्द्धन का गुण-विवेचन रस-धर्म पर आश्रित होने

के कारण चित्तवृत्ति रूप है और इस प्रकार उनका गुण-विवेचन भी स्वभावत: अधिक सूक्ष्म और व्यापक है । दूसरी ओर वामन ने गुणों का सम्बन्ध शब्द-अर्थ के साथ बिठा कर उन्हें रीति-चमत्कार के रूप में प्रतिष्ठित किया है और इस प्रकार उनका गुण-विवेचन ही अधिक मूर्त और संकीर्ण बन पड़ा है । जो भी हो, परवर्ती आचार्यों में आनन्दवर्द्धन का गुण-विवेचन ही अधिक समादृत हुआ। दो शब्दों में कहा जा सकता है कि "अतएव, अन्त में पूर्व-ध्वनिकाल के दस गुणों और उत्तर ध्वनिकाल के तीन गुणों में—ये पिछले तीन गुण ही मान्य हुए, माधुर्य, ओज और प्रसाद—जो क्रमश: चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के तद्रूप हैं ।"

9

काव्यदोष-विवेचन

भारतीय काव्यशास्त्र का परिशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने दोष-विवेचन अवश्य किया है। यही नहीं, गुण और अलंकारों आदि के वर्णन से पहले दोषों का विवेचन किया गया है। आचार्य दण्डी ने तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "काव्य में रंचमात्र दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक छोटा-सा भी कुष्ठ का दाग सुन्दर से सुन्दर शरीर को कुरूप कर सकता है।" लौकिक व्यवहार में भी दोषों की महत्ता स्वतः सिद्ध है। प्रत्येक महत्त्व-पूर्ण द्रव्य के निर्माण में इस सम्बन्ध में सतर्कता बरतनी होती है कि कहीं उसमें किंचित दोष न रह जाये। वस्तु की महत्ता के अनुरूप ही दोष-परिहार की महत्ता बढ़ती रहती है। जहाँ तक काव्य का प्रश्न है, जीवन में उसकी उपादेयता निर्विवाद है और इस कारण उसकी मात्रा भी सर्वाधिक होती है। काव्य परमानन्द की उपलब्धि का साधन और जनरुचि का एक सशक्त नियामक होता है। ऐसी स्थिति में उसका निपुण गुम्फन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

तथापि भारतीय काव्यशास्त्र में दोषों के विधिवत् लक्षण प्रस्तुत करने की दिशा में बहुत समय बाद कार्यारम्भ हुआ। भरतमुनि ने दोष का लक्षण प्रस्तुत ही नहीं किया और गुणों के विपर्यय को ही दोष की स्थिति प्रदान की। यही स्थिति भामह और दण्डी आदि आचार्यों की है जिन्होंने गुणों का निदर्शन करते हुए ही दोषों का वर्णन किया है। भामह ने यद्यपि दोषों का नामकरण तो प्रस्तुत किया है किन्तु उनके लक्षण प्रस्तुत नहीं किये। उन्होंने केवल यही कह दिया कि श्रेष्ठ कवि अपने काव्य में दोषों का प्रयोग नहीं करते—'कवया य प्रयुंजते'। दण्डी ने दोषों पर विस्तार से विचार किया है, फिर भी दोष का लक्षण-निरूपण नहीं किया। दोष के स्वरूप के सम्बन्ध में दण्डी ने केवल दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं—(क) दोषा विपत्तये तत्र अर्थात् काव्य के दोष उसकी विफलता के कारण होते हैं तथा (ख) इति दोषा दर्शवंते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः अर्थात् विद्वानों को काव्य में इन दोषों का परिहार करना चाहिए।

गुण-विवेचन की भाँति ही दोष-विवेचन करने वाले काव्यशास्त्रियों में वामन सबसे पहले आचार्य हैं। दोष का लक्षण प्रस्तुत करते हुए वामन कहते हैं कि 'गुण-विपर्ययात्मनो दोषा:' अर्थात् गुण के विपर्यय को ही दोष कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि भरत ने गुणों का स्वरूप-लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा था कि गुण काव्य-दोषों का विपर्यय होते हैं। वामन ने ठीक इससे उलटी बात कही है कि दोष-गुणों का विपर्यय होते हैं। वामन की इस मान्यता का मूल आधार यह है कि उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है और उसे गुणों पर आधारित माना है। अतः स्वभावतः उन्होंने गुणों को अभाव रूप न मानकर दोषों को अभाव रूप माना है। जो भी हो, दोनों द्वारा प्रस्तुत लक्षण इस दृष्टि से अपूर्ण हैं कि दोनों ने दोनों का स्वरूप निर्धारित नहीं किया है, केवल उनके भावात्मक अथवा अभावात्मक रूप की प्रतिष्ठा की है। वामन के दोष-विवेचन के प्रसंग में विपर्यय शब्द का प्रयोग भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि विपर्यय के दो अर्थ होते हैं—विपरीत भाव तथा अन्यथा भाव। तथापि उनके दोष-विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विपर्यय से उनका आशय विपरीत भाव से ही है। उनके मतानुसार दोष गुणों के अभाव के परिचायक-मात्र नहीं होते अपितु काव्य-सौन्दर्य के घातक होते हैं। इस प्रकार वामन के मत से दोष ऐसे तत्त्व होते हैं जो काव्य-सौन्दर्य को क्षति पहुँचाते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि वामन के मत से काव्य का सौन्दर्य काव्य के बहिरंग में निहित होता है अतः उसकी प्रकृति वस्तुगत होती है। इस प्रकार दोषों का सम्बन्ध भी कवि के बहि-रंग के साथ होता है। यह स्थिति ध्वनि-पूर्व युग के काव्यशास्त्रियों की है। ध्वनि-वादी आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा का स्थान रसध्वनि को दे दिया और इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य काव्य के बाह्य रूप में नहीं अपितु उसके अन्तरंग का सौन्दर्य बन गया। तदनुसार दोषों की स्थिति भी बदल गयी और दोष मूलतः आत्मगत हो गये। आनन्द-वर्द्धन और अभिनवगुप्त ने दोषों के इस आत्मगत स्वरूप की ओर इंगित किया था। इनके मतानुसार दोषों का सम्बन्ध मूलतः काव्य की आत्मा अर्थात् रस के साथ और गौण रूप से शब्द और अर्थ के साथ होता है। आचार्य मम्मट भी रसवादी आचार्य थे और उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा, 'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्चमुख्यस्तदाश्रयादवच्य:' अर्थात् दोष यह होता है जिससे मुख्यार्थ की हानि होती हो। मुख्य अर्थ का आशय है—रस और इस प्रकार दोष से रस की हानि होती है और उसके आश्रय से दोष गौण रूप से वाच्य भी होते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार की बात कही—'दोषास्तस्यापकर्षका' अर्थात् उसके अर्थात् रस के अपकर्षक दोष होते हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोष वह है जिसमें मूलतः रस को गौण रूप से शब्द और अर्थ को हानि होती है और अपकर्ष होता है। इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि रस की हानि अथवा अपकर्ष किस रूप में होता है?

रस की हानि अथवा अपकर्ष की तीन प्रकार की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। पहली तो यह कि रस-प्रतीति अत्यन्त विलम्ब से हो, दूसरी यह कि रस-प्रतीति में अवरोध हो और तीसरी यह कि रस-प्रतीति का पूर्ण विनाश हो जाय। रसानुभूति एक अत्यन्त आनन्दप्रद अनुभूति होती है और यदि उस अनुभूति में विलम्ब, अवरोध अथवा विघात की स्थिति उत्पन्न होती है तो निश्चय ही वह कष्टकर हो जायगी। कदाचित् इसी कारण दोषों का स्वरूप विवेचन करते हुए अग्निपुराणकार कहते हैं कि—'उद्वेगजनको दोषः' अर्थात् दोष उद्वेग उत्पन्न करने वाले होते हैं। कोई भी सहृदय अथवा पाठक रस की आनन्दप्रद अनुभूति के लिए लालायित रहता है और यदि उसमें किसी भी कारण से, किसी भी प्रकार की बाधा पहुँचती है तो निश्चय ही वह उद्वेगजनक होगी। यही वह महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जहाँ ध्वनि-पूर्व और उत्तर-ध्वनि युग के दोष-विषयक विवेचन में विभाजन रेखा खींची जा सकती है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "यह दोष-विषयक धारणाओं में भी मौलिक अन्तर मिलता है, पूर्व ध्वनि-काल में दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्द-अर्थगत रूप पर बल दिया गया और उत्तर-ध्वनि काल में आन्तरिक आत्मगत अर्थात् रसगत रूप पर।" तथापि इन दोनों युगों की धारणाओं का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि मौलिक भेद दोनों युगों के दोष-विवेचन में नहीं है, अपितु काव्य-सम्बन्धी धारणाओं में है। दूसरे शब्दों में, पूर्व-ध्वनि युग में काव्य की आत्मा उसका बहिरंग अथवा वस्तुतत्त्व मानी जाती थी जबकि उत्तर-ध्वनि युग में काव्य की आत्मा के स्थान पर काव्य के अन्तरंग तत्त्व अर्थात् रस की प्रतिष्ठा हो गयी। दोषों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं दीखता। दोष तो काव्य-सौन्दर्य के घातक होते हैं—पूर्व-ध्वनि युग और उत्तर-ध्वनि युग—दोनों में ही वे काव्य-सौन्दर्य के घातक थे। वस्तुतः काव्य-सौंदर्य की परिभाषा ही बदल गयी और इस कारण पूर्व-ध्वनि युग में दोष काव्य के वस्तु-तत्त्व के अपकारक कहे गये और उत्तर-ध्वनि युग में वही दोष आन्तरिक अर्थात् आत्मगत रस के अपकारक मान लिये गये।

काव्य के स्पष्टतः दो अंग होते हैं—आत्मा और शरीर। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य है कि काव्य की आत्मा रस होती है और शब्द-अर्थ केवल उसके शरीर-रूप होते हैं। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि दोष काव्य के अपकारक तत्त्व होते हैं तो उसका आशय यही है कि दोष काव्य की आत्मा-रूपी रस और देहरूप शब्द-अर्थ दोनों के ही अपकारक होते हैं। रस काव्य की आत्मा होता है, अतः दोष मूल रूप में रस का अपकर्ष करते हैं और शब्द-अर्थ देह रूप होने के कारण गौण होते हैं और इस कारण दोष भी शब्द-अर्थ का अपकारक गौण रूप से करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर दोष की सामान्य परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—दोष ऐसे तत्त्व होते हैं जो मूल रूप से रस के और गौण रूप से शब्द-अर्थ के अपकारक होते हैं।

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोषों का स्वरूपगत विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न प्रकार के दोषों का अन्तर्भाव औचित्य के व्यतिक्रम में हो जाता है। लोक-व्यवहार में भी जहाँ कहीं औचित्य की उपेक्षा की जाती है अथवा हो जाती है, वहीं दोष उत्पन्न हो जाता है। यही स्थिति काव्य की भी है। उदाहरण के लिए, आचार्य विश्वनाथ ने दोषों का विवेचन करते हुए कहा है कि दोष रस के अपकारक होते हैं अर्थात् रस-प्रतीति को हानि पहुँचाते हैं और वह रसगत हानि तीन प्रकार की हो सकती है—(क) रस की प्रतीति को रोक दिया जाना, (ख) रसोत्कर्ष के विघातक किसी तत्त्व का समावेश कर देना तथा (ग) रस-प्रतीति में विलम्ब उत्पन्न कर देना। इस सारी स्थिति का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होगा कि ये तीनों स्थितियाँ वस्तुत: औचित्य के व्यतिक्रम की ही परिचायक हैं। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में चार प्रकार के औचित्य बताये गये हैं—पद-विषयक औचित्य, व्याकरण-विषयक औचित्य, बौद्धिक औचित्य और भावना-विषयक औचित्य। पद-विषयक औचित्य का सम्बन्ध शब्द और अर्थ के परस्पर सामंजस्य के साथ होता है और व्याकरण-विषयक औचित्य का सम्बन्ध काव्य की अर्थ-प्रतीति के साथ होता है। बौद्धिक औचित्य का सम्बन्ध हमारी बौद्धिक और ज्ञान-वृत्तियों के सामंजस्य के साथ होता है और भावना-विषयक औचित्य का सम्बन्ध भावनाओं की समन्वयात्मक स्थिति से होता है। कहना न होगा कि काव्य के इन सभी क्षेत्रों में औचित्य का सम्यक् निर्वाह अपेक्षित होता है और जहाँ कहीं भी औचित्य का व्यतिक्रम हो जाता है वहीं दोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि पद-विषयक औचित्य प्रत्यक्षत: ऐन्द्रिय संवेदन के साथ जुड़ा होता है और जहाँ कहीं इस औचित्य की उपेक्षा करके श्रुति-कटु पदों का प्रयोग किया जाता है वहीं हमारे ऐन्द्रिक संवेदनों में असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। व्याकरण-विषयक औचित्य और बौद्धिक औचित्य का सम्बन्ध अर्थग्रहण से होता है और जहाँ कहीं इस प्रकार के औचित्य की उपेक्षा की जाती है वहीं अर्थ-प्रतीति में बाधा पहुँचती है और हमारे बौद्धिक संवेदनों में विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है। भावना-विषयक औचित्य की उपेक्षा का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से हमारी चित्तवृत्तियों पर पड़ता है और उनमें अन्विति की हानि होती है।

दोष-भेद—भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में दस काव्य-दोषों का वर्णन किया है जिनमें से कुछ तो शब्द-दोष हैं, कुछ अर्थ-दोष अथवा शब्दार्थ-दोष हैं। ये दस दोष इस प्रकार हैं—गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दहीन। इन काव्य-दोषों में से विसन्धि, शब्दहीन आदि दोष शब्दागत हैं तथा गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत और विषम आदि अर्थदोष अथवा शब्दार्थ-दोष हैं। इन दोषों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—(क) **गूढ़ार्थ**—गूढ़ार्थ-दोष वहाँ होता है जहाँ क्लिष्ट कल्पना से युक्त किसी अनावश्यक विशेषण का प्रयोग किया जाये, (ख) **अर्थान्तर**—अर्थान्तर-दोष वहाँ होता है जहाँ अवर्ण्य का वर्णन किया जाये अर्थात् जो कथन आवश्यक नहीं है,

वह कथन हो, (ग) अर्थहीन—अर्थहीन दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ परस्पर विरोधी अथवा असंगत कथन हो और इस कारण आशय की स्पष्ट प्रतीति न हो, (घ) भिन्नार्थ—भिन्नार्थ दोष वहाँ होता है—जहाँ समूचा अर्थ-सौन्दर्य ही विनष्ट हो जाये—ऐसा दो स्थितियों में होता है। पहली स्थिति में असभ्य और ग्राम्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है और दूसरी स्थिति में वांछित अर्थ अन्य अर्थ में परिणत हो जाता है, (ङ) एकार्थ—एकार्थ-दोष वहाँ होता है जहाँ एक ही अर्थ की प्रतीति के लिए एकाधिक शब्दों का अनावश्यक प्रयोग किया जाये, (च) अभिप्लुतार्थ—अभिप्लुतार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ चरण का अर्थ तो स्पष्ट हो जाये किन्तु विभिन्न चरणों के अर्थों में कोई भी सामंजस्य न हो, (छ) न्यायादपेत—न्यायादपेत दोष वहाँ होता है जहाँ तर्क अथवा प्रमाण की उपेक्षा की जाये, (ज) विषम—विषम-दोष का सम्बन्ध छंद-योजना से होता है। जहाँ-कहीं छंद-भंग की स्थिति होती है, वहाँ विषम-दोष माना जाता है, (झ) विसन्धि—विसन्धि-दोष वहाँ होता है जहाँ ऐसे शब्दों में सन्धि न की जाये जिनकी सन्धि व्याकरण के अनुसार सम्भव हो सकती है, (ञ) शब्दहीन—शब्दहीन दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्दों का प्रयोग किया जाये।

दोष-विवेचन के प्रसंग में भरतमुनि के पश्चात् भामह का नाम उल्लेखनीय है। भामह ने 21 प्रकार के दोषों का वर्णन किया है और उन दोषों को तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित कर दिया है। ये तीन वर्ग हैं—सामान्य दोष, वाणी दोष तथा अन्य दोष। सामान्य दोषों के अन्तर्गत छः प्रकार के दोष बताये गये हैं—नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् तथा गूढ़ शब्द। वाणी दोषों के अन्तर्गत चार प्रकार के दोष आते हैं, अर्थात् श्रुति-दुष्ट, अर्थ-दुष्ट, कल्पना-दुष्ट तथा श्रुति-कष्ट। अन्य दोषों में ग्यारह प्रकार के दोष गिनाये गये हैं; यथा—अयार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, अपक्रम, शब्दहीन, मतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देश-काल-कला-लोक न्यायागम-विरोधी तथा प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टान्तहीन। भामह के इस वर्गीकरण का कोई सुस्पष्ट आधार नहीं है और इस सम्बन्ध में भामह का अपना विवेचन भी मौन है। भामह के पश्चात् दण्डी ने भी दोष-विचार किया है और उन्होंने दस दोषों का उल्लेख किया है। दण्डी द्वारा प्रतिपादित दस दोष इस प्रकार हैं—अयार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि तथा देश-काल-लोक न्यायागम-विरोधी। दण्डी की इस दोष-सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भामह द्वारा वर्णित ग्यारह अन्य दोषों में से अन्तिम दोष तथा प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टान्तहीन को छोड़ सारे दोष यथावत् अपना लिये हैं। दण्डी के इन दस दोषों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—(क) अयार्थ—अयार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ समग्रतः किसी भी अर्थ की प्रतीति न होती हो, (ख) व्यर्थ—व्यर्थ दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ पूर्वापर-विरोध हो, (ग) एकार्थ—एकार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ किसी पूर्वकथन की शब्द और अर्थ में पुनरावृत्ति हो और उस पुनरावृत्ति में कलात्मकता का अभाव हो, (घ) ससंशय—

ससंशय दोष वहाँ होता है जहाँ अर्थ स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त शब्द पुनः संशय उत्पन्न करने वाले हों, (ङ) अपक्रम—अपक्रम दोष वहाँ होता है जहाँ कि वस्तुओं के वर्णनक्रम का निर्वाह न हुआ हो, (च) शब्दहीन—शब्दहीन दोष वहाँ होता है जहाँ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्दों का प्रयोग किया गया हो, (छ) भिन्नवृत्त—भिन्न-वृत्त दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ लघु-गुरु के नियमों का पालन न किया जाय और वर्ण भी अधिक हों, (ज) विसन्धि—विसन्धि दोष सन्धि सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन का द्योतक होता है. (झ) देशकाल-कला-लोक न्यायागम विरोधी—यह दोष वहाँ होता है जहाँ देश, काल, लोकन्याय और आगम की उपेक्षा की जाये। भामह और दण्डी के दोष-विषयक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों आचार्यों ने भरत द्वारा प्रतिपादित दस दोषों में से अधिकांश को यथावत् अपना लिया है और जो किंचित् भेद दीखता है उसका कारण वस्तुतः नाम-भेद है।

आचार्य वामन ने चार प्रकार के भेदों का वर्णन किया है—पद दोष, पदार्थ दोष, वाक्य दोष और वाक्यार्थ दोष। वामन द्वारा प्रतिपादित दोषों की कुल संख्या बीस है जिसमें से पाँच पद दोष हैं, पाँच पदार्थ दोष हैं, तीन वाक्य दोष हैं और सात वाक्यार्थ दोष हैं। इन सारे दोषों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) पद दोष—पद दोष पाँच प्रकार के होते हैं, पहला पद दोष व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग होता है। दूसरा पद दोष कर्णकटु प्रयोग होता है और तीसरा दोष ग्राम्यत्व का प्रयोग होता है। चौथा पद दोष अप्रचलित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है और पाँचवाँ दोष निरर्थक शब्दों का अनावश्यक प्रयोग होता है।

(ख) पदार्थ दोष—पदार्थ दोष भी पाँच प्रकार के होते हैं। पहले पद दोष अर्थात् अन्यार्थ का आशय रूढ़ि-च्युत अर्थ में प्रयोग से होता है, और दूसरे दोष नेयार्थ का आशय शब्दों के ऐसे प्रयोग से होता है जिसका अर्थ कल्पना के सहारे प्रतीत होता है। तीसरा पदार्थ दोष गूढ़ार्थ कहलाता है जिसका अर्थ अप्रसिद्ध अर्थों में प्रयोग करना होता है और चौथा दोष अश्लील शब्दों का प्रयोग होता है। पाँचवाँ दोष क्लिष्ट कहलाता है, जिसका आशय अत्यन्त दुरूह अर्थ से होता है।

(ग) वाक्य दोष—वाक्य दोष तीन प्रकार के होते हैं—भिन्नवृत्ति, यतिभ्रष्ट तथा विसन्धि।

(घ) वाक्यार्थ दोष—वाक्यार्थ दोष सात प्रक. के होते हैं—व्यर्थ, एकार्थ, संदिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, अलोक और विद्याविरुद्ध। व्यर्थ का आशय पूर्वापर विरोधी प्रयोग से होता है और एकार्थ दोष पदों की अनावश्यक आवृत्ति में होता है। संदिग्ध दोष स्वतः स्पष्ट है। अप्रयुक्त दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ अर्थ की प्रतीति अत्यन्त कष्ट कल्पित हो। अपक्रम दोष वहाँ होता है जहाँ अर्थ में कोई क्रम न हो। अलोक दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ लोक, देश, काल विरुद्ध अर्थ का प्रयोग किया गया हो। विद्याविरुद्ध दोष वहाँ होता है जहाँ कला और शास्त्र-विरुद्ध अर्थ की

प्रतीति होती हो। वामन ने इन काव्य-दोषों के अतिरिक्त छः उपमा दोषों का उल्लेख भी किया है।

दोष-विवेचन के प्रसंग में रुद्रट ने भी मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। रुद्रट के मतानुसार मुख्यतः चार प्रकार के दोष हैं—पद दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष और गुणों के वैपरीत्य से सम्भव अथवा पदवाक्यगत दोष। पद दोषों में छः प्रकार के दोष होते हैं, वाक्य दोष चार प्रकार के होते हैं, अर्थ दोष नौ प्रकार के होते हैं और पद-वाक्यगत दोष छः प्रकार के होते हैं। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार दोषों की कुल संख्या 26 हो जाती है। ये 26 दोष इस प्रकार हैं—(क) पद दोष—असमर्थ अप्रतीति विसन्धि, विपरीत कल्पना, ग्राम्यता, अव्युत्पत्ति और देश्य। (ख) वाक्यदोष—संकीर्ण-गर्भित, गतार्थ और अनलंकार। (ग) अर्थ दोष—अपहेतु, अप्रतीति, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् और अतिमात्र। (घ) पदवाक्यगत दोष—न्यूनपदता, अधिकपदत्व, अवाचकता, अपक्रमता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता। रुद्रट के अधिकांश पद दोषों को स्वीकृति मिल गयी है और केवल देश्य ही एक मात्र ऐसा पद दोष है जिसे परवर्ती चिन्तन में स्वीकृति नहीं मिल सकी। जहाँ तक वाक्य दोषों का प्रश्न है गतार्थता और अलंकारता रुद्रट की मौलिक कल्पनाएँ हैं और शेष वाक्य दोष परवर्ती साहित्य में यथावत् स्वीकार कर लिये गये। रुद्रट द्वारा प्रतिपादित नौ अर्थदोष रुद्रट की अपनी मौलिकता के परिचायक हैं किन्तु परवर्ती साहित्य में इन्हें स्वीकृति नहीं मिल सकी। रुद्रट ने छः पदवाक्यगत दोषों का भी वर्णन किया है जो किसी न किसी रूप में परवर्ती साहित्य में अपना लिये गये। इन दोषों के अतिरिक्त रुद्रट ने उपमा दोषों का भी वर्णन किया है।

पूर्वध्वनि-युग में दोष सम्बन्धी विवेचन इसी प्रकार का रहा। निस्सन्देह यह दोष-विवेचन वस्तुगत ही रहा। ध्वनियुग से पूर्व काव्य का विवेचन भी वस्तुगत रहा था, अतः स्वभावतः दोनों का सम्बन्ध भी काव्य के बाह्य तत्त्वों से ही स्थापित किया गया। इस प्रकार दोष मूलतः दो प्रकार के हुए—शब्दगत और अर्थगत। यद्यपि इन दो दोष वर्गों के और कई उपवर्ग भी कर दिये गये तथापि दोषों का आधार शब्द और अर्थ ही रहे। उत्तर ध्वनि युग में रस को काव्य की आत्मा मान लिया गया और तदनुसार दोष-विवेचन की दिशा भी बदल गयी। रस दोषों का आविर्भाव इसी प्रकार हुआ। आनन्दवर्द्धन ने एक स्थान पर छः ऐसे तत्त्वों का वर्णन किया है जो कि रस-विरोधी होते हैं। इन रस-विरोधी तत्त्वों को ही रसदोष मान लिया गया। मम्मट ने इन छः तत्त्वों को रसदोषों के रूप में स्वीकार कर लिया। इस सम्बन्ध में महिमभट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है। महिमभट्ट ने रसदोषों को औचित्य का नाम दे दिया है। इस प्रकार महिमभट्ट के अनुसार दो प्रकार के औचित्य होते हैं—अन्तरंग औचित्य और बहिरंग औचित्य। अन्तरंग औचित्य का सम्बन्ध विभावादि के साथ होता है और बहिरंग औचित्य का आशय वस्तुतः शब्द दोष से ही होता है। दोष-विवेचन की दृष्टि से महिमभट्ट के पश्चात् भोजराज का नाम उल्लेख्य है। भोजराज के दोष-विवे-

में कोई मौलिकता नहीं है। उन्होंने केवल दो ही नई बातें कहीं हैं—पहली तो यह कि गुण-विपर्ययात्मक दोष अरीतियत् होते हैं और वाक्यगत दोषों में इस नए दोष को भी जोड़ दिया। दूसरी यह कि उन्होंने उपमा दोषों को भी वाक्यार्थगत दोष के रूप में ही स्वीकृति दी है।

उत्तर ध्वनियुग में दोष विवेचन की दृष्टि से मम्मट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य मम्मट ने अपने से पूर्व सभी काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित दोषों पर विचार किया और उन्हें व्यवस्थित रूप में रखा। मम्मट ने सत्तर काव्यदोषों का वर्णन किया है जिसमें शब्द-दोषों की संख्या 37, अर्थ-दोषों की संख्या 23 और रस-दोषों की संख्या 10 बतायी गयी है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित ये 70 काव्यदोष दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किये गये हैं और उन श्रेणियों का मूलाधार रसौचित्य है। ये दो श्रेणियाँ हैं—नित्य दोष और अनित्य दोष। नित्य दोष ऐसे होते हैं जो प्रत्येक स्थिति में काव्य की आत्मा अर्थात् रस के अपकारक होते हैं। अनित्य दोषों का सम्बन्ध काव्य के बहिरंग से होता है, अतः इस वर्ग के दोषों से प्रत्येक स्थिति में इस का अपकर्ष नहीं होता। दो शब्दों में, कहा जा सकता है कि रसदोष नित्य होते हैं और शब्दगत तथा अर्थगत दोष अनित्य होते हैं। कहना न होगा कि काव्य में ऐसे अनेक स्थल होते हैं जहाँ ये दोष, काव्य की शोभा के विधायक गुण के रूप में व्यक्त होते हैं। वस्तुतः मम्मट के दोष-विवेचन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि "काव्य के अन्य अंगों के समान मम्मट ने इस अंग को भी नवीन और व्यवस्थित रूप दे दिया। पर इनकी नवीनता दोषों को पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रसगत रूपों में वर्गबद्ध करने में निहित नहीं है, यह कार्य तो वामन, रुद्रट, भोजराज आदि आचार्य पहले ही सम्पन्न कर चुके थे। उन्होंने उन आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर उक्त वर्गीकरण को व्यवस्थित रूप अवश्य दे दिया। वस्तुतः मम्मट की प्रमुख विशिष्टता है परम्परागत दोषों को रस से सम्बद्ध करना।"

मम्मट के दोष-विवेचन से प्रेरणा प्राप्त करके हेमचन्द्र ने भी दोष का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा है कि दोष प्रमुख रूप से रस का और गौण रूप से शब्द-अर्थ का अपकर्षक होता है। हेमचद्र की यह मान्यता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सर्वथा निर्भ्रान्त सिद्ध होती है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि दोष शब्द-अर्थ और रस—दोनों का अपकर्षक होता है तो हमें यह मानने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि शब्दार्थ का अपकारक होकर भी दोष अन्ततः रस का ही अपकर्ष करता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकेगी। कुब्जता, पंगुता आदि शारीरिक कुरूपता के परिचायक होते हैं किन्तु अन्ततः इन्हीं अभावों के कारण समूचे व्यक्तित्व में हीन भावना उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप आत्मा का साक्षात् अपकर्ष करने वाले कायरता, लोभ आदि दोषों का जन्म होता है।

अध्ययन की सुविधा के लिए काव्य-दोषों को पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(क) पद-दोष, (ख) वाक्य-दोष, (ग) अर्थ-दोष, (घ) रस-दोष और (ङ) अलंकार-दोष। इन सभी दोष-वर्गों का संक्षिप्त विवेचन निम्नानुसार है—

(क) पद-दोष—मम्मट ने काव्य-दोषों का विवेचन करते हुए 16 प्रकार के पद-दोषों का वर्णन किया है। इन 16 पद-दोषों में से विशुद्धतः पद-दोष तो तीन ही हैं और शेष वाक्य-दोष अथवा पदांश दोष भी हो सकते हैं। "वस्तुतः काव्य में शब्द का प्रयोग ऐसा होना चाहिए जो श्रुतिसुखद हो, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हो, उसको सुनते ही क्षिप्रता के साथ अर्थबोध हो सके और उसके श्रवण से या अर्थ से मन में किसी प्रकार का खिंचाव उत्पन्न न हो। इसके प्रतिकूल शब्दों का प्रयोग करने से या तो असौन्दर्य का प्रतिभास होता है या अर्थबोध में व्यवधान होने के कारण प्रभाव कम हो जाता है।" इस प्रकार काव्य में प्रयुक्त शब्दों का व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होना और साथ ही श्रुति-मधुर होना आवश्यक है। तथापि, इस सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी कई प्रकार के शब्दों का प्रयोग काव्य-दोष हो जाता है और ऐसा उस स्थिति में होता है जबकि ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाए जिनका प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता है। आचार्य मम्मट ने इस प्रकार के पांच दोषों का उल्लेख किया है—अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, निरर्थक और अवाचक। अप्रयुक्त शब्द ऐसे शब्द को कहते हैं जिसका प्रयोग किसी अर्थ में प्रसिद्ध होते हुए भी कवि-परम्परा में स्वीकार्य नहीं होता हो। असमर्थ शब्द उन शब्दों को कहते हैं जो कि अप्रयोग के कारण अपनी अर्थवत्ता खो चुके हों। दो अर्थों से युक्त शब्दों का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करने पर निहतार्थ पददोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त किये गये शब्दों को निरर्थक शब्द कहा जाता है और जिस अर्थ में शब्द की शक्ति ही न भासित होती हो, वहाँ अवाचक दोष होता है। मम्मट ने इसी प्रकार के छः दोष और बताये हैं—संदिग्ध, अप्रतीति, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्ध मतिकृत। संदिग्ध दोष की स्थिति ऐसे शब्दों के प्रयोग में होती है जिनका अर्थ संदिग्ध हो। अप्रतीति दोष वहाँ होता है जहाँ शब्द का कोई अर्थ किसी एक शास्त्र में प्रसिद्ध हो और उसका प्रयोग अन्यत्र किया जाये। नेयार्थ दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ अर्थबोध के लिए अप्रचलित लक्षणा का प्रयोग किया जाता है और क्लिष्ट दोष वहाँ होता है जहाँ अर्थ-प्रतीति अवरुद्ध अथवा व्यवहित हो जाती है। अविमृष्टविधेयांश दोष वहाँ होता है जहाँ विधेय का निर्णय स्पष्ट नहीं होता। विरुद्ध मतिकृत दोष की स्थिति वहाँ होती है जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाये कि विरोधी बुद्धि उत्पन्न हो। उपर्युक्त सभी पद-दोषों से रसानुभूति में विलम्ब होता है, अतः इन्हें दोष कहा जाता है।

कई दोष ऐसे भी हैं जिनसे रसानुभूति में तो विलम्ब नहीं होता किन्तु उनके प्रयोग से प्रमाता के हृदय में एक प्रकार के तनाव की स्थिति जन्म ले लेती है। मम्मट ने इस प्रकार के तीन काव्य-दोषों का वर्णन किया है—अनुचितार्थ, अश्लील और ग्राम्य। इन काव्य-दोषों का अर्थ स्वतः स्पष्ट है।

(ख) वाक्य-दोष—उपर्युक्त पद-दोष एकाधिक पदों से सम्बन्धित हो जाने पर वाक्य-दोष कहलाते हैं। मम्मट ने इस वर्ग में 21 दोषों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं—प्रतिकूलवर्ण, उपहितविसर्ग, लुप्तविसर्ग, विसन्धि, हतवृत्त, न्यूनपद, कथित पद, अधिकपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्त पुनरुक्ति, अर्धान्तरैकवाचक, अभवन्मतयोग, अनभिहितवाच्य, अस्थानस्थपद, अस्थानस्थसमास, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धिहत, भग्नप्रक्रम, अक्रम, अमतपरार्थ इनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण दोषों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है। रस के प्रतिकूल वर्णों के प्रयोग को प्रतिकूल वर्ण दोष कहते हैं और उपहतविसर्ग दोष वहाँ होता है, जहाँ विसर्गों को बार-बार 'ओ' का रूप दे दिया जाता है। इसी प्रकार विसर्गों के बार-बार लोप से लुप्तविसर्ग दोष उत्पन्न होता है और सन्धियोग्य वर्णों की सन्धि न करने से विसन्धि दोष उत्पन्न होता है। हतवृत्तता का सम्बन्ध छंदयोजना से होता है। और काव्य सौन्दर्य के निरन्तर क्षीयमाण होने की स्थिति को पतत्प्रकर्ष दोष की स्थिति कहते हैं। किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के आरोपण के लिए अपेक्षित शब्दों के अभाव को न्यूनपद दोष कहते हैं। आवश्यकता से अधिक शब्दों के प्रयोग को अधिकपद और एक ही शब्द की पुनरावृत्ति को कथितपद कहते हैं। विशेषण का प्रयोग वाक्य को समाप्ति के बाद विशेषण के प्रयोग से समाप्त पुनरुक्ति दोष होता है। यदि किसी कारणवश एक वाक्य का कोई शब्द दूसरे वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है तो वहाँ अर्धान्तरैकवाचक दोष की स्थिति होती है। अनभिहितवाच्य दोष वहाँ होता है जहाँ समासादि के कारण वर्ण्यवस्तु का वाचक शब्द गौण स्थान पर प्रयुक्त किया जाये। यदि पद का प्रयोग उसके स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान पर किया जाये तो अस्थानस्थपदता दोष होता है। उदाहरण के लिए एक पंक्ति लीजिए—'हैं यों कुटिल गड़ी लजौं अलकें मो मन माँहि'—इस पंक्ति में कुटिल शब्दों का प्रयोग 'अलकें' के साथ किया जाना चाहिए था। जब कोई वाक्य दूसरे वाक्य में घुसा हुआ-सा प्रतीत होता है तो गर्भितता दोष होता है। संकीर्णता दोष वहाँ होता है जहाँ दो वाक्यों के पद एक दूसरे से संकीर्ण हों। अक्रमता दोष वहाँ होता है जहाँ सम्बद्ध शब्द का प्रयोग किन्हीं कारणों से सम्बन्धों के साथ न किया जा सके। अभवन्मतयोग दोष वहाँ होता है जहाँ कवि वाक्य रचना में शब्दों में अभीष्ट अन्वय स्थापित न कर सके। इन वाक्य-दोषों में से प्रसिद्धिहित और अमतपरार्थ—ऐसे दो दोष हैं जिनका सम्बन्ध अर्थ के साथ होता है। प्रसिद्धिहित दोष वहाँ होता है जहाँ कतिपय शब्दों का प्रयोग उनके प्रसिद्ध अर्थ से हटकर किया जाए जैसे कि पक्षियों के कूजने और गाय के रम्भाने के स्थान पर अन्यथा प्रयोग कर दिया जाये। अमतपरार्थता दोष वहाँ होता है जहाँ दूसरा व्यंग्यार्थ रस के प्रतिकूल हो।

(ग) अर्थ-दोष—मम्मट ने अपने दोष-विवेचन में 23 प्रकार के अर्थ-दोषों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं—अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धिविरुद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, सनियम परिवृत्त, अनियम परिवृत्त, विशेष परिवृत्त, अविशेष परिवृत्त, साकांक्ष, अपदयुक्त, सहचरभिन्न, प्रकाशित

विरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त, त्यक्तपुनः स्वीकृत तथा अश्लील। इन अर्थदोषों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—(1) **अपुष्ट**—अपुष्ट अर्थ-दोष वहाँ होता है जहाँ अनुपयोगी विशेषणों का प्रयोग किया जाये। (2) **कष्ट**—कष्ट-दोष वहाँ होता है जहाँ अर्थबोध अत्यन्त कठिनाई से हो पाता है। (3) **व्याहत**—व्याहत दोष वहाँ होता है जहाँ पहले तो किसी वस्तु का उत्कर्ष दिखाया जाता है और बाद में उसी वस्तु का अपकर्ष भी दिखा दिया जाता है। (4) **पुनरुक्त**—पुनरुक्त दोष वहाँ होता है जहाँ एक ही अर्थ को पुनः व्यक्त किया जाये। (5) **दुष्क्रम**—जहाँ क्रम की उपेक्षा की गयी हो। (6) **ग्राम्य**—जहाँ गँवारू अर्थ व्यक्त किया जाये (7) **संदिग्ध**—जहाँ अर्थप्रतीति का हेतु न किया गया हो। (8) **निर्हेतु**—जहाँ कवि किसी बात का प्रतिपादन करके भी उसके हेतु को स्पष्ट नहीं कर पाता है। (9) **प्रसिद्धिविरुद्ध**—जहाँ किसी प्रसिद्धिविरुद्ध अर्थ का वर्णन किया जाये। (10) **विद्याविरुद्ध**—जहाँ कोई विद्या अथवा शास्त्रविरुद्ध अर्थ व्यक्त किया जाये। (11) **अनवीकृत**—जहाँ किसी शब्द की अनावश्यक पुनरावृत्ति होती हो। (12) **सनियम परिवृत्त**—जहाँ नियम के स्थान पर अनियम की प्रतिष्ठा की गयी हो। (13) **अनियम परिवृत्त**—जहाँ अनियम के स्थान पर नियम की प्रतिष्ठा की गयी हो। (14) **विशेष परिवृत्त**—जहाँ विशेष के स्थान पर सामान्य की प्रतिष्ठा की गयी हो। (15) **अविशेष परिवृत्त**—जहाँ सामान्य के स्थान पर विशेष की प्रतिष्ठा की गयी हो। (16) **साकांक्ष**—जहाँ किसी धर्म की आकांक्षा बनी रहे। (17) **अपदयुक्त**—कोई ऐसी अनावश्यक बात कह देना जो रस की विघातक हो। (18) **सहचरभिन्न**—जहाँ साहचर्य के औचित्य की उपेक्षा की गयी हो। (19) **प्रकाशितविरुद्ध**—जहाँ प्रकाशित व्यंग्यार्थ अनुचित हो। (0) **विध्ययुक्त**—विधि की अयुक्तता। (21) **अनुवादायुक्त**—जहाँ अनुवाद की अयुक्तता हो। (22) **त्यक्तपुनः स्वीकृत**—यह दोष वहाँ होता है जहाँ एक वाक्य की समाप्ति के पश्चात् पुनः उसी प्रकरण को उठाया जाये। (23) **अश्लीलता**—यह दोष स्वतः स्पष्ट है।

(घ) **रस-दोष**—मम्ट ने दस प्रकार के रस-दोषों का वर्णन किया है जिनका रस-प्रकरण में विस्तार से विवेचन कर दिया गया है।

(ङ) **अलंकार-दोष**—भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने दोषों पर विचार करते हुए अलंकार-दोषों का भी वर्णन किया है। मम्मट के मतानुसार अलंकार दोष, विशेष रूप से उपमा दोष होते तो हैं किन्तु ऐसे सभी दोषों का अन्तर्भाव उक्त दोनों में हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि कोई भी दोष तभी तक दोष रहता है जब तक कि वह प्रमाता के मन में उद्वेग उत्पन्न करता है। ऐसी भी कई स्थितियाँ हो सकती हैं और होती हैं जबकि दोष भी गुण बन जाते हैं अथवा कम से कम अदोषता तो धारण कर ही लेते हैं। प्रसंग और वातावरण का बहुत अधिक महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए, कर्णकटु शब्दों के प्रयोग को सामान्यतः दोष माना जाता है, किन्तु रौद्र रस के प्रसंग में, क्रुद्ध वक्ता द्वारा कर्णकटु शब्दों का प्रयोग गुण

का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार सुरत वर्णन में अथवा संभोग शृंगार के वर्णन में किंचित अश्लीलत्व सह्य हो जाता है। इसी प्रकार अधम और नीच पात्रों की उक्तियों में ग्राम्यत्व दोष भी कभी-कभी गुणवत् हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दोष की सत्ता और गम्भीरता प्रसंग और वातावरण पर बहुत निर्भर करती है। यही बात काव्यगुणों पर भी समान रूप से चरितार्थ होती है। इस तथ्य का निर्धारण करने के लिए कि अमुक दोष वस्तुतः दोष है अथवा नहीं—एकमात्र कसौटी यह है कि वह कथित दोष प्रमाता के मन में उद्वेग तो उत्पन्न नहीं करता। दूसरी बात यह है कि दोष का निर्धारण तो किसी भी सामान्य बौद्धिक स्तर के प्रमाता को स्वतः ही हो जाता है, उसकी खोज के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करने होते। वास्तविक दोष अपने आप में इतना स्पष्ट और उभरा हुआ होता है कि उसकी पहचान सहज ही हो जाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दोष-विषयक चिन्तन भारतीय काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण प्रकरण है और काव्य के सम्यक् मूल्यांकन में उसका निश्चित योगदान रहता है। इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि दोष अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और वे केवल गुणों के विपर्यय ही नहीं होते। इसके अतिरिक्त दोष अपने आप में इतने सुस्पष्ट और उभरे हुए होते हैं कि सामान्य विवेक-बुद्धि से युक्त प्रमाता के लिए भी उनकी पहचान कठिन नहीं होती। यह निर्विवाद है कि दोष काव्यत्व का हनन करते है। अतः किसी भी कवि को यथासम्भव दोषों से बचना चाहिए। तथापि किसी भी काव्य में दोष के आ जाने से ही उसका काव्यत्व समाप्त नहीं हो जाता है। सर्वथा निर्दोष काव्य तो केवल एक आदर्श स्थिति ही हो सकती है और उसकी प्राप्ति के लिए निष्ठापूर्ण प्रयास किये जाने में कोई दो मत नहीं हो सकते। तथापि इसका यह अर्थ भी नहीं निकाला जा सकता कि दोषों के प्रति उदारतापूर्ण दृष्टि रखी जाये और उनकी तनिक भी चिन्ता न की जाये। इस दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्रियों के अनेक वर्ग बनाये जा सकते हैं किन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण की कोई महत्ता नहीं हो सकती। यह भी उल्लेख्य है कि अधिकांश काव्यशास्त्री इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि दोषों का वास्तविक सम्बन्ध काव्य-रस के साथ होता है क्योंकि काव्य की आत्मा तो रस ही होता है।

10
काव्य का लक्षण और स्वरूप

काव्य विशुद्ध रूप से एक मानसिक व्यापार है और इस कारण इसे परिभाषा में बांधने की दिशा में प्रत्येक युग में किये गये प्रयास अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति के दोषों से परिपूर्ण रहे हैं। भारतवर्ष में काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा आज भी काव्य के कोई सर्वमान्य लक्षण देने का दम्भ नहीं कर सकती। तथापि मनुष्य की विश्लेषणवादी बुद्धि काव्य के लक्षण निरूपित करने की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रही है और यह सच है कि भले ही काव्य के सर्वमान्य लक्षण आज भी दो टूक ढंग से नहीं दिये जा सकते फिर भी काव्यशास्त्र के महान् अध्येताओं ने काव्य के सही स्वरूप को समझने के लिए एक नई दृष्टि अवश्य प्रदान की है। पहले ही कहा जा चुका है कि भारत में काव्यशास्त्रियों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है और प्रत्येक युग के काव्यशास्त्रियों, विचारकों ने अपने-अपने ढंग से काव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। काव्य की सच्ची प्रवृत्ति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्राचीन और अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों की एतद्-विषयक मान्यताओं एवं स्थापनाओं पर विचार किया जाये। अध्ययन की सुविधा के लिए इन काव्याचार्यों को तीन स्थूल श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(क) ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य, (ख) ध्वनि-प्रवर्त्तक आचार्य और (ग) ध्वनि-परवर्ती आचार्य।

ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्यों में भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी काव्याचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार काव्य के लक्षण प्रस्तुत किये किन्तु इस सम्बन्ध में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन विद्वानों ने काव्य के बाह्यरूप अथवा उसके शरीर तक का ही वर्णन किया। इन काव्याचार्यों की दृष्टि केवल काव्य-शरीर का सौन्दर्य ही निहार सकी और काव्य की आत्मा उनके लिए अछूती रही। भामह के मतानुसार शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है। भामह के शब्दों में—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि भामह ने शब्द और अर्थ का प्रयोग केवल 'शब्द' और 'अर्थ' के वाचक रूप में नहीं किया है। एक विद्वान् आलोचक के अनुसार, "इसमें भामह का प्रथम तात्पर्य तो

यह है कि शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार एवं सौन्दर्य पर समान रूप से ध्यान देना चाहिए। रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग और शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो, वही शब्द और अर्थ का सहित-भाव है।" भामह के पश्चात् दण्डी ने भी काव्य-शरीर का ही वर्णन करते हुए कहा, "शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवछिन्नापदावली' अर्थात् इष्ट अर्थों से युक्त पदावली ही काव्य-शरीर होती है। दण्डी के मतानुसार इष्ट अर्थों से अभिप्राय चमत्कारपूर्ण सुन्दर अर्थों से है। दण्डी द्वारा दी गयी यह परिभाषा भी निस्सन्देह काव्य के बाह्य-रूप का ही उद्घाटन करती है। तथापि दण्डी की इस परिभाषा में भावी काव्य-लक्षणों के बीजांकुर अवश्य दिखायी पड़ते हैं क्योंकि जगन्नाथ आदि भावी काव्यशास्त्रियों ने निश्चित रूप से दण्डी द्वारा प्रस्तुत इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए ही यह कहा होगा कि केवल 'शब्द' ही काव्य होते हैं, 'शब्दार्थ' नहीं। दण्डी की परिभाषा में प्रयुक्त 'पदावली' शब्द इस दृष्टि से विशेषरूप से उल्लेख्य है। भामह और दण्डी की परम्परा का निर्वाह करते हुए रुद्रट ने भी शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को काव्य स्वीकार किया है। रुद्रट के मतानुसार "ननु शब्दार्थो काव्यम्।"

भामह, दण्डी आदि की इस सुस्थापित परम्परा से तनिक हटकर वामन ने सर्वप्रथम काव्य के मौलिक लक्षण प्रस्तुत किये। वामन ने काव्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए मुख्यतः तीन बातें कहीं—

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यलंकारः।
स दोषगुणाऽलंकारहानादानाभ्याम्।
काव्यशब्दोऽयं गुणाऽलंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोवर्तते।
भक्त यातु शब्दार्थमात्रवचनोऽव गृह्यते।'

अर्थात् "अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है। अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य तभी होता है जबकि दोषों का अभाव और गुणों का सद्भाव हो। गुणों तथा अलंकारों से युक्त शब्दार्थ को ही काव्य कहते हैं, गौण वृत्ति से भले ही केवल शब्दार्थ को ही काव्य कहा जाये।" उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वामन ने केवल शब्दार्थ को ही काव्य नहीं माना है बल्कि उनका मूल आग्रह गुणों और अलंकारों से युक्त शब्दार्थ के प्रति रहा है। इस दृष्टि से वामन ने केवल काव्य की वास्तविक प्रकृति का ही उद्घाटन करने का प्रयास ही नहीं किया अपितु काव्य में गुणों और अलंकारों की महत्ता भी स्थापित की है। वामन की यह मान्यता है कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है। अलंकार का आशय है सौन्दर्य और सौन्दर्य का जन्म दोषों के परिहार तथा गुणों के समावेश से होता है। वामन ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है, 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।" काव्य-लक्षणों से सम्बन्धित इस युग के चिन्तन में वामन का योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वामन ही प्रथम काव्यशास्त्री हैं जिसकी दृष्टि काव्य-शरीर से हटकर काव्य की आत्मा में प्रविष्ट हुई। उसकी बहुचर्चित मान्यता थी कि काव्य की

आत्मा रीति होती है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। यह तो सम्भव हो सकता है कि वामन ने आत्मा का प्रयोग ठीक उन्हीं अर्थों में न किया हो जिन अर्थों में मम्मट, आनन्दवर्द्धन, क्षेमेन्द्र आदि परवर्ती काव्याचार्यों ने किया, तथापि इतना निर्विवाद है कि "वामन का यही संकेत आगे चलकर काव्यपुरुष में प्राण-संचार कर धीरे-धीरे इस रूपक की पूर्णता का कारण बन सका—

काव्यस्य शब्दार्थो शरीरम् रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत् दोषाः काणत्वादिवत् रीतयो, वयवसंस्थानवत् अलंकारा; कटक कुण्डलादिवत्।" वामन यह भी मानता है कि गुण काव्य का नित्य धर्म है और अलंकार अनित्य। दूसरे शब्दों में, वामन के मतानुसार केवल गुण काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं जबकि वलके अलंकार सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। अतः वामन के मतानुसार काव्य गुणों से अनिवार्यतः और अलंकारों से सामान्यतः युक्त होता है और साथ ही वह दोषरहित भी होता है। वामन की इस परिभाषा में चार बातें महत्त्वपूर्ण हुई—

(क) शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व होता है, केवल शब्दों अथवा केवल अर्थ का नहीं।
(ख) काव्य सर्वथा दोषरहित होना चाहिए।
(ग) गुण काव्य का अनिवार्य तत्त्व होता है; और
(घ) अलंकार काव्य का अनित्य अथवा वैकल्पिक तत्त्व होता है।

काव्य-लक्षणों से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी काव्याचार्यों ने मूलतः काव्य के बाह्य अथवा शरीर रूप का ही निरूपण किया था। वामन का उपर्युक्त विवेचन भी सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। वामन ने काव्य के जो लक्षण गिनाये हैं, वे अधिकांशतः वांछनीय अथवा वैकल्पिक हैं जबकि लक्षणों के अन्तर्गत केवल मूल और पार्थक्यकारी विशेषताएँ रहनी चाहिए।

ध्वनिप्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन ने काव्य-लक्षणों का सुस्पष्ट निरूपण कहीं नहीं किया। तथापि काव्य के स्वरूप को लेकर उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण बातें अवश्य कही हैं—'शब्दार्थ-शरीरं तावत्काव्यम्' तथा 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य'। इनमें से पहला कथन तो काव्य के बाह्य-रूप की ओर ही इंगित करता है। जबकि दूसरा कथन निस्सन्देह निर्जीव शरीर में प्राणों का संचार करता है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के मर्म की स्थापना की। अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान रूपों की स्थापना आनन्दवर्द्धन से पूर्व ही हो चुकी थी। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "ध्वनिचर्चा पहले से हो चली आ रही थी किन्तु ध्वनि-सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है। वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ को लेकर विद्वानों में पर्याप्त विचार-विनिमय होता रहा है। आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार प्रतीयमान अर्थ ही वस्तुतः ध्वन्यर्थ होता है, वाच्यार्थ को ध्वन्यर्थ का भेद नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है कि विश्वनाथ और उसी वर्ग के अन्य काव्याचार्यों के मतानुसार वाच्यार्थ की उपादेयता केवल यही है कि प्रतीयमान अर्थ का मूलाधार वही होता है। ध्वनि सम्प्रदाय के

महान् टीकाकार अभिनवगुप्त के मतानुसार वाच्यार्थ पर ही प्रतीयमान अर्थ टिका होता है। सचाई यह है कि वाक्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ मूलतः आधार और आधेय होते हुए भी एक समान महत्त्व रखते हैं। तथापि इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि वाच्चार्थ को काव्य की आत्मा का आदरपूर्ण स्थान दे दिया जाये, वह गौरवपूर्ण स्थान तो केवल प्रतीयमान अर्थ को ही प्राप्त हो सकता है। लोचनकार की मान्यता भी यही रही है और उसने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वाच्यार्थ को भी काव्य की आत्मा मान लेना उतना ही हास्यास्पद है जितना कि चार्वाक दर्शन के प्रवर्त्तकों द्वारा इन्द्रियों, बुद्धि अथवा मन को भी मानव-आत्मा का स्थान दिया जाना। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विश्वनाथ आदि काव्याचार्यों ने वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ दोनों को समान-स्तर पर प्रतिष्ठित करना उचित नहीं समझा और उनके मतानुसार काव्य की आत्मा वस्तुतः प्रतीयमान अर्थ में ही अवस्थित होती है। कुछ भी हो, आनन्दवर्द्धन ने वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ को समान महत्त्व दिया और इसका एकमात्र कारण यही था कि वे बिद्वत्परम्परा का विरोध कर सकते थे। तथापि आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक नितान्त नई अवधारणा को जन्म दिया किन्तु उनका ध्वनि-सिद्धान्त अपने आप में व्याख्यासापेक्ष है।

इस क्रम मे आनन्दवर्द्धन के पश्चात् कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-परवर्ती काव्याचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आरम्भ में तो उन्होंने काव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ ही दिया है—'कवेः कर्म काव्यम्'। इसी क्रम में कुन्तक यह भी कहता है।

तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।

अयमत्र परमार्थः। कालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेन अलंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकार योग इति। (अर्थात् सालंकार शब्दार्थ) की काव्यता है, यही यथार्थ है। अलंकार-सहित सम्पूर्ण अथवा अवयवरहित सभी की काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व है। अतः अलंकरण ही काव्य है और यह नहीं कि काव्य में अलंकारों का योग होता है।) कुन्तक के उपर्युक्त विवेचन से तीन महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं—पहली तो यह कि अलंकारयुक्त शब्दार्थ ही काव्य है, दूसरी यह कि अलंकार ही काव्य का मूल तत्त्व है और तीसरी यह कि काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्दार्थ के अवयव-रहित समुदाय में बनी रहती है। एक अन्य स्थल पर काव्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए कुन्तक कहते हैं कि—

शब्दार्थौं सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणि।

अर्थात् वक्रतायुक्त काव्यव्यापारयुक्त रचना जो कि काव्य मर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक हो, उसके शब्द और अर्थ अपने सहित रूप में काव्य कहलाते हैं। इस

विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक के मतानुसार शब्द और अर्थ का सहित रूप ही काव्य कहलाता है। अकेला शाब्दिक सौन्दर्य अथवा अर्थ का चमत्कार काव्य नहीं कहला सकता। उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ—दोनों का समान महत्त्व होता है—'साहित्यं तुल्यकक्षत्वे नान्यूनानतिरिक्तम्' अर्थात् साहित्य का अर्थ है—शब्द और अर्थ को एक समान महत्त्व प्राप्त हो, दोनों में से किसी एक का भी महत्व न कम हो, न अधिक। इस प्रकार कुन्तक के मतानुसार साहित्य का शब्द अर्थ शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य अथवा सहभाव है। यह सामंजस्य अथवा सहभाव भी साधारण नही होता, विशिष्ट होता है। यह विशिष्ट सहभाव अथवा सामंजस्य वक्रतापूर्ण तथा गुणालंकारों से युक्त होता है और कदाचित् इसी कारण काव्यमर्मज्ञों को आह्लाद प्रदान करने वाला होता है। कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—तद्विदाह्लाद-कारिणि'—यहाँ तत् का अर्थ है काव्य और विद् का आशय काव्य के मर्मज्ञों से है। इस प्रकार कुन्तक के मतानुसार, "काव्य उस कविकौशलपूर्ण रचना को कहते हैं जो कि अपने शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य के अनिवार्य सामंजस्य द्वारा काव्यमर्मज्ञ को आह्लाद देती है।" इसी प्रसंग में एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि काव्य किस प्रकार आह्लाद प्रदान करता है अथवा काव्यमर्मज्ञों को काव्य से आनन्द की प्राप्ति कैसे होती है। इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए कुन्तक ने काव्यमर्मज्ञों को आह्लाद प्रदान करने वाले काव्य के दो आधारों की चर्चा की है—पहला तो काव्य में शब्दार्थ की अपूर्वता अथवा वैचित्र्य और दूसरा रस-पोषण की सामर्थ्य। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कुन्तक की स्थापनाओं का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) काव्य का मूलाधार शब्द-अर्थ होता है किन्तु यह शब्दार्थ साधारण नहीं होता, विशिष्ट प्रकार का होता है। विशिष्टता का अभिप्राय यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ के बहुविध धर्मों में से केवल वही धर्म ग्राह्य होता है जिसमें वैचित्र्य और रस-पोषण की शक्ति होती है।

(ख) काव्य में शब्द और अर्थ का समान महत्व होता है और काव्य में शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य अनिवार्य होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के सहित भाव का आशय यही है कि उसमें शब्द अपने पूरे सौन्दर्य के साथ और अर्थ अपने पूरे चमत्कार के साथ समाविष्ट हो।

(ग) शब्द-अर्थ का यह सामंजस्य सामान्य शब्द-समूह के प्रयोग से नहीं अपितु वक्रतापूर्ण अथवा कविकौशलपूर्ण शब्दावली से ही उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

(घ) वक्रतापूर्ण तथा कविकौशलपूर्ण होने के साथ-साथ काव्य को आह्लाद-कारी भी होना चाहिए।

कुन्तक के उपर्युक्त काव्य लक्षणों से पुनः यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक भी भामह, दण्डी और वामन आदि देहवादी आचार्यों की परम्परा के ही काव्यशास्त्री हैं।

भामह ने भी काव्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' दण्डी ने इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को काव्य शरीर स्वीकार किया है। वामन ने गुण की अनिवार्यता और अलंकार की सामान्य स्थिति स्वीकार करते हुए दोषरहित शब्दावली को काव्य माना है। उपर्युक्त परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में कुन्तक द्वारा दी गयी परिभाषा एक प्रकार से तीनों को समाहित करती हुई दीखती है। वास्तविकता यह है कि कुन्तक का महत्व स्वतन्त्र रूप से काव्य लक्षण प्रस्तुत करने में नहीं अपितु भामह द्वारा दी गयी काव्य परिभाषा को और अधिक निश्चयात्मक तथा स्पष्ट रूप देने में हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "कुन्तक का गौरव काव्य का स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत करने में नहीं है। उनका महत्त्व भामह के लक्षण-सूत्र की व्याख्या करने में है। वास्तव में उन्होंने शब्द, अर्थ तथा साहित्य, भामह के इन तीन शब्दों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है।" इस क्रम में कुन्तक के पश्चात् आचार्य मम्मट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मम्मट के अनुसार 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणवनलंकृती पुनः क्वापि'—अर्थात् काव्य ऐसी शब्दार्थपूर्ण रचना होती है जिसमें दोषों का अभाव, गुणों का समावेश और प्रायः अलंकारों का सौन्दर्य होता है। मम्मट की इस काव्य परिभाषा के सम्बन्ध में परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से बहुविध आलोचनाएँ कीं जिन पर विचार किया जाना आवश्यक है। इस दृष्टि से आचार्य विश्वनाथ द्वारा उठायी गयी आपत्तियों पर प्रथमशः विचार किया जाना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ ने सर्वप्रथम 'अदोषौ' के सम्बन्ध में निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत कीं—

(क) विश्वनाथ के मतानुसार 'अदोषौ' के प्रयोग से मम्मट की काव्य-परिभाषा में अव्याप्ति-दोष आ जाता है क्योंकि ध्वनि-रूप उत्तम कोटि के काव्य को केवल इस कारण ही काव्य की श्रेणी से निकाला नहीं जा सकता कि उसमें कोई न कोई दोष रह गया है। विश्व साहित्य की महान् से महान् काव्यकृतियों में कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई दोष मिल ही जायेगा और केवल इसी दोष के कारण उसे काव्य की श्रेणी से बहिष्कृत कर देना निस्सन्देह अन्याय ही कहा जायेगा।

(ख) दूसरी आपत्ति यह है कि काव्य के सम्बन्ध में यह स्थिति सम्भव नहीं है कि उसके सदोष अंश को अकाव्य और दोषरहित अंश को काव्य की श्रेणी में विभाजित किया जा सके।

(ग) नितान्त दोषरहित काव्यरचना की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यदि ऐसा भी मान लिया जाये कि 'अदोषौ' से मम्मट का आशय यह है कि यथासम्भव काव्य दोषरहित होना चाहिए और यदि वह सदोष भी हो तो केवल थोड़े दोषों वाले काव्य को ही काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, तो इस विशेषण की निस्सारता अपने आप ही स्पष्ट हो जाती है। दोष तो एक हो अथवा अनेक, रहेंगे तो दोष ही। यदि दोष मात्र की उपस्थिति से ही कोई काव्य, काव्य नहीं रह जाता तो इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ सकता कि दोष कितने हैं और कैसे हैं।

इस सम्बन्ध में विश्वनाथ की उपर्युक्त आपत्तियाँ निस्सन्देह उनकी सूक्ष्म और

तर्कपूर्ण दृष्टि की परिचायक हैं। तथापि इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि मम्मट ने दोष का सम्बन्ध रसापकर्षक के साथ जोड़ा है। मम्मट के मतानुसार, "मुख्यार्थहति दोषः रसश्च मुख्यः-हतिरपकर्षः"—अर्थात् किसी सदोषपूर्ण रचना से रसापकर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होती तो उसके दोष नगण्य हो जाते हैं। मूल बात यह है कि काव्य के व्यंग्यार्थ का अपकर्ष नहीं होना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वनाभ की उपर्युक्त आपत्तियाँ सुदृढ़ आधार नहीं लिये हैं। वस्तुतः मम्मट ने 'अदोषो' शब्द का प्रयोग करके दोषों के नितान्त अभाव की ओर नहीं अपितु काव्य के आदर्श रूप की ओर इंगित किया है। आदर्श काव्य में दोषों के अभाव की स्थिति निस्सन्देह उसके आदर्श रूप की श्रीवृद्धि करती है।

विश्वनाथ की दूसरी आपत्ति 'सगुणो' को लेकर है। मम्मट के अनुसार गुण रस के धर्म होते हैं—'रसस्यांगिनो धर्माः' किन्तु अपनी काव्य-परिभाषा में उन्होंने सगुणो का प्रयोग शब्द-अर्थ के लिए किया है और विश्वनाथ की आपत्ति इसी प्रयोग को लेकर है। विश्वनाथ के अनुसार गुणों के बिना रस की स्थिति सम्भव ही नहीं है अतः मम्मट को सगुणो के स्थान पर 'सरसौ' का प्रयोग करना चाहिए था। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व काव्य में गुणों की स्थिति का विवेचन अत्यावश्यक है। मनुष्य के शौर्यवान रूप के सम्बन्ध में एक उक्ति है—"शौर्यवान् शरीर का नाम ही मनुष्य है।" इस उक्ति में मनुष्य के शौर्यवान रूप का सम्बन्ध उसके शरीर से नहीं अपितु उसकी आत्मा अथवा अन्तःप्रकृति के साथ कहा जा सकता है। यदि 'शौर्य' को आत्मा के स्थान पर शरीर का गुण भी मान लिया जाये, तो क्या इससे आत्मा की संयुक्तता सिद्ध हो जाती है। यदि ऐसा हो तो 'आत्मवान शरीर' को ही मनुष्य क्यों न कह दिया जाये। एक बात और, यदि उपयुक्त उक्ति का अर्थ यह है कि शौर्य पूर्ण शरीर का आशय मनुष्य से है तो भी शौर्यपूर्ण शब्द का प्रयोग दोषपूर्ण है। 'शौर्य' तो मनुष्य के उत्कर्ष का गुण है, उसे अशौर्यवान् व्यक्तियों से अलग करने का भेदकारक गुण है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि शौर्यवान् मनुष्यता का पर्याय है। शौर्यविहीन मनुष्य की कल्पना भी की जा सकती है।

इसके विपरीत मम्मट के समर्थकों ने 'सगुणो' का प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में किया है—सरसौ और गुणाभिव्यंजकों। सरसौ का आशय रसयुक्त पदावली से है और गुणाभिव्यंजकों का अर्थ गुणों से युक्त अभिव्यंजना से है। इसी क्रम में एक और महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि क्या केवल सफल अभिव्यंजना को ही काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह अत्यन्त स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि केवल शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य नहीं है और इसी प्रकार केवल सफल अभिव्यंजना भी काव्य नहीं कही जा सकती। एक विद्वान् आलोचक ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "प्रत्येक अर्थ और शब्द का सामजस्य काव्य नहीं है—रमणीय अर्थ और शब्द का सामंजस्य ही काव्य है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक (सफल) उक्ति काव्य नहीं है। सरस या रमणीय (रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली)

उक्ति ही काव्य है।" सीधे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभव नहीं, केवल समृद्ध अनुभव ही काव्य कहा जा सकता है।

मम्मट की काव्य परिभाषा का तीसरा महत्वपूर्ण अंग अलंकारों से सम्बन्धित है। मम्मट के शब्दों में, "अनलंकृती पुनः क्वापि"—इस सम्बन्ध में आचार्य जयदेव ने प्रथमशः आपत्ति उठायी। जयदेव के अनुसार शब्द-अर्थ को अलंकार-विहीन मानना ही सिद्धान्ततः दोषपूर्ण है। शब्द-अर्थ अलंकार रहित हो ही नहीं सकते। जयदेव के शब्दों में—

'अंगीकरीति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मावनुष्णननलंकृती॥'

अर्थात् अलंकारविहीन शब्द-अर्थ की कल्पना उतनी ही निराधार होती है जितनी कि उष्णता-रहित अग्नि की कल्पना। जयदेव की यह आपत्ति उनकी पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति की परिचायक है क्योंकि मम्मट के उपर्युक्त कथन को निस्सार सिद्ध करने में जयदेव ने मम्मट द्वारा प्रतिपादित अलंकार-रस के पारस्परिक सम्बन्ध और 'अस्फुट' शब्द की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। जयदेव की यह आपत्ति निस्सन्देह मम्मट के प्रति अन्याय ही कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति आचार्य विश्वनाथ की थी। विश्वनाथ के मतानुसार काव्य में अलंकार उत्कर्षक तत्त्व होते हैं, वे स्वयं काव्य नहीं कहे जा सकते। विश्वनाथ को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि अलंकारों के कारण काव्य की शोभावृद्धि होती है किन्तु उनकी दृष्टि में अलंकार की गणना काव्य-लक्षणों में नहीं की जा सकती क्योंकि अलंकार काव्य के लक्षण नहीं, केवल उसके उत्कर्षक होते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि स्वयं मम्मट के अनुसार "अनलंकृती पुनः क्वापि" से क्या अभिप्रेत है। इस पदांश की व्याख्या करते हुए मम्मट स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि "अनलंकृती पुनः क्वापि" से उनका आशय अलंकारों के नितान्त अभाव से नहीं अपितु 'स्फुटालंकार विरह' से है। मम्मट के मतावलम्बियों ने सरस और नीरस दो प्रकार के काव्यों के पुनः छः और भेद किये हैं—सरस स्फुटालंकार सहित, सरस अस्फुटालंकार सहित, नीरस स्फुटालंकार सहित, नीरस अस्फुटालंकार सहित—यही चार भेद वस्तुतः काव्य की श्रेणी में आते हैं। नीरस अलंकारशून्य काव्य जैसा कोई काव्य नहीं हो सकता। तथापि यह अवश्य आश्चर्य की बात है कि मम्मट ने सरस अलंकार शून्य काव्य को काव्य की श्रेणी में नहीं माना। स्पष्टतः उनके मतानुसार अलंकार-शून्य काव्य की स्थिति ही सम्भव नहीं है—उसका सरस अथवा नीरस होना तो बाद की बात है। जगन्नाथ के मतानुसार अलंकारशून्य काव्य की रचना भी सम्भव होती है और अपने इस तर्क की पुष्टि में जगन्नाथ ने 'उदेतिमण्डलविधोः' (अर्थात् चन्द्रमा

का मण्डल उदित हो रहा है) वाक्य उद्धृत किया है जिसमें अलंकार तो नहीं हैं फिर भी वह सरस काव्य-पंक्ति अवश्य है।

मम्मट की काव्य-परिभाषा में प्रयुक्त 'शब्दार्थों' को लेकर भी कतिपय विद्वानों ने आपत्तियाँ प्रकट की हैं। जगन्नाथ आदि काव्याचार्यों के मतानुसार काव्य वस्तुतः केवल शब्द तक ही सीमित है, शब्दार्थ तक नहीं। जगन्नाथ की मान्यता यह है कि वस्तुतः शब्द ही काव्य होता है। शब्द और अर्थ —दोनों पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और दोनों के संयोग से जो बनता है वह एक तीसरी और पृथक् सत्ता होगी। शब्द और अर्थ मिल कर काव्य नहीं बन सकते क्योंकि शब्द और अर्थ की पृथक्-पृथक् सत्ताएं हैं और इसी प्रकार शब्द अथवा अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से काव्य नहीं कहे जा सकते क्योंकि यदि ऐसा सम्भव हो जाये तो एक ही कविता में शब्दों और अर्थों की दो अलग-अलग काव्यधाराएँ प्रकट होंगी, जो कि सम्भव नहीं है। जगन्नाथ की इन दोनों आपत्तियों की परीक्षा करने पर उनकी निस्सारता स्वतः स्पष्ट हो सकेगी। जगन्नाथ के अनुसार व्यावहारिक भाषा में 'काव्यसुना' का प्रयोग किया जाता है और इस प्रकार जगन्नाथ ने काव्य का क्षेत्र केवल 'शब्द' तक स्वीकार किया था। जगन्नाथ के इसी तर्क के विरोध में एक विद्वान् कहते हैं कि काव्य केवल 'सुना' ही नहीं जाता अपितु 'समझा' भी जाता है और काव्य 'समझने' में केवल शब्द का ही नहीं, अर्थ का भी आभास होता है। विद्वानों के इस वर्ग के अनुसार काव्य वस्तुतः शब्दार्थ के भीतर होता है, केवल शब्द के भीतर नहीं। जगन्नाथ का दूसरा तर्क था कि शब्द और अर्थ की पृथक्-पृथक् सत्ताएँ होती हैं, अतः दोनों मिलकर काव्य नहीं कहे जा सकते। इस तर्क के उत्तर में विद्वान् कहते हैं कि "शब्द अथवा अर्थ में किसी एक के लिए रूढ़ालक्षणा द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। अतः शब्दार्थ को ही काव्य मानना समुचित है।" इस प्रकार मम्मट की यह स्थापना कि 'शब्दार्थों' काव्य होता है, अन्ततः और अधिक पुष्ट होती है।

मम्मट की काव्य-परिभाषा और उनके सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा उठायी गयी आपत्तियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी काव्य-परिभाषा को सर्वोच्च स्थान दिलाने में जगन्नाथ, विश्वनाथ तथा जयदेव आदि काव्याचार्यों द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का भरा-पूरा योगदान है। मम्मट द्वारा बताये गये काव्य-लक्षण वस्तुतः पुरातन काव्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षणों का ही संशोधित रूप हैं। मम्मट ने परम्परागत काव्य-परिभाषाओं को व्यवस्थित रूप दिया है और सचाई यह है कि उन्होंने काव्य में केवल अलंकारों को आदरपूर्ण स्थान दिया है। भारतीय काव्यशास्त्र में मम्मट का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यही है कि उन्होंने अपनी काव्य-परिभाषा में अलंकारों को समुचित स्थान दिया। अग्निपुराणकार और भोजदेव आदि काव्याचार्यों ने भी प्रायशः मम्मट की काव्य-परिभाषा का ही अनुकरण किया। मम्मट के काव्य-लक्षणों की यह परम्परा किसी-न-किसी रूप में भी बनी रही है और जिन परवर्ती काव्याचार्यों ने मम्मट द्वारा स्थापित परम्परा का अनुकरण किया है उसमें हेमचन्द्र

वाग्भट्ट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हेमचन्द्र की काव्य-परिभाषा इस प्रकार है।

'अर्थदोषौ सगुणौ सालंकारो च शब्दार्थौ काव्यम्।'

इसी क्रम में वाग्भट्ट की काव्य-परिभाषा भी उल्लेख्य है—

'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।'

अर्थात् दोषरहित, गुणों से युक्त और प्रायः अलंकारों से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। इन दोनों काव्य-परिभाषाओं को देखने पर मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य-परिभाषा के साथ इनका साम्य्यि स्वतः स्पष्ट है। सचाई तो यह है कि इन परवर्ती काव्याचार्यों ने घुमा-फिरा कर मम्मट की ही काव्य-परिभाषा को उद्धृत कर दिया है। अतः स्पष्ट है कि मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य-परिभाषा अत्यधिक लोकप्रिय हुई और उसकी परम्परा मम्मटोपरान्त भी अक्षुण्ण बनी रही। विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि काव्याचार्यों ने मम्मट की काव्य-परिभाषा को लेकर जो नाना प्रकार की आपत्तियाँ उठाई हैं, उनके मूल में स्वस्थ आलोचना की सुप्रवृत्ति नहीं अपितु कतिपय अन्य कारण थे। इन 'अन्य कारणों' को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान आलोचक कहते हैं कि "इस प्रकार परम्परापुष्ट और सर्वाधिक मान्य काव्य-लक्षण पर यदि उक्त रूप से आक्षेपों की भरमार हुई है तो इसका कारण मम्मट की वृद्धि-शील ख्याति को ही समझना चाहिए अन्यथा वामन, अग्नि-पुराणकार और भोजराज पर भी विद्वानों को आक्षेप करने की सुधि आई होती; विश्वनाथ तो हर युग में मिल जाते हैं।"

मम्मट की उपर्युक्त काव्य-परिभाषा वस्तुतः काव्य के केवल बहिरंग का ही निरूपण करती है। बहिरंग-निरूपण में मम्मट ने काव्य के बाह्य स्वरूप का वर्णन किया है। काव्य के अन्तरंग का निरूपण करने वालों में आचार्य विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि काव्याचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन काव्यशास्त्रियों ने पहली बार काव्य की आत्मा के भीतर प्रवेश करके उसके अन्तरंग गुणों का निरूपण किया। भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्य के बहिरंग और अन्तरंग तत्वों का निरूपण करने वाले काव्यशास्त्रियों की अपनी-अपनी परम्तराएँ विद्यमान हैं। इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "काव्य के दोनों प्रकार के लक्षण संस्कृत आलोचनाशास्त्र में मिलते हैं। पहले में काव्य के बाहरी रूप का, उसके अवयवों का, उसके अंगों के संगठन का वर्णन किया जाता है और दूसरे में वे विशेषताएँ दिखायी जाती हैं जो केवल काव्य में ही प्राप्त होती हैं, अन्यत्र नहीं। आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण प्रथम प्रकार का है और विश्वनाथ और जगन्नाथ का काव्य-लक्षण दूसरे प्रकार का।"

विश्वनाथ ने काव्य-लक्षण प्रस्तुत करने में मम्मट, कुन्तक सरीखे उद्भट काव्याचार्यों की परम्परापुष्ट मान्यताओं से अलग हटकर एक नितान्त नई बात कही। विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा, "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"

अर्थात् जिस वाक्य की आत्मा रस है, उसे काव्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में, रस रूपी अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाले वाक्य को काव्य कहा जाता है। विश्वनाथ के अनुसार, काव्य की आत्मा रस ही है। निस्सन्देह विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त रस व्यापक अर्थों का परिचायक है। रस के अन्तर्गत केवल रस ही नहीं अपितु भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि भी सहज ही आ जाते हैं। यदि मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों के साथ विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों की तुलना की जाये तो यह स्पष्ट होगा कि रस की स्थिति तो दोनों ने ही स्वीकार की है, अन्तर केवल यह है कि विश्वनाथ ने प्रत्यक्ष रूप से रस की सत्ता स्वीकार की है तो मम्मट ने अप्रत्यक्ष रूप से। तथापि विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण अपने आप में सर्वथा निर्दोष अथवा आदर्श नहीं कहे जा सकते। रस के जिस व्यापक अर्थ का प्रयोग विश्वनाथ को अभीष्ट था, वह स्वयं एक व्याख्याधीन बात है। दूसरी बात यह है कि जब विश्वनाथ रस की स्थिति वाक्य में मानते हैं तो उनका आशय यही है कि काव्य-शरीर तो केवल शब्द है, शब्दार्थ नहीं और उनकी यह मान्यता निर्दोष नहीं कही जा सकती।

इस क्रम में विश्वनाथ के पश्चात् जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है जिसने विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों को अत्यन्त संकीर्ण माना और इस दिशा में नये सिरे से विचार किया। जगन्नाथ के अनुसार केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहना, काव्य की परिभाषा को संकुचित करना है। जगन्नाथ के अनुसार, यदि हम इसी मान्यता को अन्तिम-वाक्य मान लेंगे तो अनेक महाकवि जिन्होंने अपने महाकाव्यों, काव्य-ग्रन्थों में समुद्रों, नदियों आदि का रोचक वर्णन किया है, चिन्तित हो उठेंगे क्योंकि इन काव्य-विषयों का रस के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है और इस कारण विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा के अनुसार ये काव्य-ग्रन्थ काव्य की श्रेणी से बहिष्कृत करने होंगे। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "इसलिए रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना काव्य के क्षेत्र को संकुचित करना है। संस्कृत के अलंकारप्रधान काव्यों में या पद्यों में रस की सत्ता नहीं रहती तो क्या ऐसे पद्यों में हम काव्यत्व नहीं मानें ? इसलिए रस के लिए ही काव्य में आग्रह दिखलाना न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता।" इस प्रकार जगन्नाथ ने काव्य-लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीयार्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं। जगन्नाथ के अनुसार शब्द और अर्थ वस्तुतः काव्य के शारीरिक अवयव होते हैं और इन दोनों के सम्मिश्रण से ही 'रमणीयार्थ' का प्रतिपादन सम्भव है। 'रमणीयार्थ' का आशय चमत्कारपूर्ण अर्थ से है। दूसरे शब्दों में, जगन्नाथ के अनुसार "जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक आनन्द का संचार करती है वह 'काव्य' कहलाती है।" निस्सन्देह जगन्नाथ द्वारा प्रयुक्त शब्द 'रमणीयार्थ' अपने आप में एक व्यापक आधार लिये है। जगन्नाथ ने जिस रमणीयता का आग्रह किया है, वह वामन के शब्दों में 'सौन्दर्य' दण्डी' के शब्दों में 'इष्टार्थ' और कुन्तक तथा आनन्दवर्द्धन के शब्दों में 'लोकोत्तर आह्लाद' का

परिचायक है। इस प्रकार जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ' को एक व्यापक आधार प्रदान करके काव्य-लक्षणों को एक अधिक तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक और सन्तुलित भाषा में प्रस्तुत किया।

इन संस्कृत काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों पर विचार कर लेने के पश्चात् हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। तथापि इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि हिन्दी के काव्याचार्यों का एतद्विषयक चिन्तन संस्कृत के पुरातन काव्याचार्यों से अत्यन्त प्रभावित है। अन्तर केवल यही है कि जो बात संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत में कही, वही बात हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने हिन्दी में कह दी। उदाहरण के लिए, रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत काव्य-परिभाषा देखिए :

'सगुण अलंकार न सहित दोषरहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित विबुध कहत सब होइ।'

तथा

'बतकहाउ रस में जुहै कवित्त कहावै सोइ।'

इसी प्रकार कुलपति मिश्र ने भी इसी से मिलती-जुलती बात इस प्रकार कही है :

'जगते अद्भुत सुखसदन सब्दरु अर्थकवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहुचित्त।'

काव्य-लक्षणों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि काव्यशास्त्रियों ने मुख्यतः दो दृष्टियों से काव्य-परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ काव्याचार्यों ने तो काव्य के केवल बहिरंग तत्त्वों का ही निरूपण किया और कुछ ने काव्य के अन्तरंग रूप का वर्णन किया है। भामह, दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने काव्य के बहिरंग का निरूपण किया है तो विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने काव्य की अन्तरात्मा को पहचानने का निष्ठापूर्ण प्रयास किया है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों की परम्परा में जगन्नाथ से पूर्व मुख्यतः तीन प्रकार की काव्य-परिभाषाएँ सामने आती हैं—भामह और रुद्रट ने शब्दार्थ के सहितभाव को काव्य स्वीकार किया और निस्सन्देह 'शब्दार्थ' से उनका आशय शब्द और अर्थ के परस्पर संयोग मात्र से था। इनके विपरीत जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा के अनुसार शब्दों में शब्दार्थ की केवल 'व्यासक्ति' ही प्रकट होती है। दूसरे प्रकार की काव्य-परिभाषाओं में मम्मट, जयदेव, भोजराज आदि काव्यशास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय हैं। मम्मट के अनुसार दोषरहित और गुणालंकार युक्त शब्दार्थ काव्य होता है परन्तु इस परिभाषा में लोकोत्तर आह्लाद का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, मम्मट की काव्य-परिभाषाओं में रस की सुस्पष्ट और प्रत्यक्ष स्वीकृति नहीं है। दूसरी ओर भोजराज तथा जयदेव

आदि ने रीति, गुण, अलंकार के साथ ही रस का भी उल्लेख किया है और इस प्रकार रस की सर्वोपरि स्थिति को आघात पहुँचता है। तीसरे प्रकार की काव्य-परिभाषाओं के प्रसंग में आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण उल्लेखनीय हैं। इन काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से काव्य-लक्षण प्रस्तुत करते हुए काव्य की आत्मा का नामकरण किया है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि, कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति और विश्वनाथ के अनुसार काव्य-परिभाषाएँ अपने आप में व्याख्यासापेक्ष हैं। जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है और इस कारण जगन्नाथ की परिभाषा अधिक सुगम और स्पष्ट है। विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा में 'रस' की स्थिति इतनी व्यापक नहीं है कि उसमें अलंकारगत भेदों तथा रसवत् आदि अलंकारों का समावेश हो सके।

तथापि जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा भी आदर्श परिभाषा नहीं कही जा सकती। जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा के सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि केवल शब्द को ही काव्य क्यों माना जाये, शब्दार्थ को क्यों नहीं। इस सम्बन्ध में कुन्तक की यह मान्यता बहुत प्रासंगिक है कि—शब्दार्थौ काव्यम् वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्"—अर्थात् वाचक शब्द और वाच्य अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप को काव्य कहते हैं। यही नहीं, 'साहित्य' शब्द भी अपने आप में 'साहित्य भाव' को समेटे हुए है। इस सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न यह भी उठता है कि काव्य-लक्षणों में शब्द और अर्थ के सहित भाव के प्रति इतना आग्रह क्यों आवश्यक है ? इस सम्बन्ध में कुन्तक ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि "ननु च वाच्यावाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोर्न कथंचिदपि साहित्यविरहः। सत्यमेतत् किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमीभप्रेतम्। कीदृशम् वक्रताविचिप्रगुणालंकार-सम्पदा परस्पर स्पर्धाधिरोहः"—अर्थात् यह तो ठीक है कि व्यवहार में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रति विशेष आग्रह नहीं होता, फिर भी काव्य में शब्दार्थ का विशिष्ट सहित भाव अभिप्रेत होता है और यह विशिष्ट सहित भाव है—गुणालंकारयुक्त सम्पदा (शब्दार्थ) का वक्रता के साथ परस्पर स्पर्धापूर्वक अधिरूढ़ होना। कुन्तक के मतानुसार, शब्द और अर्थ जब काव्य के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं तो उनके मध्य एक प्रकार की स्पर्धा बनी रहती है और यही स्पर्धा शब्द को अर्थ से और अर्थ को शब्द से अधिकाधिक ग्राह्य बनाती है। शब्द और अर्थ के सहितभाव की इतनी वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण व्याख्या कुन्तक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। कुन्तक की इस मान्यता को लेकर भी विद्वानों ने आपत्ति उठायी है और उनकी मूल शंका यह है कि शब्द और अर्थ अलग-अलग सत्ताएँ, दोनों मिलकर काव्य की 'एक' सत्ता का निर्माण कैसे कर सकते हैं। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कुन्तक कहता है, "तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्त्तते; न पुनरेकस्मिन्"—अर्थात् जिस

प्रकार प्रत्येक तिल के भीतर तेल समाया रहता है, ठीक उसी प्रकार सहृदयों का आह्लादकारित्व शब्द और अर्थ दोनों के भीतर रहता है, किसी एक के भीतर नहीं।" इस सम्बन्ध में कुन्तक एक और बहुत सशक्त तर्क उपस्थित करता है। उसके अनुसार व्यवहार में अथवा बोलचाल की भाषा में शब्द और नितान्त नपे-तुले रूप में प्रयुक्त न हों, तो भी चल सकता है किन्तु साहित्य में ऐसा सम्भव नहीं है। काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपने एक विशिष्ट अर्थ का परिचायक होता है और उसका प्रतिस्थापन प्रायः सम्भव ही नहीं होता। कवि की सफलता इसी एक बात में निहित है कि वह बीसियों पर्यावाचक शब्दों के भीतर से एक ही उपयुक्त शब्द का चयन करता है जो कि विवक्षित अर्थ को सर्वाधिक सफलता और स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है। एक स्वाभाविक प्रश्न वह उठता है कि जब जगन्नाथ काव्य-परिभाषा में केवल 'शब्द' की ही सत्ता स्वीकार करते हैं तो क्या वे कुन्तक के उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमति प्रकट करते हैं अथवा असहमति। इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं हो सकता कि जगन्नाथ केवल 'शब्द' को ही काव्य-शरीर मानते हैं और शब्दार्थ को नहीं। तथापि क्या शब्द और अर्थ की सत्ताएँ एक-दूसरे से विलग की जा सकती हैं। सचाई यह है कि शब्द एक बाह्य आकृति है और अर्थ उसका आन्तरिक रूप और इस प्रकार जगन्नाथ का केवल शब्द (शब्दार्थ नहीं) के प्रति आग्रह वस्तुतः उपचार से शब्दार्थ के प्रति ही है। जगन्नाथ के शब्दों में 'रमणीयार्थ' इसी शब्दार्थ के भाव से समाविष्ट है। मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने 'शब्दार्थ' की बात कही तो जगन्नाथ ने केवल 'शब्द' का प्रयोग करके और 'रमणीयार्थ' का आग्रह व्यक्त करके कुन्तक द्वारा प्रतिपादित शब्दार्थ के सहितभाव का पक्षपोषण किया है। जगन्नाथ के अनुसार 'अर्थ' तो शब्द का विशेषण है किन्तु मूलतः वे भी शब्द और अर्थ के सहितभाव के परम्परापुष्ट सिद्धान्त का खण्डन नहीं करते। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों में जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा निस्सन्देह सर्वाधिक वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण, सुगम और सर्वोत्कृष्ट है।

11
काव्य-हेतु

काव्य-हेतु का सीधा-सादा अर्थ ऐसे साधनों, तत्त्वों से है जिनके कारण काव्य-सृजन सम्भव होता है। कवि भी पहले एक व्यक्ति होता है और बाद में कवि। उसके जीवन के मधुर और तिक्त अनुभव उसकी प्रतिभा और कल्पना का संस्पर्श पाकर महान् काव्यकृतियों में ढल जाते हैं। यही प्रतिभा और कल्पना आदि काव्य-हेतु कहे जायेंगे। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "साधारण मानव भी विचारशील और संवेदनशील होता है किन्तु वह अपनी अनुभूति को छंदोबद्ध करके संवेद्य नहीं बना सकता, जैसा कि कवि काव्य-सर्जन के द्वारा कर सकता है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक व्यक्ति में काव्य-रचना के हेतुओं का उतना विकास नहीं हो पाया है जितना कवि-कर्म के लिए अपेक्षित है। जो कवि काव्य-रचना के हेतु कहे जाने वाले साधनों से जितना अधिक सम्पन्न होता है उसकी कविता उतनी ही अधिक समर्थ होती है।"

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विवेकानुसार काव्य-हेतुओं का वर्णन किया है और इस दृष्टि से दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। दण्डी ने तीन काव्य-हेतुओं का वर्णन किया है—

'नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्य-सम्पदः।'

अर्थात् दण्डी के मतानुसार काव्य-हेतु तीन हैं—निसर्गजात प्रतिभा, निर्भ्रान्त लोकशास्त्र ज्ञान और अमन्द अभियोग अर्थात् अभ्यास। वामन ने भी तीन काव्य-हेतु स्वीकार किये हैं—लोक, विद्या और प्रकीर्ण। वामन के मतानुसार लोक का आशय लोक-व्यवहार ज्ञान से है और विद्या के अन्तर्गत शब्दकोश, शब्दशास्त्र, छंद शास्त्र, कला, दण्डनीति आदि विभिन्न प्रकार की विद्याएँ आती हैं। शब्दशास्त्र से शब्द-बुद्धि का आविर्भाव होता है और शब्दकोश से शब्दों के अर्थों का सम्यक् ज्ञान होता है। छंदशास्त्र के ज्ञान से छंद-प्रयोग से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान हो जाता है। दण्डनीति वस्तुतः राजनीति के पर्यायवाचक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ

है। राजनीति के ज्ञान से नीति और अनीति की पहचान हो जाती है। कलातत्त्व की अनुपस्थिति में कला-सृजन सम्भव ही नहीं हो सकता। प्रकीर्ण के अन्तर्गत वामन ने पुनः छः हेतुओं की गणना की है—लक्ष्यज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिमान और अवधान। लक्ष्यज्ञान का आशय अन्य काव्यानुशीलन से है, अभियोग का आशय अभ्यास से और वृद्धसेवा का अर्थ गुरुजनों की सेवा है। अवेक्षण का आशय उपयुक्त शब्दों के चयन और प्रतिमान का अर्थ कवि-प्रतिभा है तथा अवधान का आशय चित्त को एकाग्रता से होता है। वामन के शब्दों में प्रकीर्ण के अन्तर्गत ये छः हेतु आते हैं, "लक्ष्यज्ञत्वयभियोगो वृद्धसेवा वेक्षणं प्रतिमानवधानंच प्रकीर्णम्।" मम्मट ने भी तीन ही काव्य-हेतु माने हैं—

'शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।'

अर्थात् शक्ति, लोक, काव्य, काव्यशास्त्र आदि के अवेक्षण से प्राप्त निपुणता तथा काव्यमर्मज्ञों से प्राप्त शिक्षा के माध्यम से किया जाने वाला अभ्यास—इन तीनों के समन्वित रूप को काव्य-हेतु कहते हैं। कुन्तक ने भी तीन ही काव्य-हेतु माने हैं—

'तस्यासारनि रासात् सारग्रहणाच्चचारुणः करणे।
मितयमिदं व्याप्रियते शाक्तव्युंत्पत्तिरभ्यासः।'

अर्थात् तीन काव्य-हेतु हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने किसी-न-किसी रूप में तीन ही काव्य-हेतु माने हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन तीनों काव्य-हेतुओं के सम्बन्ध में विभिन्न काव्यशास्त्रियों का विवेचन समझ लेना आवश्यक है जिससे कि इन काव्य-हेतुओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सके।

प्रतिभा—काव्य-सृजन के प्रसंग में सभी काव्यशास्त्रियों ने कवि-प्रतिभा को सर्वोपरि स्थान दिया है और कदाचित् यही वह तत्त्व है जो कि एक कवि और एक साधारण व्यक्ति के बीच विभाजन-रेखा के रूप में समझा जा सकता है। प्रतिभा क्या है—इस प्रश्न का उत्तर काव्यशास्त्रियों ने अपने ढंग से दिया है। इस सम्बन्ध में रुद्रट, भट्टतौत तथा जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय हैं। रुद्रट के अनुसार—

'मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेक धामिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति।'

अर्थात् जिसके बल पर कवि अपने एकान्त मन में विस्फुरित होने वाले बहुविध अभिधेयों अर्थात् काव्य-विषयों को अनुकूल शब्दों में सहज ही व्यक्त कर देता है उसे शक्ति अर्थात् प्रतिभा कहते हैं। रुद्रट ने इस कवि-प्रतिभा अथवा शक्ति के दो भेद माने हैं—

'प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सहजातावानयोस्तु ज्यायसी सहजा॥'

रुद्रट के अनुसार दो प्रकार की प्रतिभाएँ होती हैं—सहजा अर्थात् जन्मजात और उत्पादजा अर्थात् शास्त्रज्ञान, अभ्यास आदि के बल पर विकसित। इन दोनों प्रकार की प्रतिभाओं में रुद्रट सहजा को अपेक्षतया अधिक श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि सहजा प्रतिभा ईश्वरदत्त और जन्मजात होती है। सहजाशक्ति सम्पन्न कवि को अपने भीतर विस्फुरित होने वाले काव्य-विषयों की अभिव्यक्ति के लिए विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। उसके मन के भाव स्वतः ही कविता में उमड़ते चलते हैं और इस प्रकार सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्रभावित काव्य-स्रोत एक विशिष्ट आकर्षण और प्रभाव के लिए होता है। उत्पादजा शक्ति का वकास करना होता है और उसके लिए विद्वानों ने शास्त्रों का अध्ययन, लोकानुभव, सत्संग आदि उपाय बताये हैं। उत्पादजा शक्तिसम्पन्न कवि की कविताओं में भावों का वह सहज स्फूर्त प्रवाह नहीं दीख पड़ता जो कि सहजा-भक्ति प्राप्त कवियों की रचनाओं में मिलता है। इसी प्रकार राजशेखर ने भी दो प्रकार की प्रतिभाओं का वर्णन किया है। कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा। कारयित्री प्रतिभा के बल पर ही कवि काव्य-सृजन कर पाता है। राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा के भी पुनः तीन उपभेद और किए हैं—सहजा, आहार्या और औपचारिक। सहजा प्रतिभा जन्मजात और ईश्वर प्रदत्त होती है जबकि आहार्या प्रतिभा का विकास शास्त्राध्ययन तथा अभ्यास आदि द्वारा सम्भव होता है। भावयित्री प्रतिभा भावक अर्थात् पाठक में स्थिति होती है और इसी प्रतिभा के बल पर वह काव्यानन्द को प्राप्त करता है। भावयित्री प्रतिभा का विवेचन करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "जिस प्रतिभा से पाठक या श्रोता काव्य का अभिप्राय समझने में, भाव को हृदयंग करने में, कृतकार्य होता है वह भावयित्री प्रतिभा है।" राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा के जो तीन उपभेद किये हैं, वे मम्मट द्वारा प्रस्तुत शक्ति अथवा प्रतिभा के स्वरूप से पर्याप्त मेल खाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुद्रट, मम्मट तथा राजशेखर सभी ने किसी-न-किसी रूप में कवि-प्रतिभा के दो स्थूल भेद अवश्य स्वीकार किये हैं—जन्मजात प्रतिभा तथा उत्पादजा प्रतिभा और उसके साथ ही उत्पादजा प्रतिभा की तुलना में जन्मजात प्रतिभा की श्रेष्ठता भी स्थापित की है जो कि अन्यथा भी स्वतः सिद्ध है। भट्टतौत के अनुसार, स्वतः नये-नये अर्थों का उद्घाटन करने वाली प्रज्ञा भी प्रतिभा कहलाती है। भट्टतौत के शब्दों में, "प्रज्ञा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।" कवि की यह प्रतिभा अपने आप में एक अद्भुत शक्ति होती है जिसे पाकर कवि काव्य-सृजन करता है। कदाचित् इसी कारण अग्निपुराणकार ने कवि को काव्य-संसार का प्रजापति कहा है—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वतथेवं परिवर्तिते।'

कुन्तक के अनुसार—

'प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः'

अर्थात् पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों से परिपक्व, प्रौढ़ता को प्राप्त कवित्व शक्ति कवि-प्रतिभा कहलाती है। कुन्तक के मतानुसार कवि-प्रतिभा जन्मजात होती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा अथवा अभ्यास आदि से इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसका विकास अवश्य हो सकता है। मम्मट ने भी एक स्थल पर कवि-प्रतिभा के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—

'शक्तिः कवित्वबीज रूपः संस्कारी विशेषः।'

अर्थात् कवित्व-निर्माण के बीज रूप विशेष संस्कार को शक्ति अथवा कवि-प्रतिभा कहते हैं। आचार्य वामन ने भी इसी से मिलती-जुलती बात इस प्रकार कही है—

'कवित्वस्य बीजं प्रतिभानम्

अर्थात् प्रतिभा कवित्व का बीज है। दूसरे शब्दों में प्रतिभा के अभाव में कवित्व रूपी विश्व का जन्म ही सम्भव नहीं है।

प्रतिभा के इस स्वरूप विश्लेषण के पश्चात् इस सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि तीनों काव्य-हेतुओं में सर्वाधिक उत्कृष्ट काव्य-हेतु कौन-सा है ? इस सम्बन्ध में विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने शब्दों में प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता सिद्ध की है। प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता की सिद्धि में उसकी अनिवार्यता तो स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार दी बातें हुईं—एक तो यह कि काव्य-सृजन के लिए कवि-प्रतिभा अनिवार्य है और दूसरी यह कि कवि-प्रतिभा अन्य दो काव्य-हेतुओं की अपेक्षा उत्कृष्ट है। जहाँ तक पहली बात का प्रश्न है, भामह ने ही सर्वप्रथम कवि-प्रतिभा की अनिवार्यता सिद्ध की थी। भामह ने कहा था कि—

'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं ज धियोप्यलम्।
काव्यं तु जायते जाते कस्यचित् प्रतिभावतः।'

अर्थात् जड़बुद्धि व्यक्ति भी गुरु के उपदेशों के माध्यम से शास्त्र पढ़ सकता है परन्तु जहाँ तक काव्य-सृजन का प्रश्न है, वह कवि-प्रतिभा के बिना सम्भव नहीं है। दूसरा प्रश्न अन्य दो काव्य-हेतुओं की तुलना में प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता से सम्बन्धित है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया और अन्ततः यही सिद्ध पाया कि प्रतिभा अनिवार्य काव्य-हेतु है और अन्य दो काव्य-हेतु अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास गौण हैं और अपने आप में प्रतिभा के ही परिपोषक तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में, प्रतिभा तो ईश्वर प्रदत्त अथवा जन्मजात होती है किन्तु इसके सम्यक् विकास के लिए अभ्यास और व्युत्पत्ति आदि काव्य-हेतुओं की अपेक्षा रहती है। शास्त्रज्ञान, लोक-व्यवहार ज्ञान तथा अभ्यास आदि का संस्पर्श पाकर जन्मजात प्रतिभा और अधिक समर्थ और पैनी बन जाती है। इस सम्बन्ध में दण्डी की यह मान्यता उल्लेखनीय है—

'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।'

अर्थात् प्रतिभा एक अनिवार्य काव्य-हेतु है परन्तु कभी-कभी प्रतिभा के न होने पर भी श्रुत अर्थात् शास्त्रज्ञान और यत्न अर्थात् अभ्यास द्वारा उपासिता सरस्वती किसी-किसी व्यक्ति पर अनुकम्पा कर देती है। तथापि दण्डी अत्यन्त असंदिग्ध रूप में प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता अवश्य स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्द्धन के मतानुसार काव्य-सृजन के लिए प्रतिभा एक अनिवार्य तत्त्व है जिसका अभाव सहज ही खुल जाता है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार प्रतिभा का दोष नहीं छिपता जबकि अन्य दो काव्य-हेतुओं के अभाव को प्रतिभा आच्छादित कर देती है। व्युत्पत्ति के अभाव का दोष प्रतिभा (शक्ति) से सहज ही आच्छादित हो जाता है। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में—

'अव्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या सव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तितस्तस्य झगित्येवावभासते।'

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता सिद्ध की है। इसी प्रसंग में मम्मट के विचार भी उल्लेखनीय हैं। मम्मट के मतानुसार प्रतिभा कवित्व का बीजरूप होती है। मम्मट ने प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी आवश्यक बताया है और उनके मतानुसार तीनों काव्य-हेतुओं का समन्वित रूप ही काव्य-सृजन का कारण होता है। मम्मट के पश्चात् वाग्भट्ट ने भी प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए कहा है कि प्रतिभा तो अनिवार्य काव्य-हेतु है, व्युत्पत्ति काव्य का आभूषण है और अभ्यास केवल एक ग्राह्य काव्यहेतु के रूप में होता है, अनिवार्य अथवा आवश्यक नहीं। वाग्भट्ट के शब्दों में—

'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्ति कृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा।'

इस क्रम में वाग्भट्ट के पश्चात् हेमचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता सिद्ध की है। उसकी मान्यता है—

'प्रतिभा स्य हेतुः ! व्युत्पत्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।'

अर्थात् प्रतिभा ही काव्यहेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तो उस प्रतिभा का संस्कार अथवा परिष्कार ही करते हैं। कहना न होगा कि हेमचन्द्र प्रथम काव्याचार्य हैं जिन्होंने प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता अत्यन्त असंदिग्ध रूप से स्वीकार की है। वाग्भट्ट द्वितीय ने भी एकदम यही बात कही है और उनके मतानुसार व्युत्पत्ति और अभ्यास तो प्रतिभा के ही हेतु हैं, काव्य के नहीं। वाग्भट्ट द्वितीय के शब्दों में—

'व्युत्पत्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः।'

जयदेव ने प्रतिभा की सापेक्ष उत्कृष्टता का भाव अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लता का उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार लता का बीज मिट्टी और पानी के संसर्ग से लता का रूप धारण करता है, ठीक उसी प्रकार कवि-प्रतिभा भी व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त होकर काव्य का रूप धारण करती है। जयदेव के शब्दों में—

'प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति ।
हेतुर्मृ दम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥'

आचार्य जगन्नाथ ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य-हेतु स्वीकार किया है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का कारण माना है। इस सम्बन्ध में जगन्नाथ की मान्यता हेमचन्द्र के प्रतिभा सम्बन्धी वर्णन से बहुत अधिक मेल खाती है। अन्तर केवल यह है कि जगन्नाथ के अनुसार, ऐसी स्थिति भी सम्भव हो सकती है जबकि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के कारण न हों, अर्थात् प्रतिभा ईश्वरीय वरदान भी हो सकती है, किसी देवता अथवा महापुरुष की कृपा का प्रसाद भी हो सकती है। जगन्नाथ के शब्दों में—

'तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवता—पुरुष प्रासादादिजन्यमदृष्टम् ।
क्वचिच्चविलक्षण व्युत्पत्ति काव्यकरणाभ्यासो, न तुभयमेव ।'

व्युत्पत्ति—पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने तीन काव्य-हेतु माने हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन तीनों काव्य-हेतुओं में भी प्रतिभा की अनिवार्यता और उसकी सापेक्ष उत्कृष्टता के सम्बन्ध में पीछे विवेचन किया जा चुका है। जहाँ तक व्युत्पत्ति नामक काव्य-हेतु का प्रश्न है, इसका शाब्दिक अर्थ है—प्रगाढ़ पाण्डित्य। व्युत्पत्ति का स्वरूप विवेचन करते हुए भामह कहते हैं—

'छन्दो व्याकरणकलालोकस्थिति पदपदार्थ विज्ञानात् ।
युक्तायुक्त विवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन् ।'

अर्थात् व्युत्पत्ति का अर्थ है छंद, व्याकरण, कला, लोकस्थिति तथा पदार्थों के ज्ञान से प्राप्त युक्तायुक्तविवेक। मम्मट ने भी अपने काव्य-हेतुओं सम्बन्धी वर्णन में व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है। मम्मट ने व्युत्पत्ति के लिए निपुणता का प्रयोग किया है और यह निपुणता चराचर जगत् को देखने और काव्यशास्त्र आदि के सम्यक् अध्ययन से प्राप्त होती है—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।'

एक काव्य-हेतु के रूप में व्युत्पत्ति की सार्थकता और उपादेयता असंदिग्ध है। केवल भावुक अथवा प्रतिभावान होने से ही काव्य सृजन नहीं हो जाता, अपितु श्रुति, स्मृति, पुराण, लोक-व्यवहार आदि का ज्ञान भी होना उतना ही आवश्यक है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य का क्षेत्र अपरिमित होता है और उसके भीतर क्या कुछ नहीं समा सकता। कदाचित् इसी कारण भामह कहते हैं कि—

'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कलाः ।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः ।'

अर्थात् ऐसा न तो कोई शब्द होता है, न कोई अभिव्यक्ति और न कोई कला जिसे काव्य का अंग न कहा जा सकता हो। कवि के इतने विस्तृत और अपार संसार से कुछ भी तो अछूता नहीं होता अतः स्वभावतः शास्त्रज्ञान, स्मृति, पुराण आदि का अध्ययन काव्य-सृजन के लिए समान रूप से आवश्यक है। कवि-प्रतिभा

तो जन्मजात हो सकती है किन्तु उसका समुचित विकास न होने पर काव्य-सृजन सम्भव नहीं होता और उस विकास का एकमात्र आधार है प्रगाढ़ पाण्डित्य अर्थात् व्युत्पत्ति ।

अभ्यास—तीसरा काव्य-हेतु अभ्यास होता है । अभ्यास के शाब्दिक अर्थ में कोई कठिनाई नहीं है । प्रस्तुत प्रसंग में अभ्यास का आशय काव्य-निर्माण, चिन्तन, मनन और पठन आदि से है । काव्य-सृजन से कुशलता प्राप्त करने का एक महत्त्व-पूर्ण साधन है अभ्यास । एक विद्वान् ने कहा भी है—'अभ्यासो हि कर्मसु कौशलया-वहति ।' वस्तुतः प्रतिभा और व्युत्पत्ति के साथ-साथ अभ्यास की भी निरन्तर अपेक्षा रहती है । निरन्तर अभ्यास से कवि की अभिव्यंजना में, भावाभिव्यक्ति में और अधिक प्रांजलता, माधुर्य और प्रभावशालिता का उदय होता है । इसी अभ्यास के कारण महाकवि तुलसी "रामचरितमानस" का और महाकवि जयशंकर प्रसाद "कामायनी" सरीखे महाकाव्य का सृजन कर पाये । इन महान् कृतियों में इन महाकवियों की काव्य-प्रतिभा अपने पूरे निखार पर है और निस्सन्देह यह निखार उनकी पूर्व रचनाओं में नहीं दीख पड़ता ।

काव्य-हेतुओं से सम्बन्धित विवेचन से तीन महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण सामने आते हैं—(1) प्रतिभा अनिवार्य है, (2) व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के हेतु अथवा कारण हैं और प्रतिभा काव्य का अनिवार्य हेतु है और (3) प्रतिभा काव्य का हेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा के हेतु हैं । एक चौथी स्थिति भी हो सकती है—किन्हीं विशेष परिस्थितियों में प्रतिभा के अभाव में भी काव्य-सृजन हो सकता है । पहले दृष्टिकोण के समर्थकों में भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय हैं । दूसरे वर्ग के काव्यशास्त्रियों में आनन्दवर्द्धन और मम्मट के नाम उल्लेख्य हैं तथा तीसरे वर्ग में हेमचन्द्र, वाग्भट्ट द्वितीय तथा जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्री आते हैं । चौथी स्थिति के एकमात्र समर्थक दण्डी हैं । काव्य-हेतुओं सम्बन्धी उपर्युक्त दृष्टिकोणों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि तीनों काव्य-हेतु अर्थात् प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य-सृजन के लिए आवश्यक हैं । इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त काव्य-हेतुओं में कोई भी अकेला काव्य-हेतु काव्य-सृजन का कारण नहीं बन सकता । अपने अलग-अलग रूप में कोई भी काव्य-हेतु तब तक काव्य-सृजन के लिए सक्षम नहीं हो सकता जब तक कि अन्य दो काव्य-हेतुओं का भी समावेश न हो । यदि किसी कवि को ईश्वरीय वरदान के रूप में प्रतिभा प्राप्त हुई है, तो उस कवि-प्रतिभा के सम्यक् विकास के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास आदि काव्य-हेतुओं की अपेक्षा रहती है । सचाई यह है कि तीनों काव्य-हेतु एक दूसरे के पूरक होते हैं । रुद्रट ने स्पष्टतः कहा है कि—'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः' अर्थात् तीनों काव्य-हेतुओं को ही यथा-योग्य महत्त्व दिया जाना उचित होगा । मम्मट ने भी तीनों काव्य-हेतुओं के सम्मिलित रूप का समर्थन किया है । इसी प्रकार वाग्भट्ट (प्रथम) ने भी प्रतिभा को

अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है फिर भी वे अन्य दो काव्य-हेतुओं को विस्मृत नहीं कर सके। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य-सृजन के लिए अकेली प्रतिभा ही नहीं अपितु अन्य दोनों काव्य-हेतुओं की भी अपेक्षा रहती है। यदि इन तीनों काव्य-हेतुओं के स्थान निर्धारण का प्रश्न उपस्थित होता है तो कहा जा सकता है कि काव्य-सृजन के बीज रूप में कवि-प्रतिभा होती है और व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्थिति मिट्टी और पानी की-सी होती है जिनके अभाव में प्रतिभा रूपी बीज लता रूपी काव्य का रूप धारण नहीं कर सकता। बीज तो अनिवार्य है किन्तु उसके लतारूप में विकसित होने के लिए मिट्टी और जल भी समान रूप से आवश्यक है। दो शब्दों में, कहा जा सकता है कि तीनों काव्य-हेतु ही अपने सम्मिलित रूप में कविकर्म के हेतु हैं।

12
काव्य-प्रयोजन

संसार का प्रत्येक कार्य सोद्देश्य होता है और यहाँ तक कि निष्काम भाव से किए जाने वाले कार्यों के पीछे भी कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य रहता है। अतः काव्य अथवा शास्त्र के भी कुछ प्रयोजन होते हैं, यह बात अलग है कि वे प्रयोजन स्थूल अथवा प्रत्यक्ष दीखने वाले न होकर सूक्ष्म और अदृश्य होते हैं। प्राचीन काव्य ग्रन्थों में कविगण प्रायः काव्य-प्रणयन का प्रयोजन भी स्पष्टतः बता दिया करते थे। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्य-प्रयोजनों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार-विनिमय हुआ है। काव्य सम्बन्धी अन्य प्रश्नों की भाँति ही काव्यशास्त्रियों ने काव्य-प्रयोजनों के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं। इस दृष्टि से भामह, रुद्रट, वामन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संस्कृत के आद्याचार्य भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में नाटक (जो एक प्रकार का काव्य माना जाता है) के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा है कि—

'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥'

अर्थात् नाटक, धर्म, यश और आयु का साधक, हितकारी, बुद्धि को बढ़ाने वाला और लोकोपदेश देने वाला होता है। भामह के अनुसार—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षणमं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥'

अर्थात् उत्तम काव्य के निर्माण से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है और सारी कलाओं में निपुणता, प्रीति तथा कीर्ति की उत्पत्ति होती है। उपर्युक्त दोनों काव्याचार्यों के काव्य-प्रयोजनों का विश्लेषण करने पर दोनों में पर्याप्त साम्य दीखता है।

आचार्य वामन ने काव्य-प्रयोजनों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन को लेकर वामन का अग्रांकित विवेचन महत्त्वपूर्ण है—

प्रश्न—अलंकारवान् काव्य से ऐसा क्या लाभ है जो उसके लिए इतना प्रयत्न किया जाये ?

उत्तर—सत्काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है—ये हैं प्रीति (आनन्द) और कीर्ति। सुन्दर काव्य का दृष्ट प्रयोजन है आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन है कीर्ति। वामन ने काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा है—

'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्।'

अर्थात् काव्य का दृष्ट प्रयोजन आनन्द है और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति है। भोज ने भी काव्य के यही दो प्रयोजन बताए हैं—

'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीति च विंदति।'

इसके बाद के आचार्यों का काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी चिन्तन इन पूर्ववर्ती काव्याचार्यों के चिन्तन से अत्यधिक प्रभावित है। रुद्रट और कुन्तक ने इन सर्व-स्वीकृत काव्य-प्रयोजनों के अतिरिक्त चतुर्वर्ग फलप्राप्ति को भी काव्य का एक मुख्य प्रयोजन स्वीकार किया—

'ननु काव्येन् क्रियते स रसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥'

विश्वनाथ ने पुनः चतुर्वर्ग को एक काव्य-प्रयोजन माना और अग्निपुराणकार ने मोक्ष के अतिरिक्त त्रिवर्ग को काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया—

'त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत्।'

रुद्रट द्वारा प्रस्तुत अन्य प्रयोजन हैं—

'अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचित रुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः।
नुत्वा तथा हि दुर्गा के चित्तीर्णा दुस्तारं विपदम्।
अपरे रोगविमुक्ति वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम्।'

अर्थात् काव्य के अन्य प्रयोजन हैं अनर्थोपशम, विपद-निवारण, रोग से मुक्ति तथा अभिमत वर की प्राप्ति। इसी प्रकार कुन्तक द्वारा प्रस्तुत अन्य प्रयोजन हैं—

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।
व्यवहारपरिस्पन्द सौंदर्यव्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥

अर्थात् काव्य के अन्य प्रयोजन हैं—व्यवहारौचित्य का ज्ञान और हृदयाह्लाद व अन्तश्चमत्कार। इन तीनों काव्य-प्रयोजनों के सम्बन्ध में कुछ विचार किया जाना आवश्यक है। कुन्तक ने सर्वप्रथम चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के प्रयोजन का उल्लेख किया है जिसका आशय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार फलों की प्राप्ति से है। भामह ने भी इसी चतुर्वर्ग फलप्राप्ति की बात कही है। इसी प्रकार रुद्रट और

विश्वनाथ ने भी काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए चतुर्वर्ग फलप्राप्ति का अनिवार्यतः उल्लेख किया है।

कुन्तक के अनुसार काव्य का दूसरा प्रयोजन व्यवहार औचित्य का ज्ञान होता है। इस सम्बन्ध में कुन्तक कहता है कि (व्यवहार अर्थात् लोकोचार के सौन्दर्य का ज्ञान व्यवहार करने वाले जनों को उत्तम काव्यों के परिज्ञान से ही होता है। × × वह सौन्दर्य कैसा है : नूतन औचित्य युक्त। इसका यह अभिप्राय हुआ कि (उत्तम काव्यों में) राजा आदि के व्यवहार का वर्णन होने पर उनके अंगभूत प्रधान मंत्री आदि सब ही अपने-अपने उचित कर्त्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही वर्णित होने से व्यवहार करने वाले समस्त जनों को (उनके उचित) व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए सुन्दर काव्यों में परिश्रम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति लोक-व्यवहार की क्रियाओं में सौन्दर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है।" इस विवेचन से दो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं—पहला तो यह कुन्तक के अनुसार व्यवहारौचित्य से आशय ऐसे उचित व्यवहार से है जो कि मर्यादित, शिष्टाचार युक्त तथा परिस्थिति के अनुकूल होने के साथ-साथ सुन्दर और आकर्षक भी हो। दूसरा यह कि काव्य का फल केवल राजकुमारों के लिए ही नहीं अपितु सामान्य सहृदय के लिए भी होता है।

कुन्तक ने तीसरे प्रयोजन के रूप में अन्तश्चमत्कार का उल्लेख किया है। कुन्तक के मतानुसार श्रेष्ठ काव्य के पठन से भावक के हृदय में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। कुन्तक के मतानुसार यह अन्तश्चमत्कार वस्तुतः चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी अधिक श्रेयस्कर होता है और इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि काव्य का आनन्द उसके अध्ययन के समय और तदुपरान्त भी होता है। इस प्रकार काव्य के अध्ययन की साधना और उसकी परिणति दोनों ही आह्लादकारिणी होती हैं। स्पष्टतः कुन्तक भी अन्ततः काव्य-प्रयोजन आनन्द को ही मानते हैं जिसकी महत्त्वप्रतिष्ठा उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों ने भी की है। इन सभी काव्य-शास्त्रियों के द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रयोजनों ने मम्मट के एतद्विषयक चिन्तन को पूरी तरह प्रभावित किया। वामन और भामह आदि ने जिन काव्य-प्रयोजनों की स्थापना की थी, परवर्ती आचार्यों (जिनमें मम्मट भी सम्मिलित हैं) ने उन्हीं काव्य-प्रयोजनों को निश्चयात्मक और स्पष्टता प्रदान की। मम्मट ने काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥'

अर्थात् मम्मट के अनुसार काव्य के छः प्रयोजन हैं—यश, अर्थ, व्यावहारिक ज्ञान, अशिव अथवा अमंगल की क्षति, तात्कालिक आनन्द की प्राप्ति और कान्ता-सम्मित उपदेश। भामह और वामन द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रयोजनों का सूक्ष्म विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो सकेगा कि मम्मट के काव्य-प्रयोजनों में और भामह वामन के

काव्य-प्रयोजनों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है, बल्कि सचाई तो यह है कि तत्त्वतः इन दोनों में पर्याप्त साम्य है। मम्मट के शब्दों में जिस अशिव की क्षति की बात कही गयी है उसका भरत के 'हित' में और भामह के चतुर्वर्ग में सहज ही अन्तर्भाव हो जाता है। मम्मट के काव्य-प्रयोजन, मम्मट के परवर्ती आचार्यों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुए। मम्मट के ये काव्य-प्रयोजन कवि और भावक दोनों को केन्द्र बिन्दु मान कर प्रस्तुत किये गये हैं अतः उनके सम्बन्ध में किंचित विस्तार से विचार किया जाना अपेक्षित है। मम्मट ने काव्य-प्रयोजनों में सर्वप्रथम यश का उल्लेख किया है। यश की कामना एक मानवोचित दुर्बलता है जिसके सम्बन्ध में कालीदास ने भी कहा है—

'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभदुरबाहुरिव वामनः॥'

अर्थात् "यश की कामना मानव-मन की एक स्वाभाविक एवं प्रमुख विशेषता है जिसे उदात्त मानव की बहुत बड़ी कमजोरी भी कहा गया है।" अन्यथा भी भारतीय विद्वानों, समाजशास्त्रियों ने मनुष्य की तीन सर्वाधिक प्रमुख एषणाएं स्वीकार की हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा। कहना न होगा कि यही लोकैषणा किसी-न-किसी रूप में काव्य के क्षेत्र में भी विद्यमान रहती है। यहाँ तक कि स्वान्तः सुखाय साहित्य-सृजन करने वाले महाकवि तुलसीदास भी इस लोकैषणा की महत्ता स्वीकार करते हैं—

'जो प्रबन्ध बुध नहि आदरहिं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।'

कहने का आशय यह है कि यश की कामना प्रकट अथवा छद्म रूप में अवश्य ही बनी रहती है। तथापि यश की वही कामना श्रेयस्कर कही जायेगी जहाँ यशप्राप्ति के लिए प्रकटतः प्रयास न किया जाये। यश माँगने से नहीं, स्वतः मिलता है। कवि का श्रेष्ठ काव्य स्वयं उसे और उसकी कृति को अमरत्व प्रदान करता है।

मम्मट की दृष्टि में काव्य का दूसरा प्रयोजन अर्थप्राप्ति होता है। हिन्दी काव्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हिन्दी के कई कवियों को काव्य से धन और विपुल सम्पदा की प्राप्ति हुई है। केवल बिहारी तथा कई अन्य रीतिकालीन कवियों को राजाश्रय के अतिरिक्त बहुत-सी सम्पत्ति, धन आदि की प्राप्ति हुई थी। यही नहीं, आधुनिक युग में तो ऐसे कवियों और साहित्यकारों का अभाव नहीं है जिन्होंने केवल अर्थ-प्राप्ति के लिए ही साहित्य-सृजन किया है और अभी भी कर रहे हैं। अतः अर्थ-प्राप्ति काव्य का एक प्रयोजन अवश्य कहा जा सकता है। काव्य-प्रयोजनों से सम्बन्धित आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन तो पूर्णतः इसकी पुष्टि करता है। पाश्चात्य विद्वानों का एक बड़ा वर्ग काव्य को एक कला मानता है और कला की जीवन के अर्थों में व्याख्या की है और आधुनिक जीवन में अर्थ की महत्ता स्वतः सिद्ध है। तथापि इतना निर्विवाद है कि यह प्रयोजन अनिवार्यतः कविनिष्ठ ही होता है, भावक का इससे कोई सम्बन्ध नहीं होता। जीवन और काव्य में अर्थ की

इतनी महत्ता सिद्ध होते हुए भी ऐसे महान् कवि और साहित्यकार भी अवश्य देखे गए हैं जिन्होंने अर्थप्राप्ति के क्षुद्र प्रयोजन से ऊपर उठकर साहित्य-सृजन किया है। हिन्दी में ही नहीं, विश्व की विविध भाषाओं के साहित्य में कई कुम्भनदास मिलेंगे जिनका आदर्श वाक्य था—"सन्तन कहा सीकरी सो काम।' सूर अथवा तुलसी जैसे महान् कवियों ने भी स्वांतः सुखाय रचना की थी और उनके समय अर्थ की महत्ता निश्चित रूप से वह नहीं रही होगी जो कि आधुनिक युग में दीख पड़ती है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि हिन्दी का श्रेष्ठतम साहित्य कम से कम अर्थ-प्राप्ति के प्रयोजन को लेकर नहीं रचा गया अन्यथा वह इतना अधिक जीवन्त और सशक्त नहीं हो सकता था।

मम्मट ने तीसरा काव्य-प्रयोजन 'व्यवहार ज्ञान' बताया है। इस प्रयोजन का सीधा सम्बन्ध भावक के साथ होता है क्योंकि काव्य के अध्ययन से उसे बहुविध ज्ञान प्राप्त होता है, जीवन के नाना रूपों की झाँकी मिलती है, अतीत के स्वर्णिम चित्रों से प्रेरणा प्राप्त होती है और जीवन के नए अर्थों, भावभूमियों का साक्षात्कार होता है। महाकाव्य के महान् पात्रों का जीवन पाठकों के लिए प्रेरणा-स्रोत सिद्ध होता है और समूचे समाज में उदात्त चरित्रों, मर्यादा-सम्पन्न उच्चादर्शों का प्रसार होता है।

मम्मट ने अमंगल निवारण को चौथा काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया है। काव्य मूलतः जीवन की झाँकी होता है अतः जीवन से हटकर सत्काव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस काव्य-प्रयोजन का सम्बन्ध कवि और भावक दोनों के साथ होता है। महाकवि तुलसीदास ने इसी काव्य-प्रयोजन का पक्षपोषण करते हुए 'मानस' में कहा है—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कह हित होई।'

वही काव्य श्रेष्ठ है जो कि गंग की भाँति सभी के लिए हितकारी, कल्याण-कारी हो। वस्तुतः काव्य का मूल उद्देश्य "मनुष्य को उसकी स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से उपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, परदुखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत् के भीतर चिरस्तब्ध 'एक' की अनुभूति के द्वारा प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही है।····काव्य कोई संकीर्ण बुद्धिविलास नहीं है। वह मनुष्य के जीवन के सब कुछ को लेकर बनता है।"

मम्मट ने 'सद्यः परनिवृत्ति' के पांचवें प्रयोजन के माध्यम से शान्तिजन्य आनन्द तथा मोक्ष की प्राप्ति की बात कही है। हेमचन्द्र ने भी 'काव्यम् आनन्दाय' कहकर काव्य का प्रयोजन आनन्द ही सिद्ध किया है। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर सरीखा आदरपूर्ण स्थान दिया है। काव्य एक ऐसी उच्च भावभूमि का निर्माण करता है जहाँ पाठक के व्यक्तित्व के क्षुद्र

बन्धन स्वतः टूट जाते हैं, जीवन की विषमताएँ और विसंगतियाँ विस्मृत हो जाती हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी काव्यानन्द को एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन स्वीकार किया है। महाकवि ने जिस स्वान्तःसुखाय को लेकर 'रघुनाथगाथा' के रूप में मानस की रचना की थी, वह वस्तुतः काव्यानन्द ही तो है। तथापि इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि काव्यानन्द के प्रयोजन का सम्बन्ध कवि तथा भावक दोनों के साथ है। कवि अपने भीतर की बात कहकर एक अनोखे आनन्द की अनुभूति करता है तो भावक उस अभिव्यक्ति में अपनी ही बात पाकर झूम उठता है। इस काव्यानन्द की महत्ता अनेक काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार की है। आचार्य कुन्तक के मतानुसार तो काव्य से प्राप्त होने वाला आनन्द धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भी कहीं अधिक आनन्दमय होता है, एक प्रकार का अन्तश्चमत्कार उत्पन्न होता है। पाश्चात्य साहित्य जगत् में 'कला, कला के लिए' का बहुचर्चित सिद्धान्त वस्तुतः इसी काव्यानन्द से अनुप्रेरित है। अतः यह सिद्ध है कि कलाकार अथवा कवि को कला से एक अभूतपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है जिसमें भावक भी सहज हो डुबकी लगा लेता है।

मम्मट की दृष्टि में काव्य का अन्तिम और छठा प्रयोजन कान्तासम्मित उपदेश देना होता है। उपदेश तीन प्रकार से दिया जा सकता है—(क) प्रभुसम्मित, (ख) सुहृत्सम्मित तथा (ग) कान्तासम्मित। वेद और प्राचीन धर्मशास्त्र ग्रन्थों में जो आज्ञामूलक आदेश आदि होते हैं, उन्हें प्रभुसम्मित उपदेश कहा जा सकता है। ऐसे उपदेश अपनी प्रकृति से आज्ञामूलक होते हैं। इतिहास तथा पुराण-ग्रन्थों आदि में हित-अहित सम्बन्धी उपदेशों को सुहृत्सम्मित उपदेश कहा जाता है। जो उपदेश मधुर प्रेम के साथ और सरस ढंग से दिये जाते हैं, जिनमें न आज्ञा का भाव होता है और न हित-अहित की चिन्ता, उन्हें ही कान्तासम्मित उपदेश कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि कोई भी पाठक काव्य का अध्ययन आनन्द प्राप्ति के लिए करता है, उपदेश और धर्मवाक्य सुनने, समझने के लिए नहीं। इसी प्रकार जैसे ही कोई कवि उपदेश वाचक का रूप धारण करने की भूल करता है, वैसे ही वह कवि के आदरपूर्ण स्थान से पदावनत हो जाता है। कुन्तक ने भी कहा है कि केवल उपदेश कटु औषधि के समान होते हैं। काव्य में दिये जाने वाले उपदेश उस आह्लादकारी अमृत की भाँति होते हैं जिसके रुचिपूर्ण सेवन करने से अज्ञान और अविवेक का नाश सहज ही हो जाता है :

"स्वादु काव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते
प्रथमालीढ़मधवः पिबन्ति कटुभेषजम्।

उपर्युक्त विवेचन से काव्य-प्रयोजनों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। तथापि इस सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं—पहला तो यह कि इन विभिन्न काव्य-प्रयोजनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन कौन-सा है और दूसरा यह कि कौन-

से प्रयोजनों का अधिकारी कवि है, कौन-से का अधिकारी पाठक और कौन-से ऐसे प्रयोजन हैं जिनके अधिकारी कवि और पाठक दोनों हैं। जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, मम्मट ने स्वयं ही स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है, "सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्"-अर्थात् तात्कालिक आनन्द ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। वामन का दृष्टिकोण बहुत कुछ शास्त्र-सीमित ही रहा और उन्होंने इसी कारण भामह द्वारा प्रस्तुत प्रयोजनों में से अन्तिम दो प्रयोजनों को ही स्वीकार किया और वे दो प्रयोजन हैं—आनन्द और कीर्ति। यही नहीं, वामन ने इन दोनों प्रयोजनों में से भी कीर्ति को अधिक महत्त्व प्रदान किया। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि भले ही कीर्ति के प्रति मनुष्य के भीतर अत्यधिक एषणा रहती है और कवि के लिए यह एक महान् प्रलोभन भी होता है तथापि इसे काव्य का आधारभूत प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "यश की प्राप्ति मनुष्यमात्र की स्वाभाविक आकांक्षा है। प्रभुत्व कामना, बड़ाई पाना या अहम्मन्यता मानव की मूल प्रवृत्ति है। मानव अपनी मृत्यु के पश्चात् भी अपना प्रभाव, अपनी स्मृति यहाँ छोड़ जाना चाहता है।" इतना सब होते हुए भी केवल कीर्ति प्राप्त करने के लिए ही समूचे साहित्य का सृजन नहीं होता। अर्थ अर्थात् धन तो इससे भी अधिक निम्नतर प्रयोजन कहा जा सकता है। काव्य का मूल प्रयोजन तो आनन्द ही कहा जा सकता है। क्योंकि कीर्ति, धन आदि तो ऐसे प्रयोजन हैं जो प्राप्त भी हो सकते हैं और नहीं भी। आनन्द निस्सन्देह एक ऐसा प्रयोजन है जिसका सम्बन्ध कवि से होता है और इस प्रयोजन की पूर्ति में कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। काव्य से निःसृत होने वाला आनन्द कवि और भावक दोनों को गद्गद कर देता है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है—भरत से लेकर मम्मट तक सभी काव्यशास्त्रियों ने काव्य-प्रयोजनों की चर्चा कवि और भावक दोनों को दृष्टि में रखते हुए की है। भरत ने हित, बुद्धिविवर्द्धन, लोकोपदेश, यश और धर्म आदि को काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया है। विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत द्वारा प्रतिपादित इन काव्य-प्रयोजनों में से हित, बुद्धिविवर्द्धन और लोकोपदेश का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भावक के साथ होता है। जहाँ श्रेष्ठ काव्य के अध्ययन से भावक में उदात्त भावभूमियों का निर्माण होता है, उसके भावों का परिष्कार और उन्नयन होता है, वहीं उसके बौद्धिक स्तर का भी विकास होता है, नई-नई वैचारिक-भूमियों का उद्घाटन होता है और इस सबके अतिरिक्त उसे एक मार्गदर्शन प्राप्त होता है, जीवन-यापन के उदात्त मार्गों का परिचय मिलता है। यश और धर्म—इन दोनों काव्य-प्रयोजनों का सम्बन्ध क्रमशः कवि और कवि तथा भावक दोनों से है। कवि को यश-प्राप्ति की चाह होती है और श्रेष्ठ काव्य-सृजन से, उसे और उसकी कृति को अमरत्व प्राप्त होता है। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है—कवि और भावक दोनों ही इसकी प्राप्ति के इच्छुक होते हैं। इसी क्रम में भामह के काव्य-प्रयोजन भी

उल्लेख्य हैं। भामह के काव्य-प्रयोजन है—कलाओं में विचक्षणता, प्रीति, कीर्ति तथा चतुर्वर्ग फलप्राप्ति। इन चार प्रयोजनों में से कलाओं की विचक्षणता तथा प्रीति का सम्बन्ध पाठक के साथ है, कीर्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कवि के साथ और चतुर्वर्ग फलप्राप्ति का सम्बन्ध कवि तथा पाठक दोनों के साथ कहा जा सकता है। मम्मट ने छः काव्य-प्रयोजन स्वीकार किये हैं—यश, अर्थ अमंगल का निवारण व्यवहारज्ञान, सद्यः पर निवृत्ति और कान्तासम्मित उपदेश। इन छः काव्य-प्रयोजनों में से यश, अर्थ और अमंगल का निवारण कवि को दृष्टि में रखकर बताये गये हैं, जबकि शेष तीन प्रयोजन अर्थात् व्यवहारज्ञान, सद्यः पर निवृत्ति और कान्तासम्मित उपदेश का सम्बन्ध भावक के साथ होता है। इसी आधार पर विभिन्न काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजनों का कवि तथा भावक की दृष्टि से विभाजन किया जा सकता है। तथापि इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि यह विभाजन सर्वथा अन्तिम अथवा अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्य-प्रयोजनों के सम्बन्ध में भी विस्तार से विचार किया गया है और काव्य-प्रयोजन की व्यापक अवधारणा को समझने के लिए पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रयोजनों का विवेचन भी आवश्यक है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्य के मुख्यतः छः प्रयोजन बताये गये है—(क) कला कला के लिए, (ख) कला जीवन के लिए, (ग) कला जीवन से पलायन के लिए, (घ) कला आत्मानुभूति के लिए, (ङ) कला आनन्द के लिए और (च) कला सृजन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए। पश्चिमी साहित्य जगत् में 18वीं, 19वीं और 20वीं शताब्दियों में कई प्रमुख सिद्धान्तों का जन्म हुआ जिनमें मुख्य सिद्धान्त अथवा वाद हैं—शास्त्रवाद, स्वच्छन्दतावाद, कलावाद, नीतिवाद, सौष्ठववाद, मनोवैज्ञानिक तथा समाजवादी विचारधारा आदि। स्वच्छन्दतावादियों ने काव्य के मुख्यतः दो प्रयोजन स्वीकार किये—सौन्दर्य और आनन्द। इस काव्य-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक के अनुसार, "आनन्द का आधार सौन्दर्य होता है और सौन्दर्य का आधार कल्पना।" कालान्तर में सौन्दर्य और आनन्द के प्रति इतना अधिक आग्रह नहीं रहा और सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रति अत्यधिक आग्रह हो गया। इस नई प्रवृत्ति के अनुयायियों में रस्किन, आर्नल्ड आदि पाश्चात्य साहित्यमर्मज्ञों के नाम उल्लेखनीय हैं। टॉलस्टाय आदि विद्वानों ने पुनः कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानवतावाद के साथ स्थापित किया। इन पाश्चात्य विचारकों के मतानुसार कला अथवा काव्य की अन्तिम सिद्धि मानव-मात्र के मांगल्य में हैं। उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि "जिस साहित्य में जीवन-निर्माण की जितनी अधिक शक्ति होती है, वह साहित्य उतना ही समादृत होता है। टॉलसटाय के अनुसार, "विश्व-प्रेम और विश्व-करुणा ही वास्तविक धर्म है। अतः इन्हीं की सिद्धि श्रेष्ठ कला का प्रयोजन है।"

'कला कला के लिए' सिद्धान्त मानने वाले पाश्चात्य साहित्य-मर्मज्ञों के अनुसार, काव्य की परमसिद्धि केवल सौन्दर्यजन्य आनन्द में ही निहित है। इनके

मतानुसार नैतिक अथवा मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा काव्य का मुख्य प्रयोजन नहीं हो सकती। काव्य का प्रयोजन, काव्य के भीतर ही ढूँढ़ना होगा, उससे बाहर नहीं। ब्रैडले ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि काव्य का मूल प्रयोजन सौन्दर्यजन्य आनन्द ही हो सकता है और सभी प्रयोजन काव्य से बाहर के प्रयोजन हो सकते हैं, उसके आन्तरिक तत्त्व अथवा मूल्य नहीं।

पाश्चात्य विद्वानों के एक अन्य वर्ग के अनुसार काव्य का प्रयोजन केवल यही होता है कि उसके पठन-पाठन से मनुष्य अपने संत्रस्त और दुखी जीवन में क्षणिक सुख का अनुभव कर लेता है। अतः इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार काव्य का मूल प्रयोजन जीवन के कटु यथार्थ से मुक्ति प्राप्त करना है। यही कारण है कि उनके काव्य-सिद्धान्त को 'जीवन से पलायन का सिद्धान्त' कहा गया है।

पाश्चात्य साहित्य जगत् के विद्वानों के एक अन्य वर्ग के अनुसार कला का मूल प्रयोजन आत्मानुभूति है और निस्सन्देह यह काव्य-प्रयोजन भारतीय काव्य-प्रयोजनों के बहुत: निकट दीखता है। तथापि इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि आत्मानुभूति केवल एकांगी प्रयोजन ही कहा जा सकता है। आत्मानुभूति अपने आप में कोई साध्य नहीं हो सकता। काव्य का प्रयोजन तो कुछ और ही होगा।

आधुनिक काव्यशास्त्रीय चिन्तन में आनन्द और लोक-कल्याण—इन दो प्रयोजनों के प्रति अत्यधिक आग्रह दीखता है। आनन्द अपने आप में व्यक्तिगत होता है और लोक-कल्याण का सम्बन्ध समूचे समाज से होता है। प्राचीन काव्य-शास्त्रीय परम्परा में जिन विभिन्न प्रयोजनों की स्थापना की गयी है, उन्हें भी इन दो स्थूल वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। व्यक्तिगत आनन्द के अन्तर्गत बुद्धि-वर्द्धन, प्रीति, कला-विचक्षणता, यश और अर्थ आदि की गणना की जा सकती है जबकि लोक-कल्याण के अन्तर्गत लोक-व्यवहार, लोकोपदेश, हित आदि के प्रयोजनों को परिगणित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि कीर्ति और अर्थ – व्यक्तिगत प्रयोजन होते हुए भी काव्य की केवल प्रासंगिक सिद्धियाँ हैं, काव्य का अन्तिम और अकाट्य प्रयोजन नहीं। इस प्रकार निष्कर्षतः काव्य के दो ही मुख्य प्रयोजन रह जाते हैं—सौन्दर्य और आनन्द। काव्य अपने आप में सौन्दर्य की सृष्टि होती है किन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार सुन्दर शब्द भी एक व्यापक आधार लिये होता है। हमारे यहाँ रूपगत अथवा बाह्य सौन्दर्य कभी भी श्रेय नहीं रहा है। हमारे यहाँ काव्य की परख के लिए केवल सौन्दर्य को ही एकमात्र कसौटी नहीं माना गया। काव्य की एक कसौटी यदि सौंदर्य है तो दूसरी कसौटी काव्य के श्रेष्ठत्व की है। काव्य के श्रेष्ठत्व की कसौटी उसके लोक-कल्याणकारी रूप में निहित होती है। अतः स्वभावतः हमारे यहाँ वही काव्य श्रेष्ठ और महान् स्वीकार किया गया है जिसमें श्रेष्ठत्व और सौन्दर्य का अभूतपूर्व समन्वय है। यदि और अधिक गहराई से विवेचन किया जाये तो काव्य का केवल एक ही प्रयोजन अर्थात् आनन्द उसके समग्र रूप को अपने भीतर समेट लेता है। निस्सन्देह, यह एक विशुद्ध रूप से भारतीय

दृष्टि है क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूलाधार यही है कि—व्यक्ति के निजी सुख और लोक-कल्याण के मध्य कोई अलगाव की स्थिति नहीं होती। एक विद्वान् आलोचक ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "यदि एक शब्द में 'आनन्द' को ही मूल काव्य-प्रयोजन स्वीकार कर लिया जाये तो असंगत न होगा, क्योंकि अपने मूल दार्शनिक और सांस्कृतिक अर्थ में भारतीय शब्द 'आनन्द' इतना उदार, उदात्त और व्यापक है कि इसमें व्यक्तिशः कवि की आत्मलब्धि से लेकर प्रमाता की आनन्दानुभूति तक तथा सामाजिक स्तर पर लोकरंजन से लेकर लोकमंगल तक सहज समाविष्ट हैं।"

13
काव्य के तत्त्व

काव्य के स्वरूप के विश्लेषण से काव्य के कई तत्त्वों का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। तथापि मूलतः काव्य के दो ही तत्त्व हो सकते है—भावपक्ष और कलापक्ष। कविता विशुद्ध रूप से हृदय के सुन्दर भावों की सुरम्य और सशक्त अभिव्यक्ति होती है। इस आधार पर भी काव्य के दो ही तत्त्व उभरते हैं—एक तो वर्ण्य-वस्तु अर्थात् मानवीय भावादि और दूसरे उनकी अभिव्यक्ति अर्थात् शैली अथवा कलापक्ष। इन्हीं दो पक्षों को अनुभूति पक्ष तथा अभिव्यक्ति पक्ष के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि काव्य के स्वरूप का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो चुका है कि काव्य के तत्त्व मूलत दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनका सम्बन्ध उसके अन्तरग से होता है, और दूसरे वे जिनका सम्बन्ध काव्य के बहिरंग से होता है। काव्य का अन्तरंग तत्त्व रस होता है जिसे कई काव्यशास्त्रियों ने काव्य की आत्मा का गौरवपूर्ण पद दिया है। इसके विपरीत काव्य के बहिरंग तत्त्वों में काव्य की बाह्य साज-सज्जा ही आती है जैसे सुन्दर शब्द-विधान, अलंकार-छंदों की सुरम्य योजना आदि-आदि। इस आधार पर भी काव्य के दो तत्त्व उभरते हैं—काव्य की आत्मा के रूप में काव्यरस और उसके शरीर के रूप में उसकी बाह्य साज-सज्जा अर्थात् शैलीगत सौन्दर्य। यह दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है।

काव्य के तत्त्वों के प्रश्न को लेकर भारतीय काव्यशास्त्र की भाँति ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी पर्याप्त विवेचन-चिन्तन हुआ है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने काव्य के उपर्युक्त दो मौलिक तत्त्वों के अतिरिक्त कवि-कल्पना को भी अत्यन्त गौरवान्वित किया है। वस्तुतः भारतीय मत में भी कवि-कल्पना की सत्ता स्वीकार की गयी है किन्तु उसका विवेचन कवि-प्रतिभा के अन्तर्गत किया गया है। तथापि भारतीय मत में कल्पना-तत्त्व को इतनी अधिक महत्ता नहीं दी गयी जितनी कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में दी गयी है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भावपक्ष के अतिरिक्त विचार-पक्ष की भी सत्ता स्वीकार की है। मानव-मन अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए लालायित रहता है और उस अभिव्यक्ति का माध्यम समर्थ अभिव्यंजना शैली

होती है। मनुष्य की इस भाव-सम्पदा के अतिरिक्त उसकी एक वैचारिक अथवा बौद्धिक सम्पदा भी होती है। इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के मतानुसार काव्य के निम्नलिखित चार तत्त्व होते हैं—

(क) भावतत्त्व अथवा रागात्मक तत्त्व।

(ख) विचारतत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व।

(ग) भाषा-शैली तत्त्व, तथा

(घ) कल्पनातत्त्व।

इन सभी काव्यतत्त्वों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) भावतत्त्व अथवा रागात्मक तत्त्व—काव्य में भावतत्त्व के अन्तर्गत सभी कार्य-विषय आ जाते हैं किन्तु अन्ततः भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की चरम सिद्धि रसोत्कर्ष में होती है और कदाचित इसीलिए रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। जिस काव्य में रस-भाव की स्थिति नहीं है वह काव्य वस्तुतः काव्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं है। ये भाव प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा का एक अनिवार्य और मौलिक धर्म हैं। दुःख-सुख, राग-द्वेष आदि की अनुभूति प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश के प्रत्येक व्यक्ति को होती रही है और यही कारण है कि इस प्रकार के सनातन भावों को व्यक्त करने वाला साहित्य अजर-अमर रहता है। इस भाव-तत्त्व की सिद्धि ही काव्य की चरम सिद्धि है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने इस भाव-तत्त्व की सिद्धि के लिए तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निर्धारित किये हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है—

काव्य की चरमसिद्धि के लिए पहली बात का सम्बन्ध भावों की उदात्तता से है। भावों की उदात्त भूमि मनुष्य के भावलोक का वह धरातल है जहाँ उसका 'स्व' और 'पर' का सम्बन्ध नहीं रहता, और जीवन के उच्चतम मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है। काव्य का भाव-पक्ष जितना अधिक उदात्त होगा, वह मानव-मन के भीतर उतना गहरा उतर आयेगा। सस्ती भावुकता अथवा निरा मनोरंजन हल्के स्तर के काव्य को ही सृजन कर सकता है और ऐसा काव्य केवल सामयिक महत्त्व का ही हो सकता है। वही साहित्य सनातन अथवा स्थायी हो सकता है जिसमें मानवीय भावों की उदात्त झाँकी परिलक्षित होती हो। भावों की उदात्तता की एक अन्यतम, उपयोगिता औचित्य का निर्वाह होती है। उदात्त भावों की प्रतिष्ठा से औचित्य की स्वतः सिद्धि हो जाती है। फलतः हमारे भाव व्यक्तिगत सुख-दुख की सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं, अपने-पराए के सम्बन्धों से मुक्ति मिल जाती है और उदात्त भावों की सहज प्रतिष्ठा हो जाती है। यही नहीं, काव्य में शिवत्व की प्रतिष्ठा भी भावों की उदात्तता से ही सम्भव होती है। शिवत्व का आशय सर्वजनहित अथवा कल्याण से होता है और मनुष्य में ऐसे भावों की प्रतिष्ठा तभी हो पाती है जबकि वह 'स्व' की परिधि से मुक्त हो सके। अपने स्वयं के सुख-दुःख, राग-द्वेष से मुक्ति पाकर ही मनुष्य अपने से इतर प्राणियों के सुख-दुःख की चिन्ता कर सकता है और वह स्थिति तभी आ सकती है जबकि उसकी रागात्मिकावृत्ति का यथोचित

परिष्कार हो जाये। निस्सन्देह उदात्त भावों की प्रतिष्ठा मनुष्य के रोगों का परिष्कार कर देती है।

उदात्त भावों की प्रतिष्ठा के साथ-साथ भाव-गहनता अथवा भाव-तीव्रता का भी बहुत महत्त्व होता है। काव्य की सिद्धि के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि काव्य में उदात्त भावों की प्रतिष्ठा की जाये, बल्कि यह भी आवश्यक है कि भावों में तीव्रता और गहनना भी बनी रहे। रस-निष्पत्ति के प्रसंग में जब अखण्ड तथा पूर्ण रसानुभूति पर बल दिया जाता है तो उसका आशय वस्तुतः इसी भाव-तीव्रता से होता है। रस-प्रकरण में इस स्थिति को रसोदीप्ति कहा जाता है। जो भाव अथवा भावानुभूतियाँ पूर्णतः परिपुष्ट नहीं हो पातीं उनसे काव्य-रस की निष्पत्ति में निश्चित बाधा पहुँचती है। काव्य की चरम सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उदात्त भावों की प्रतिष्ठा के साथ-साथ उनमें गहनता और तीव्रता भी हो। उदात्त भावों की गहनता मानव-मन के सबसे गहरे कोने की टोह लेकर आती है और कदाचित इसी कारण उसकी छाप भी अमिट होती है।

काव्य की चरमसिद्धि के लिए तीसरी महत्त्वपूर्ण बात भावों के वैविध्य की है। मानव-मन सतरंगी भावों की अक्षयनिधि है, उसमें सहस्रों भाव-ऊर्मियाँ उठती और तैरती हैं। भावों के वैविध्य का आशय विभिन्न भाव-रंगों से होता है। काव्य में किसी एक ही भाव के सहारे रसोत्कर्ष की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। एकरसता को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि काव्य का कार्य भी जीवन की भाँति ही बहुरंगी हो। हिन्दी भाषा का रीतिकालीन साहित्य इस बात का सशक्त प्रमाण है कि किस प्रकार एक ही भाव काव्य की व्यापक भाव-भूमि को संकुचित कर देता है और इस प्रकार समूचे काव्य का सर्वाधिक अहित करता है। दो शब्दों में कहा जा सकता है कि "अतः विभिन्न स्थायी संचारी भावों की चित्र-विचित्र नियोजना से काव्य में भावों की व्यापकता लाना भी श्रेष्ठ साहित्य-सिद्धि के लिए आवश्यक है। साहित्य में वही रचना अधिक लोकप्रिय होती है जो पाठक के विविध मनोवेगों को तरंगित कर दे।" उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की चरमसिद्धि के लिए उदात्त भाव, भावों की गहनता और भाव-वैविध्य —ये तीनों सिद्धान्त आवश्यक हैं। जिस काव्य में इन तीनों सिद्धान्तों का सम्यक् निर्वाह नहीं होगा, वहीं रसोत्कर्ष बाधित हो जायेगा। उदाहरण के लिए सूर का कृष्ण-काव्य लीजिए। उसमें उदात्त भाव भी हैं, भावों की गहनता भी है किन्तु भाव-वैविध्य का अभाव है, अतः स्वभावतः उनका काव्य महान् होते हुए भी एकांगी कहलाता है। इसी प्रकार हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में न तो भावों की उदात्तता है न भाव-वैविध्य; केवल भावों की गहनता के सहारे रीतिकालीन साहित्य हिन्दी का स्थायी और सनातन साहित्य नहीं बन सका। इन तीनों सिद्धान्तों के निर्वहण के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि युगानुकूल भावों और संवेदनाओं को भी स्तर प्रदान किया जाये। युग के साथ-साथ परिस्थितियाँ और वातावरण भी बदलते रहते हैं और काव्य की सिद्धि के लिए

यह आवश्यक है कि उसमें बदलते हुए प्रत्येक युग-परिवर्तन परिलक्षित हों। यद्यपि मनुष्य के मूल भाव कभी नहीं बदलते किन्तु फिर भी उनकी अभिव्यक्ति का स्तर तो बदलता ही है।

(ख) **विचारतत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व**—साहित्य अथवा काव्य की सिद्धि केवल सहृदय का अनुरंजन करने में नहीं छिपी है। मनोरंजन कभी भी सत्साहित्य का लक्ष्य नहीं हो सकता। विश्व के श्रेष्ठतम साहित्य की रचना केवल जन-समुदाय को हलराने-दुलराने के लिए नहीं की गयी है। कवि का एक अपना जीवन-दर्शन होता है, एक विचार-दृष्टि होती है जिसे लेकर उसकी कविता का निर्माण सम्भव होता है "स्वभावतः उसके समक्ष जीवन और जगत् के चिरन्तन सत्यों के उद्घाटन का दायित्व होता है। यद्यपि मनुष्य की भाव-सम्पदा में भी विचार अथवा बुद्धितत्त्व समाविष्ट रहता है फिर भी प्रबन्ध-काव्यों, नाटकों, उपन्यासों आदि में विचार-तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता भी रहती है। अन्यथा भी, प्रत्येक साहित्यकार को साहित्य-सृजन में बुद्धितत्त्व अथवा विचारतत्त्व की अपेक्षा रहती है क्योंकि साहित्य का सृजन जीवन के सब-कुछ को लेकर होता है और कवि अथवा साहित्यकार अपनी विवेक-बुद्धि के बल पर अपनी कृति की वर्ण्यवस्तु का चयन करता है। जीवन के खुले और अपरिमित प्रांगण में वर्ण्य-वस्तु के चयन के लिए कवि को विवेक-बुद्धि का आश्रय लेना होता है अतः बुद्धितत्त्व की महत्ता स्वतः ही प्रतिष्ठित हो जाती है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भाव-तत्त्व की भाँति ही विचार-तत्त्व अथवा बुद्धि-तत्त्व की सिद्धि के प्रश्न पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने पुनः तीन महत्त्वपूर्ण बातें कही है जो निम्नानुसार हैं—

इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि कवि अथवा साहित्यकार को इस बात का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति इतने सरस ढंग से करे कि सहृदय को ऐसा अनुभव हो कि वह काव्य का आनन्द उठा रहा है, नीतिशास्त्र के शुष्क और नीरस नियमों को कष्टकर परिभाषाओं को गले नहीं उतार रहा। काव्य और नीति अथवा धर्मशास्त्र के मध्य सुस्पष्ट विभाजन रेखा तो रहनी ही चाहिए और यह तभी सम्भव हो सकता है कि जबकि कवि अथवा साहित्यकार अपने जीवन-दर्शन, आदर्शों, विचार-दृष्टि को कल्पना के सम्मिश्रण से इतनी सरस अभिव्यक्ति प्रदान करे कि सहृदय को वस्तुतः अन्तःप्रेरणा प्राप्त हो। सच बोलो, दया करो आदि नीति-वाक्यों के लिए काव्य में कोई स्थान नहीं होता। कवि अथवा साहित्यकार अपनी कृतियों में ऐसे पात्रों की सृष्टि करता है कि उनका अपना आचरण स्वतः ही सहृदय को सत्कर्मों के लिए प्रवृत्त करता है। दो शब्दों में, कहा जा सकता है कि कवि अथवा साहित्यकार को अपने दायित्व के प्रति सदैव सजग रहना चाहिए, फिर भी यदि वह कवि के स्थान पर उपदेशक अथवा धर्म-प्रचारक का बाना पहनने की भूल करता है तो यह निश्चित है कि उसका साहित्य सहृदय के अन्तर्मन का स्पर्श नहीं कर सकता।

इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कवि अथवा साहित्यकार को श्रेष्ठ विचारों की योजना प्रस्तुत करनी चाहिए। यही नहीं, उसके समक्ष महान् उद्देश्य होना चाहिए जो कि स्वभावतः महान् और श्रेष्ठ विचारों की स्थिति से ही सम्भव हो सकता है। कवि की विचार-योजना का मूल, जीवन का खुला प्रांगण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि श्रेष्ठ विचार-योजना समाज का हित-साधन करती है और एक व्यापक एवं मानवतावादी दृष्टि का सुदृढ़ आधार भी प्रस्तुत करती है। जीवन की वास्तविक गति जीवन के उच्चतम मूल्यों और महान् आदर्शों में होती है और इस गति का मूलाधार विचारों की श्रेष्ठता तथा उद्देश्य की महानता होती है। संकुचित अथवा संकीर्ण विचारों से साहित्य कलुषित होता है और परिणामतः स्वस्थ समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः महान् और चिर-स्थायी साहित्य के प्रासाद की नींव तभी सुदृढ़ हो सकती है जबकि श्रेष्ठ विचारों और महान् उद्देश्यों को लेकर साहित्य का ताना-बाना तैयार किया जाए।

इस सम्बन्ध में तीसरी बात का सम्बन्ध युग-चेतना के साथ है। कवि को इस सम्बन्ध में पूर्ण जागरूक रहना चाहिए कि उसकी कृतियों में उसका युग-जीवन पूरी ईमानदारी के साथ प्रतिबिम्बित हो सका है। कवि को अपने युग की प्रगतिशील विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हुए सशक्त और समर्थ साहित्य का सृजन करना चाहिए। तथापि इसका यह आशय नहीं है कि यह सैद्धान्तिक मत-मतान्तरों को लेकर प्रचारवादी साहित्य का सृजन करे। साहित्य में जीवन की व्यापक तस्वीर होनी चाहिए और वह तभी सम्भव है जबकि साहित्यकार अपने युग-जीवन को पूरी निष्ठा के साथ चित्रित करे।

बुद्धितत्त्व के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि काव्य-सृजन में कल्पना की उन्मुक्त उड़ानों पर अंकुश लगाने में भी बुद्धितत्त्व की अपेक्षा रहती है। काव्य के सृजन में कल्पना का महत्त्व स्वतः स्पष्ट है किन्तु असम्भाव्य कल्पनाओं से साहित्य का अहित ही होता है, अतः यह आवश्यक है कि कल्पनाओं के उन्मुक्त घोड़ों पर विवेक-बुद्धि का संयम बना रहे।

(ग) भाषा-शैली तत्त्व—भाषा-शैली आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध काव्य के बहिरंग से होता है और भारतीय काव्यशास्त्र में इसी तत्त्व को कलापक्ष का नाम दिया गया है। कलापक्ष भी भावपक्ष की ही भाँति महत्त्वपूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० गुलाबराय कहते हैं कि "ये दोनों पक्ष (भावपक्ष और कलापक्ष) एक-दूसरे के सहायक और पूरक होते है। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध अकार या शैली से है। वस्तु और आकार एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नहीं हो सकती है और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है।" तथापि भावपक्ष काव्य का प्रधान अंग होता है जबकि कलापक्ष सहायक अथवा पोषक होता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की आत्मा उसका सर्वस्व होती

है किन्तु शरीर के अभाव में आत्मा भी केवल दार्शनिक चिन्तन का विषय हो सकती है। ठीक यही स्थिति काव्य की भी है। जिस प्रकार स्वस्थ आत्मा स्वस्थ शरीर में वास करती है, ठीक उसी प्रकार स्पृहणीय उदात्त भाव-तत्त्व भी सुन्दर और प्रभावोत्पादक भाषा-शैली में ही शोभित होते हैं।

भाषा-शैली तत्त्व का निर्माण शब्द और अर्थ से होता है और वे शब्द और अर्थ भी वही होते हैं जिन पर सभी का अधिकार होता है। दूसरे शब्दों में, कवि और साधारण व्यक्ति की अभिव्यक्ति में शब्दों का अथवा भाषा का अन्तर नहीं होता अपितु शब्दों की प्रस्तुति का अन्तर होता है। कवि सुपरिचित और बहुश्रुत शब्दों को ही ऐसे चमत्कारिक ढंग से प्रस्तुत करता है कि पाठकवर्ग सहज ही प्रभावित हो जाता है। शब्दों की इस चमत्कारिक प्रस्तुति को ही कलात्मकता कहते हैं। श्रेष्ठ विचारों और उदात्त भावों की सार्थकता सफल अभिव्यंजना में छिपी होती है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "जिस प्रकार स्वस्थ आत्मा के रहते हुए भी बाह्य शारीरिक आकर्षण सौन्दर्य, स्वच्छता की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार काव्य में भाव-सम्पदा रहते हुए भी भाषा-शैली की कलात्मकता सोने में सुहागे का काम करती है।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-शैली का सौन्दर्य वस्तुतः कवि की कलात्मकता का परिचायक होता है।

भाषा-शैली पर विचार करते समय विद्वानों ने कई प्रकार की विशेषताओं का उल्लेख किया है जिन्हें काव्यशास्त्रीय भाषा में शैली के तत्त्व कहा जाता है। भाषा-शैली के इन तत्त्वों में सरलता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, प्रभावात्मकता, अलंकरण, कलात्मकता आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि शैली के उक्त तत्त्व स्वतः स्पष्ट हैं तथापि इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—(1) **सरलता**—सरलता का आशय अर्थ-सारल्य से होता है। शब्दों के अर्थ कष्टकर नहीं होने चाहिए अर्थात् उनकी अर्थ-प्रतीति सरल और सहज होनी चाहिए। (2) **स्पष्टता** शैली का दूसरा गुण उसकी स्पष्टता है। शब्दों का प्रयोग ऐसे अर्थों में किया जाना चाहिए जिसमें किसी प्रकार की द्विविधा न हो। पूर्ण रसानुभूति के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ-प्रतीति अत्यन्त स्पष्ट और निर्भ्रान्त हो। (3) **स्वाभाविकता**—मानवीय भावों की स्वाभाविक-योजना ही सहृदय के अन्तर्मन को स्पर्श कर पाती है। भाषा-शैली में स्वाभाविकता का आशय ऐसी शब्द-योजना से होता है जिसकी अर्थ-प्रतीति अत्यन्त सहज और स्वाभाविक हो। (4) **प्रभावात्मकता**—भाषा-शैली की पहली शर्त उसकी प्रभावात्मकता है। भाषा-शैली का सहृदय के मन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और वह तभी सहृदय को प्रभावित कर सकती है जबकि उसकी शब्द-योजना आकर्षक और मधुर हो। जो कविता पढ़ने-मात्र से सहृदय के मन में रुचि उत्पन्न नहीं कर सकती, वह कालान्तर में उसे प्रभावित भी नहीं कर सकती। (5) **अलंकरण**—अलंकरण का आशय साज-सज्जा से है। यद्यपि मानवीय भावों की अभिव्यक्ति सीधे-सादे शब्दों के माध्यम से भी हो सकती है। तथापि अलंकृत

भाषा-शैली निश्चय ही अपना अलग आकर्षण रखती है। (6) **कलात्मकता**—कलात्मकता में भाषा-शैली सम्बन्धी सभी उपर्युक्त गुणों का समाहार हो जाता है।

(घ) **कल्पनातत्त्व**—काव्य-सृजन में कल्पना का अत्यधिक महत्त्व होता है अपितु सचाई यह है कि कल्पना ही एक ऐसा तत्त्व है जो सामान्य व्यक्ति और एक कवि के मध्य विभाजन-बिन्दु समझा जा सकता है। कवि अपनी कविता के माध्यम से उन्हीं भावों को ही तो व्यक्त करता है जो कि 'एक व्यक्ति' के रूप में किसी के भी हो सकते हैं। कवि भी तो मूलतः एक व्यक्ति होता है और उसके बाद कवि। अतः उसकी भाव-सम्पदा, उसका जीवन-दर्शन, उसकी विचार-दृष्टि एक व्यक्ति के रूप में होती है, उसकी महत्ता इसी बात में है कि उसके पास अनुभूति के साथ-साथ अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भी होती है। निस्सन्देह उसकी यह अभिव्यक्ति अपने आप में कलात्मक होती है और कदाचित् इसी कारण उसकी अभिव्यक्ति सामान्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति से अलग होती है। काव्य में कलात्मकता और सौन्दर्य की सृष्टि का समूचा श्रेय कल्पना को दिया जाता है और इस प्रकार कल्पना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा बन जाती है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में कल्पना को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। सचाई यह है कि "कल्पना के द्वारा कवि पूर्वानुभूत वस्तुओं, घटनाओं, भावों का चित्रण ही स्मृति के सहारे नहीं करता अपितु कल्पना की सहायता से वह अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व एवं अननुभूत वस्तुओं की सृष्टि करने में भी समर्थ होता है। कल्पना-शक्ति के द्वारा ही कवि साधारण घटनाओं को भी असाधारण बना देता है और रसहीन तथा शुष्क वस्तुओं को वह पाठक के मानस-चक्षुओं के सम्मुख ला खड़ा कर देता है। कल्पना ही कवि की सृजन-शक्ति है और इसी के बल पर वह ब्रह्मा की सृष्टि का पुनर्निर्माण कर सकता है। इसी के बल पर कवि भविष्य-द्रष्टा और स्रष्टा कहलाता है।"

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इस कल्पना तत्त्व पर कवि-प्रतिभा शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया है। आचार्यों ने काव्य के तीन हेतुओं का वर्णन किया है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन तीनों हेतुओं में भी प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और भारतीय काव्यशास्त्र की कल्पना के सर्वाधिक निकट है। भट्टतौत के अनुसार, "प्रतिभा उस प्रज्ञा का नाम है जिसमें कवि रसानुकूल शब्दार्थों के चिन्तन में लीन होकर अनुभूत सौन्दर्य का नूतन एवं मूर्त चित्र प्रस्तुत करता है। × × कवि अपनी प्रतिष्ठा से नित्य नवीन प्रतीत होने वाले मार्मिक प्रसगों को सामान्य जनों के हेतु ग्राह्य एवं संवेद्य बना देता है।" कदाचित् इसी कारण कवि को अपरिमित काव्य-संसार के प्रजापति का गौरवपूर्ण पद दिया गया है। विद्वानों ने इसी प्रतिभा को प्रज्ञा अथवा शक्ति आदि के नाम से भी अभिहित किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल का विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य के लिए वही कल्पना उपयोगी होती है जो कि किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रदर्शन करती हो। उनके मत से सभी कल्पनाएं काव्य के क्षेत्र के लिए उपयोगी नहीं होती हैं। काव्य का साध्य तो रस-सिद्धि होता है और कल्पना केवल साधन रूप होती है। यही नहीं, वही कल्पना रससिद्धि में सहायक होती है जो कि भावों से प्रेरित हो अथवा भावों का प्रवर्तन करती हो। इस प्रकार शुक्ल जी ने कल्पना का स्थान गौण और रससिद्धि को प्रमुख माना है। कल्पना की विवेचना करते हुए शुक्ल जी ने यह भी स्वीकार किया है कि कल्पना केवल प्रस्तुत पक्ष का ही रूप विधान नहीं करती अपितु अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमानों की योजना का निर्माण भी करती है। इस प्रकार कल्पना मुख्यतः कई प्रकार के कार्य करती है—(1) पहला तो यह कि कवि कल्पना के सहारे अपनी रचनाओं में नए-नए प्रसंगों की योजना प्रस्तुत करता है, भावों की अभिव्यक्ति के लिए मौलिक उद्भावनाएँ सँजोता है और इस प्रकार सहृदय के लिए स्वस्थ साहित्यिक मनोरंजन तैयार करता है। (2) दूसरा यह कि कवि अपनी रचनाओं में भाव-सौन्दर्य की श्रीवृद्धि के लिए भी कल्पना का आश्रय लेता है। (3) कल्पना का तीसरा कार्य भावोद्भावना करना है। कवि कल्पना के सहारे अपनी कविताओं में भावोद्भावना करता है और इसी से सहृदय को रस की प्राप्ति होती है। (4) कवि वर्ण्य-वस्तु घटना, अथवा स्थिति के वर्णन में कल्पना का आश्रय लेता है और वर्ण्य सामग्री को ऐसे काव्य-चित्रों में चित्रित करता है कि समूची कविता मार्मिक और प्रभावोत्पादक बन उठती है। (5) कल्पना का पाँचवाँ कार्य प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत-विधान की योजना तैयार करना है जिससे कि कविता का भावपक्ष और अधिक सुदृढ़ तथा चित्ताकर्षक बन जाये। (6) कविता में किसी भी प्रकार के अलंकरण के लिए कल्पना की अपेक्षा रहती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय मत में कल्पना को भाव-तत्त्व का उपकारक माना गया है और इसी कारण भाव-तत्त्व के उत्कर्ष को काव्य की सिद्धि और कल्पना को इस सिद्धि का साधन माना गया। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने कल्पना की सौन्दर्यपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। यही नहीं, कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने तो कल्पना को काव्य का साध्य-रूप मान लिया। अतः स्वभावतः पश्चिमी साहित्य में केवल कल्पना के बल पर सौन्दर्य-सृष्टि का प्रयास भी किया गया। कल्पना को काव्य का साध्य मानने वाले कवियों ने भाव-तत्त्व और कला-तत्त्व—दोनों ही क्षेत्रों में कल्पना की सत्ता सर्वोपरि मानी है, इस कारण उनकी कृतियों का अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही कल्पना की रंगीनियों में खो गया है। भाव-निरपेक्ष कल्पना को इतना अधिक गौरव केवल पश्चिम में ही प्राप्त हो सका था। भारतीय दृष्टि तो केवल भाव-सापेक्ष कल्पना को ही कल्पना मानती रही है। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में मूलतः यही विभाजन-बिन्दु है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद यही है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्री कल्पना

को रूप-विधायिनी शक्ति मानते रहे हैं, जबकि भारतीय मत के अनुसार कल्पना का मूल उद्देश्य उदात्त भाव-सिद्धि में सहयोग देना है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि काव्य में वही कल्पना श्रेय समझी जा सकती है जो विवेक, बुद्धि और औचित्य से संचयित हो। औचित्य और विवेक बुद्धि से सर्वथा निरपेक्ष कल्पना साहित्य का कोई भी हित नहीं कर सकती। वही कल्पना विधायिनी हो सकती है जो कि भावोत्कर्ष में निश्चित योगदान दे सकती हो। कल्पना के प्रश्न पर विचार करते हुए पाश्चात्य आचार्यों ने कई प्रकार की कल्पनाओं का उल्लेख किया है यथा—सौन्दर्यबोधक कल्पना, पुनर्निर्माणकारी कल्पना, नवोद्भावक कल्पना आदि। निस्सन्देह कल्पना के ये सभी रूप काव्य का केवल बाह्य रूप-विधान ही संजो सकते हैं। तथापि इस सम्बन्ध में भारतीय मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि बाह्य साज-सज्जा भी तो अन्ततः काव्य के आन्तरिक भाव-सौन्दर्य की उपकारक होती है। यदि किसी कविता का बाह्य रूप-विधान अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर बन पड़ा है तो निश्चय ही उससे आन्तरिक सौन्दर्य की भी श्रीवृद्धि होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि कल्पना को केवल रूप-विधायिनी शक्ति ही मान लिया जाता है, तो भी वह अन्ततः उदात्त भाव-सिद्धि की सहयोगी ही सिद्ध होती है।

काव्य के इन चारों तत्त्वों में एक गहरा सम्बन्ध होता है। इन चारों तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध की स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "कल्पना शैली और विचार-तत्त्व मूल उदात्त भाव-तत्त्व की श्रेष्ठ सिद्धि में ही सहायक होते हैं। कल्पना भाव को पुष्ट करती है, उसकी नई-नई सामग्री जुटाती है, नए-नए चित्र उपस्थित कर भाव एवं कला दोनों को बल देती है। कल्पना का सम्बन्ध मानसिक सृष्टि से है। बुद्धि-तत्त्व कल्पना को उच्छृंखल बनने से रोकता है और भावों को उदात्त बनाता है। बुद्धि-तत्त्व से काव्य में सत्यं और शिवं की रक्षा होती है और कल्पना और भाव-तत्त्व से सुन्दरं का निर्माण होता है। कल्पना से सुन्दरं का शरीर निर्मित होता है। तो भावों में उसकी आत्मा रहती है। शैली अभिव्यक्ति का माध्यम है, इसी से तो कवि के हृदय के साथ पाठक के हृदय का सह-स्पन्दन होता है।" इस प्रकार भारतीय मत में प्रतिपादित सत्यं, सुन्दरं के चरम लक्ष्य की भी सिद्धि हो जाती है। काव्य के चरम लक्ष्य को सिद्धि में इन चारों तत्त्वों का योगदान उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

14
शब्द-शक्ति

मनुष्य के पारस्परिक विचार-विनिमय का सर्वाधिक सशक्त साधन भाषा होती है और भाषा की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है—वाक्य। वाक्य की निर्मिति शब्द और अर्थ में सन्निहित होती है और इस प्रकार शब्द और अर्थ भाषा के अनिवार्य धर्म बन जाते हैं। साहित्य के संदर्भ में भी काव्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के सहभाव की बात आग्रहपूर्वक कही है। अपने व्यापक रूप में शब्द और अर्थ का सहभाव ही साहित्य का रूप ग्रहण कर लेता है। तथापि प्रत्येक शब्दार्थ के सहभाव को साहित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि हमारे साहित्यिक चिन्तन में साहित्य काव्य का पर्यायवाची-सा बन गया है। साहित्य का आशय काव्य से माना जाता है और कदाचित् इसी कारण शब्द और अर्थ के प्रत्येक सहभाव को साहित्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। एक विद्वान् आलोचक ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि "हम एक विशेष प्रकार के शब्दार्थ सहभाव के उसी विशेष प्रकार की चर्चा करेंगे जिसके कारण एक प्रकार का भाषा-प्रयोग तकनीकी अर्थ में साहित्य कहलाता है, अन्य प्रकार के प्रयोग, जिनमें यह विशेषता नहीं है, साहित्य के नाम से वंचित रह जाते हैं। भारतीय परम्परा में वह विशेष प्रकार का शब्दार्थ-सहभाव कवि का कर्म अथवा 'काव्य' कहा जाता है। अर्थात् हम मात्र शब्दार्थ-सहभाव को साहित्य नहीं कहेंगे अपितु उस सहभाव को साहित्य कहेंगे जो कवि के प्रयत्न विशेष से उद्भूत हैं।" उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य अथवा काव्य में शब्द और अर्थ का समभाव होता है। शब्द और अर्थ के समुच्चय को वाक्य कहते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि वाक्य वही होता है जिसमें सार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

इस स्थिति को समझने के लिए पूर्व 'शब्द' का विवेचन किया जाना आवश्यक है। हमारे वैयाकरणों के अनुसार शब्द दो प्रकार का होता है—तत्र त्वेष निर्णयः। यद्येव नित्यः। अथापि कार्यः। उभयार्पिलक्षणं प्रवर्त्यमिति—अर्थात् कार्य और नित्य। कार्य का आशय अनित्य से होता है और अनित्य का अर्थ केवल

उच्चारणोत्पन्न ध्वनि अथवा नाद से होता है जो कि कानों से सुना भी जा सकता है। इसके विपरीत नित्य शब्द वे होते हैं जो न तो उच्चारणजन्य होते हैं और न कानों से सुने जा सकते हैं। यही कारण है कि ऐसे शब्दों को वैयाकरणों ने 'स्फोट' कहा है। स्फोट का आशय ऐसे शब्द से है जिससे अर्थ का आभास होता है। अतः शब्द के स्पष्टतः दो रूप हुए—एक तो ध्वनि और दूसरा स्फोट। स्फोट में अर्थ विशेष का निवेश होता है और वह ध्वनि के माध्यम से व्यक्त होता है। ध्वनि और स्फोट—दो पृथक् अवधारणाएँ हैं और इन दोनों के भेदक तत्त्वों का निरूपण करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि—

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः
ग्रहणोपाधि भेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते।
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृतः
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते।'

अर्थात् ध्वनि अल्प और दीर्घ होती रहती है, परन्तु स्फोट में एकरूपता बनी रहती है। ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि विभिन्न वृत्तियों के कारण स्वभावतः अन्तर पड़ता रहता है किन्तु स्फोट अभिन्नकालिक, पूर्ण और नित्य होता है।

जब हम शब्द और अर्थ के समुच्चय को पद और पदों के समूह को वाक्य की संज्ञा देते हैं तो उसका आशय यही होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। वस्तुतः पद और वाक्य में भी तो कोई विशेष भेद नहीं होता। अर्थ की उत्पत्ति वाक्य में होती है किन्तु यह भी निर्विवाद है कि केवल श्रूयमाणवाक्य से भी अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। सचाई यह है कि वास्तविक अर्थ की प्रतीति ध्वनि द्वारा व्यक्त स्फोट से ही होती है और कदाचित इसी कारण कई वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध की बात आग्रहपूर्वक कही है। भर्तृहरि के मतानुसार—

'यस्मिंस्तूच्चरि ते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्।'

अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण मात्र से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उस शब्द का अर्थ है। भामह ने शब्द और अर्थ के सहितभाव को काव्य कहा है और रुद्रट के मतानुसार शब्दार्थ ही काव्य है। यही नहीं, भरतमुनि ने तो काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है—

'मृदुललितपदार्थं भवति जगति नाटकं प्रेक्षकाणाम्।'

अर्थात् नाटक (काव्य) मृदु और ललित पदों और अर्थ से युक्त होता है। इसी प्रकार विश्वनाथ, दण्डी, जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा देते हुए किसी न किसी रूप में शब्द और अर्थ के सहितभाव की प्रतिष्ठा की है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि "साहित्य को हम शब्द और अर्थ का सहभाव मानते हैं। यह सहभाव सामान्य बोलचाल की भाषा में उतना ही है जितना किसी

महाकवि की कविता में। तथ्य तो यह है कि कोई भाषा-व्यवहार शब्दार्थ के सहभाव के बिना सम्भव नहीं है।"

इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि भले ही भाषा के प्रसंग में शब्दों का महत्त्व होता है फिर भी अर्थ की महत्ता वाक्य में निहित होती है। पूरा वाक्य ही किसी अर्थ का बोध करा पाता है, केवल शब्द अपना अलग-अलग अर्थ रखते हुए भी किसी सम्पूर्ण अर्थ के परिचायक नहीं होते। स्फोटवादियों के मतानुसार—भाषा की वास्तविक इकाई वाक्य ही होते हैं और अध्ययन की सुविधा के लिए विद्वानों ने जो वाक्य के पद, पदभाग आदि विभिन्न खण्ड निर्धारित किये हैं, वे केवल काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। अतः उनके अनुसार वाक्य से पद की सत्ता अलग नहीं की जा सकती। विद्वानों के एक अन्य वर्ग के अनुसार भाषा की वास्तविक इकाई पद होते हैं और वाक्यों का निर्माण पदों के समूहों से होता है। इसी क्रम में 'अर्थ' शब्द का विश्लेषण भी आवश्यक है। अर्थ का प्रयोग शब्दार्थ के प्रसंग में भी दो विभिन्न अर्थों का बोध कराता है। अर्थ का प्रयोग मुख्यतः वस्तु और बोध कराने के निमित्त किया जाता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकेगी। एक लेखनी का वस्तुरूप 'लेखनी' शब्द के अर्थ का बोध कराती है और साथ ही 'लेखनी' शब्द के साथ ही लेखनी का बौद्धिक बोध उभरता है और इस प्रकार अर्थ का प्रयोग दो रूपों में हुआ—वस्तुरूप के लिए और बोध के लिए। जब हम वाक्य की चर्चा करते हैं तो उसमें अर्थ का प्रयोग वस्तुरूप के लिए नहीं हो सकता क्योंकि वाक्य में ऐसे भी कई शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो किसी वस्तुरूप से सम्बद्ध नहीं होते। "मैं लेखनी से लिखता हूँ"—इस वाक्य में 'से' और 'हूँ' किसी वस्तुरूप का बोध नहीं कराते, फिर भी इन्हें इसी कारण निरर्थक नहीं कहा जा सकता। वाक्य की रचना और पूर्णता में उनका विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अर्थ का प्रयोग वस्तुरूप के लिए नहीं, पूरे अर्थ-बोध के लिए किया जाता है।

साहित्य के क्षेत्र में केवल सार्थक शब्दों के प्रयोग के लिए ही अवकाश रहता है। शब्दों का एकमात्र प्रयोजन अर्थ-बोध कराना होता है और निस्सन्देह यह अर्थ-बोध भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। अर्थ-बोध के अन्तर्गत वस्तुओं का निर्देशन होता है, किसी लक्ष्य-विशेष के प्रति निष्ठापूर्ण प्रयत्न करने की प्रेरणा मिलती है, तथ्यों का वर्णन होता है और भाव उद्‌बुद्ध होते हैं। तदनुसार भाषा अर्थात् वाक्यों का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में, विशिष्ट प्रकार का बोध उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट प्रकार के शब्दों—वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। काव्यशास्त्रीय भाषा में इस विशिष्ट प्रयोग का आधार शब्दशक्तियाँ ही होती हैं। शब्दों के इस विशिष्ट प्रयोग को स्थूलतः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—निर्देशी और अनिर्देशी। शब्दों का निर्देशी प्रयोग विशुद्ध रूप से निर्देशात्मक होता है और इसके प्रयोग से केवल तथ्यात्मक निरूपण ही सम्भव होता है। उदाहरण के लिए, यदि कहीं कोई लेखनी

पड़ी है तो हम यही कहेंगे 'वहाँ एक लेखनी है।' यह वक्तव्य विशुद्ध रूप से तथ्यात्मक और सत्य पर आधारित है। शब्दों का दूसरा प्रयोग अनिर्देशी होता है और इस प्रकार के प्रयोग से किसी तथ्य का उद्घाटन अथवा सत्य-निरूपण नहीं होता बल्कि अन्य प्रयोजनों की पूर्ति होती है। निर्देशी शब्दों की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि निर्देशी शब्दों और उनके अर्थ के बीच का सम्बन्ध प्रत्यक्ष और सीधा होता है। "यह एक लाल लेखनी है"—इस वाक्य से अर्थ-बोध में न तो कोई कठिनाई है और न इस वाक्य के कोई अन्य अर्थ ही निकल सकते हैं। इस वाक्य में शब्दों का विशुद्ध रूप से तथ्यनिरूपक अथवा निर्देशी प्रयोग किया गया है। अनिर्देशी शब्दों के प्रयोग से इतर प्रयोजनों की पूर्ति होती है।

शब्दों की अर्थ-बोध की शक्ति के आधार पर विद्वानों ने शब्दों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—वाचक शब्द, लक्षक शब्द और व्यंजक शब्द। इन तीनों शब्द-प्रकारों से तीन प्रकार का अर्थ-बोध होता है जिन्हें (काव्यशास्त्रीय भाषा में) क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहा जाता है। शब्द और अर्थ के बीच एक शब्द-शक्ति भी कार्य करती है जिसके कारण वाचक शब्द से वाच्यार्थ उत्पन्न होता है और लक्षक शब्द से लक्ष्यार्थ तथा व्यंजक शब्द से व्यंग्यार्थ। इन तीनों शब्द-शक्तियों को अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्द-शक्ति कहा जाता है। शब्द-शक्ति का आशय अर्थ-व्यापार से होता है। शब्दों के भीतर ही छिपी हुई ये शक्तियाँ एक विशिष्ट अर्थ की उत्पत्ति का कारण होती हैं। इस प्रसंग में शब्द और अर्थ के मध्य के सम्बन्ध का विश्लेषण भी आवश्यक है। शब्द और अर्थ के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जो कि वांछित अर्थ की प्रतीति कराता है और इस सम्बन्ध को काव्यशास्त्रीय भाषा में वाच्य-वाचक भाव कहा जाता है। इस सम्बन्ध को लेकर विद्वानों ने दो प्रकार की बातें कही हैं। विद्वानों का एक वर्ग तो यह मानकर चलता है शब्द और अर्थ दो पृथक् सत्ताएँ हैं, उनके मध्य कोई भी स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होता। किसी भी शब्द को किसी अर्थ के साथ जोड़ा जा सकता है, परन्तु जब एक बार किसी शब्द को किसी अर्थ के लिए नियत कर दिया जाये, तब उसका प्रयोग अन्य अर्थों में वर्जित हो जाता है। भाषा के व्यावहारिक प्रयोग के लिए इस प्रकार शब्द विशेष के अर्थ विशेष के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार विद्वानों के इस वर्ग के अनुसार शब्द और अर्थ के मध्य वाच्य-वाचक जैसा कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होता। विद्वानों के दूसरे वर्ग के अनुसार शब्द और अर्थ के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध अवश्य होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक शब्द में स्वभावतः अर्थबोधन की क्षमता होती है। इस सम्बन्ध में एक विद्वान् आलोचक के ये शब्द उल्लेख्य हैं—"हम किसी ऐसे शब्द की कल्पना नहीं कर सकते जो सार्थक भाषा में न प्रयुक्त हो सके। अर्थबोधन की सामान्य शक्ति से युक्त शब्दों को शक्ति की व्यवहार में सौन्दर्य के उद्देश्य से किसी एक अर्थ-विशेष के लिए सीमित कर देते हैं।" अतः यह स्पष्ट हुआ कि विद्वानों के इस वर्ग के अनुसार शब्द की शक्ति कृत्रिम नहीं होती बल्कि उसके

अर्थ-बोधन की शक्ति सीमित होती है। इस आधार पर शब्द और अर्थ के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध स्वाभाविक और नित्य होता है।

अभिधा शक्ति—अभिधा शक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वाचक शब्दों से होता है और वाचक शब्द किसी भी भाषा के मूलतः प्रचलित शब्द होते हैं। इस प्रकार के शब्दों में निश्चयात्मकता और असंदिग्धता होती है। भाषा के जिन मूल शब्दों के उच्चारण मात्र से अर्थ विशेष का बोध होता है, उन सभी शब्दों को वाचक शब्द कहते हैं। मूल क्रियाएँ जैसे खाना, पीना, पहरना तथा इसी प्रकार वस्तुओं, प्राणियों आदि के नाम जैसे पुस्तक, लेखनी, कागज और उनके विशेषण जैसे सफेद, अच्छा, बुरा आदि—ये सभी शब्द—वाचक कहलाते हैं। इन वाचक शब्दों से सीधे और प्रत्यक्ष अर्थों का बोध होता है। प्रत्येक भाषा का मूल आधार यही वाचक शब्द होते हैं और इन वाचक शब्दों से प्राप्त अर्थ-बोध को अभिधा-व्यापार कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि शब्द-विशेष से जिस अर्थ-विशेष का बोध होता है, वह पूर्णतः इच्छानुकूल होता है। लेखनी के लिए लेखनी का ही प्रयोग क्यों किया जाता है, इसका कोई दो-टूक उत्तर नहीं दिया जा सकता। जब आरम्भ में किसी व्यक्ति ने लेखनी शब्द का प्रयोग किया होगा तो उसके सामने कोई ऐसे निर्णायक कारण नहीं होंगे कि उस वस्तु के लिए लेखनी का ही प्रयोग किया जाये। यदि ऐसा ही होता तो सभी भाषाओं में 'लेखनी' के लिए लेखनी का ही प्रयोग किया जाता, न पेन का, न कलम का आदि-आदि। अतः स्पष्टतः अभिधा शब्द-शक्ति का अर्थ-व्यापार प्रयोक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है।

अभिधार्थ का ज्ञान शब्द और उसके द्वारा निर्देश्य वस्तु को जानकर हो पाता है। उदाहरण के लिए लेखनी के उच्चारण मात्र से लिखने के प्रयोग में आने वाली 'लेखनी' का समग्र चित्र उभरता है और लेखनी का ज्ञान हो जाता है। तथापि कई ऐसे शब्द भी हो सकते हैं जिनका अभिधार्थ प्राप्त करना भी दुस्साध्य होता है। उदाहरण के लिए 'चरित्र' शब्द को लीजिए। 'चरित्र' शब्द के सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि उसका अभिधार्थ उसी तरह स्पष्ट नहीं हो पाता जिस प्रकार 'लेखनी' का अभिधार्थ उभरता है। चरित्र एक व्यापक अवधारणा है, अतः उसके अभिधार्थ की प्राप्ति के लिए अन्य उपाय अपेक्षित होते हैं। इनमें से एक उपाय है—व्याख्यान अर्थात् चरित्र के अभिधार्थ के ज्ञान के लिए चरित्र की पूर्ण व्याख्या करनी आवश्यक होगी। अभिधार्थ की प्राप्ति के लिए और भी कई उपाय हो सकते हैं जैसे उसकी व्युत्पत्ति, व्यवहार, रूढ़ि आदि। उदाहरण के लिए लेखनी शब्द के अभिधार्थ के ज्ञान में उसकी व्युत्पत्ति से सहायता मिलती है। जिस उपकरण से लिखा जाता है, उसे लेखनी कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द का अभिधार्थ नियत होता है और उससे नियत अर्थ-बोध ही हो पाता है। 'लेखनी' से लिखने वाले उपकरण का ही अर्थ-बोध होगा, पुस्तक अथवा श्यामपट का नहीं। यही एक तत्त्व है जो अभिधार्थ को अन्य दो अर्थों से अलग करता है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि नियत अर्थ-बोध की प्राप्ति केवल पदों से होती है और पदों के समुच्चय को वाक्य कहते हैं। वाक्य केवल पदों का समुच्चय ही नहीं अपितु एक क्रमिक अथवा व्यवस्थित योजना होती है और इस योजना का नियमन व्याकरण के सिद्धान्तों से होता है। 'मुझे लेखनी चाहिए'—इस वाक्य में सभी शब्दों को एक विशिष्ट क्रम से रखा गया है और इस कारण स्वभावतः इससे एक विशेष अर्थ-बोध की प्राप्ति होती है। यदि इस क्रम की उपेक्षा करके मनमाने ढंग से शब्दों को रख दिया जाय तो यह निश्चित है कि उनसे वांछित अर्थ-बोध की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः यह स्पष्ट हुआ कि केवल शब्दार्थ से ही वाक्य का अर्थ-बोधन नहीं होता। प्रत्येक पद का अपना पृथक् अस्तित्व होते हुए भी अन्य पदों के साथ एक सम्बन्ध होता है और वही सम्बन्ध वांछित अर्थ-बोध उत्पन्न कर पाता है। वाक्य में पद के स्वतन्त्र अस्तित्व और अन्य पदों के साथ उनके सम्बन्ध को लेकर विद्वानों में दो मत प्रवर्तमान रहे हैं -अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वय-वाद। अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाक्य में पदों की परस्पर अन्विति हो जाती है और तभी वाक्य से अर्थ-बोधन सम्भव हो पाता है। दूसरे शब्दों में अन्विताभि-धानवाद के अन्तर्गत वाक्य में आ जाने के कारण पदों के मध्य परस्पर सम्बन्ध अथवा अन्विति होती है और इस प्रकार वाक्य में प्रयुक्त होने वाले विभक्तिमूलक शब्दों का अपना कोई अर्थ नहीं होता, उनका प्रयोग तो पदों के उल्लिखित परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक वाक्य लीजिए—'राम ने श्याम की लेखनी ली।' इस वाक्य में 'ने' और 'की' का प्रयोग केवल पदों के परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए किया गया है, उनका कोई अलग अर्थ नहीं होता। यही कारण है कि अन्विताभिधानवाद के अनुसार इन सम्बन्ध-द्योतक शब्दों को तत्सम्बन्धी पदों के साथ मिलाकर लिखा जाता है। इसके विपरीत अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य में सार्थक पदों का समुच्चय होता है और वाक्य से उत्पन्न होने वाला अर्थ वस्तुतः पदों का ही अर्थ होता है। इस मत के अनुसार वाक्य का पदों से हटकर कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता।

वाक्य के अर्थ का ज्ञान की प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर अन्य कई महत्त्वपूर्ण तत्त्व उभरते हैं। यदि वाक्य का एक अंश अभी बोला जाये और शेष अंश एक-दो घण्टे बाद बोला जाये तो यह निश्चित है कि उस वाक्य के अर्थ-बोध में कठिनाई होगी। अतः वाक्यार्थ बोध के लिए यह आवश्यक है कि समूचा वाक्य किसी प्रकार का अन्तराल दिये बिना बोला जाये : पदों की इस कालिक समीपता को शास्त्रीय भागों में आसक्ति कहा जाता है। इसी प्रकार का अन्य तत्त्व 'आकांक्षा' भी होती है वाक्य के एक पद अथवा अंश, के बोलने के साथ ही पाठक अथवा श्रोता के भीतर पूरे वाक्यार्थ को जानने की स्वाभाविक आकांक्षा जन्म लेती है। उदाहरण के लिए यदि हम केवल यही कह दें—'मोहन ने कहा कि—'तो पाठक को वाक्यार्थ के नाम पर कुछ भी ज्ञात न हो पायेगा। अभिहितान्वयवाद के अनुसार प्रस्तुत वाक्यांश अथवा

पद का स्वतन्त्र अर्थ तो ज्ञात हो जायेगा किन्तु पूर्ण वाक्यार्थ अज्ञात ही रहेगा। वाक्यार्थ के प्रसंग में अभिहितान्वयवाद 'तात्पर्य' नामक एक तीसरे तत्त्व को सत्ता भी स्वीकार करते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि अभिहितान्वयवाद के अनुसार प्रत्येक पद का स्वतन्त्र अर्थ होता है और यह अर्थ-बोध अभिधा-व्यापार से प्राप्त होता है, तथापि पूर्ण वाक्यार्थ के अर्थ-बोध के लिए पदों का अभिधा-व्यापार ही पर्याप्त नहीं होता, 'तात्पर्य' नामक तत्त्व की भी अपेक्षा रहती है। भाषा के व्यावहारिक प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयुक्त एक ही पद भिन्न-भिन्न वाक्यार्थों का बोध कराता है। निस्सन्देह पद के स्वतन्त्र अभिधार्थ के अतिरिक्त वाक्य के प्रसंग में उसमें एक 'तात्पर्य' नामक अर्थ-व्यापार भी होता है और यही कारण है कि किसी भी पद का सही अर्थ वाक्य के स्वरूप पर निर्भर करता है। वाक्यार्थ-बोध के प्रसंग में चौथा महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'योग्यता' होती है। 'योग्यता' का सीधा सम्बन्ध वैचारिक अन्विति के साथ होता है अर्थात् विचार के स्तर पर एक प्रकार की समन्विति अपेक्षित रहती है। काव्यों में भी मूलत: विचारों की अभिव्यक्ति होती है अत: स्वभावत: वाक्यों में किसी प्रकार का वैचारिक अथवा बौद्धिक विरोध अथवा असामंजस्य अवांछनीय होता है। 'योग्यता' तत्त्व का आशय यही है कि वाक्य में व्यक्त विचारों के मध्य किसी भी प्रकार का विरोध न हो और जिन पदों से मिल कर वाक्य का निर्माण होता है उन पदों के अर्थों में एक प्रकार का सामंजस्य बना रहे। वाक्य के भीतर प्रयुक्त पदों के पारस्परिक महत्त्व को लेकर भी विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार वाक्य में क्रियापद का महत्त्व सर्वाधिक होता है और दूसरे वर्ग के अनुसार 'कर्त्ता' का महत्त्व सर्वाधिक होता है। क्रियापद को मुख्य मानने वाले विद्वानों के अनुसार किसी भी वाक्य में प्रयुक्त विभक्ति परक शब्दों का प्रयोग क्रिया के अनुसार ही किया जाता है। दूसरे वर्ग के अनुसार कर्त्ता की ही सर्वाधिक महत्ता होती है, यहाँ तक कि क्रिया भी कर्त्ता के अनुसार बदलती रहती है।

अभिधार्थ को वाच्यार्थ अथवा साक्षात् संकेतार्थ अथवा मुख्यार्थ या प्रसिद्धार्थ भी कहते हैं। अभिधार्थ, अथवा वाच्यार्थ शब्द का निश्चित और स्पष्ट अर्थ होता है। इस प्रकार दो तत्त्व हुए—वाचक शब्द और वाच्यार्थ और इन दोनों के परस्पर सम्बद्ध-ज्ञान को संकेत-ग्रहण की प्राप्ति व्यवहार, व्याकरण के नियमों, उपमानों, विवरण, व्याख्या अथवा टीकाओं, कोष आदि द्वारा होती है। तथापि इन सभी कारणों में सर्वाधिक प्रमुख कारण व्यवहार है। भाषा और उसके वाक्यों के अर्थ-बोध का मूल आधार व्यवहार होता है। विद्वानों ने वाचक शब्दों को चार मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया है—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति। द्रव्य के अन्तर्गत व्यक्तिवाचक शब्द आते हैं जैसे कि मोहन, यमुना, विन्ध्याचल पर्वत आदि। गुण के अन्तर्गत विशेषणवाची शब्द आते हैं जैसे कि कुरूप, भव्य, सुन्दर, निपुण आदि। क्रिया के अन्तर्गत ऐसे वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनसे क्रिया का बोध होता हो

जैसे कि खाना, पहनना आदि। 'जाति' शब्दों के अन्तर्गत पूरी जाति आती है जैसे कि लेखनी, गाय आदि।

अभिधा अर्थ-व्यापार का क्षेत्र—पहले कहा जा चुका है कि अभिधार्थ का आशय मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ से होता है और इस प्रकार स्वभावतः अभिधा शब्द-शक्ति का सम्बन्ध भी मुख्यार्थ से होता हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि एकार्थक शब्दों का अभिधार्थ अथवा मुख्यार्थ सुस्पष्ट और नियत होता है। इसके विपरीत अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग में यह शंका स्वभावतः उठती है कि लेखक को ऐसे शब्दों का एक ही अर्थ अभीष्ट है अथवा दोनों अर्थ अभीष्ट हैं। अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग मुख्यतः दो प्रकार का होता है—श्लिष्ट और अश्लिष्ट। जब कोई कवि अथवा लेखक किसी अनेकार्थी शब्द का श्लिष्ट प्रयोग करता है तो उसे दोनों ही अर्थ अभीष्ट होते हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकेगी—

है पूतनामारण सुदक्ष में, जघन्य काकोदर था विपक्ष में।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु।'

इन दो पंक्तियों से दो अर्थ प्रकट होते हैं—एक तो राम के प्रसंग में और दूसरा कृष्ण के प्रसंग में। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ये दोनों अर्थ मुख्यार्थ अथवा वाच्चार्थ ही हैं और इनका बोध केवल अभिधा शब्द-शक्ति से ही हो जाता है। राम के पक्ष में इसका अर्थ होगा—कि पूतनामारण में सुदक्ष राम और विपक्ष में काकोदर अर्थात् इन्द्र का पुत्र जयन्त था। कृष्ण के पक्ष में इसका अर्थ होगा कि—पूतना नामक राक्षसी को मारने में दक्ष श्रीकृष्ण और विपक्ष में काकोदर अथवा कालीय सर्प था। अनेकार्थी शब्दों के अश्लिष्ट प्रयोग के समय केवल एक ही अर्थ अभीष्ट होता है किन्तु उस एक अर्थ का बोध कई बातों पर निर्भर होता है। कई बार अनेकार्थी शब्दों के अश्लिष्ट प्रयोग से एकाधिक अर्थों का बोध होता है और उस स्थिति में विद्वानों ने चौदह ऐसे नियामक आधार गिनाये हैं जिनसे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति सम्भव होती है। इन चौदह नियामक आधारों में—संयोग, विप्रयोग, आदि विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। इन नियामक आधारों से किस प्रकार अभीष्ट अर्थ का बोध होता है, निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो सकेगा—

संयोग—शंख, चक्र से युक्त हरि (प्रस्तुत प्रसंग से शंख और चक्र के संयोग से 'हरि' का अर्थ विष्णु होगा। 'हरि' के अन्य अर्थ सिंह, कपि, अश्व आदि भी होते हैं, किन्तु यहाँ शंख और चक्र के संयोग से 'विष्णु' का अर्थ-बोध होता है।)

विप्रयोग—शंख और चक्र से रहित हरि (यहाँ भी विप्रयोग के कारण शंख और चक्र से रहित 'हरि' का आशय 'विष्णु' से होगा।)

साहचर्य—राम और लक्ष्मण वन को गये (प्रस्तुत प्रसंग में राम का आशय दशरथ-पुत्र राम से है, परशुराम से नहीं)

विरोधिता—लक्ष्मण ने राम को खरी-खोटी सुनाई। (यहाँ 'राम' का आशय दशरथ-पुत्र राम से नहीं, अपितु परशुराम से है)

प्रकरण—किसी दास द्वारा अपने आश्रयदाता शासक को 'देव' कहकर सम्बोधित किये जाने पर 'देव' का अर्थ शासक से ही होगा, किसी देवता से नहीं।

वस्तुतः उपर्युक्त चौदह नियामक आधारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार प्रकरण ही होता है। प्रकरण में वक्ता और श्रोता—दोनों की स्थिति और वातावरण को दृष्टिगत रखना पड़ता है। 'प्रकरण' में अन्य बहुत से नियामक आधारों का समावेश हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से अभिधा शब्द-शक्ति का क्षेत्र निर्धारित हो जाता है। अभिधा शब्द-शक्ति का एक रूप तो एकार्थक शब्दों में दीखता है और निस्संदेह अभिधा शब्द-शक्ति का मूल रूप इन्हीं एकार्थक शब्दों में निहित रहता है। इस शब्द-शक्ति के अन्य दो रूप अनेकार्थी शब्दों में देखे जा सकते हैं जिनमें कवि को एक अथवा दो अर्थ अभीष्ट होते हैं। इन तीनों रूपों के अतिरिक्त अभिधा शब्द-शक्ति का एक अन्य रूप ऐसे अनेकार्थी वाचक शब्दों में देखा जा सकता है जिनमें कवि का प्रसंगानुकूल वाच्यार्थ तो अभीष्ट होता ही है, इसके अतिरिक्त एक व्यंग्यार्थ भी अभीष्ट होता है। अभिधा शब्द-शक्ति का यह अन्तिम रूप विशुद्ध रूप से अभिधा शब्द-शक्ति से बाहर का रूप होता है क्योंकि व्यंग्यार्थ का क्षेत्र उस बिन्दु से आरम्भ होता है जहाँ अभिधार्थ का अन्त होता है। अभिधा शब्द-शक्ति के इस रूप को अभिधामूला व्यंजना कहा जाता है जिसके सम्बन्ध में व्यंजना शब्द-शक्ति के अन्तर्गत विचार किया गया है।

लक्षणा शब्द-शक्ति—कविता के क्षेत्र में जटिल मानवीय भावों की सशक्त अभिव्यक्ति केवल अभिधा शब्द-शक्ति के सहारे नहीं हो सकती। सीधे-सरल और एकार्थक शब्दों के माध्यम से केवल तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अतः स्वभावतः कवि लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियों के माध्यम से अपनी बात को प्रभावशाली अभिव्यक्ति दे पाता है। लक्षणा शब्द-शक्ति के प्रयोग में चार बातें अपेक्षित होती हैं—पहली तो यह कि शब्दों के वाच्यार्थ के बोध में कठिनाई होती है अथवा यूँ कहा जा सकता है कि प्रसंगानुसार वाच्यार्थ मेल नहीं खाता है, दूसरी यह कि मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ का आभास होता है, तीसरी यह कि यह भिन्न अर्थ भी अन्ततः मुख्यार्थ से ही सम्बद्ध होता है और चौथी तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि भिन्न अर्थ के मूल में रूढ़ि अथवा प्रयोजन की स्थिति होती है। एक उदाहरण से इन चारों बातों की स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। मान लीजिए एक वाक्य है—"तुम एकदम गधे हो"—इस वाक्य में 'गधा' शब्द लक्षक शब्द है क्योंकि इसे वाचक शब्द मान लेने पर वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ ग्रहण करने में कठिनाई होती है। अतः स्पष्टतः 'गधे' का प्रयोग 'तुम्हारी' मूर्खता और मन्दबुद्धि को व्यक्त करने के लिए किया गया है। 'मूर्खता' का अर्थ मुख्यार्थ अर्थात् गधे (पशु विशेष) से भिन्नता लिये

है और इस कारण इसे लक्ष्यार्थ कहा जायेगा । तथापि यह भिन्न अर्थ गधे (पशु विशेष) की मूर्खता (वाच्यार्थ) से सम्बन्धित भी है। 'तुम्हारी मूर्खता' को व्यक्त करने के प्रयोजन से इस लक्ष्यार्थ का बोध होता है । इस प्रकार लक्षणा शब्द-शक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है, "मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा शब्द-शक्ति कहते हैं । लक्षणा शब्द-शक्ति के प्रसंग में रूढ़ि तथा प्रयोजन की महत्ता सर्वोपरि होती है और कदाचित् इसीलिए विद्वानों ने इसी आधार पर लक्षणा के दो प्रमुख भेद किये हैं—रूढ़ा लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा ।

रूढ़ा लक्षणा का प्रयोग अनजाने में ही, किसी विशिष्ट प्रयोजन के बिना भी हो जाता है । रूढ़ा लक्षणा का मूल आधार भाषा की रूढ़ि होती है और लक्षणा की इस शब्द-शक्ति में मुख्यार्थ ही लक्ष्यार्थ का बोध कराता है । भाषाओं के मुहावरे और लोकोक्तियाँ इसी रूढ़ा लक्षणा का चमत्कार होती हैं । कवि हरिऔध के निम्न पद में रूढ़ा लक्षणा के दर्शन होते हैं—

कवि अनूठे कलाम के बल से,
हैं बड़ा ही कमाल कर देते ।
बेचने के लिए कलेजे को,
हैं कलेजा निकाल धर देते ।'

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि लक्षणा शब्द-शक्ति के प्रयोग के मुख्यतः दो पक्ष होते हैं—वक्ता और श्रोता । वक्ता इस शब्द-शक्ति का प्रयोग करता है और यह प्रयोग भी किसी-न-किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया जाता है । तथापि यह उल्लेख्य है कि वक्ता अपनी भाषा में केवल इस शब्द-शक्ति का प्रयोग ही करता है, शब्दों में कोई शक्ति नहीं भर देता । यह प्रयोग भी निस्सन्देह भाषा की शक्ति पर निर्भर करता है । निःशक्त भाषा में इस प्रकार के प्रयोग की कल्पना भी नहीं की जा सकती । उदाहरण के लिए एक वाक्य है—'मेरा घर गंगा में है।' यहाँ मुख्यार्थ ग्रहण में असंगति दीखती है; क्योंकि गंगा में तो घर हो ही नहीं सकता । वक्ता ने यह प्रयोग जान-बूझकर किया है और इस प्रयोग के पीछे उसका विशिष्ट प्रयोजन है। इस एक वाक्य से वक्ता कहना चाहता है कि "मेरा घर गंगा के इतना समीप है कि गंगाजल की शीतलता और पवित्रता निरन्तर मेरे घर में बनी रहती है ।" भाषा के प्रयोग का यह चातुर्य ही इस एक वाक्य में इतने सारे भाव भर देता है । जहाँ इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति का प्रयोजन होता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा मानी जाती है । रूढ़ा लक्षणा का प्रयोग भाषा के ऐसे कई शब्दों के लिए भी किया जाता है जो कि निरन्तर प्रयोग में आने के कारण अपने वाच्यार्थ को छोड़कर एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं । उदाहरण के लिए, एक शब्द है 'कुशल' जिसका वाच्यार्थ है कुश लाने वाला । तथापि व्यवहार में कुशल का प्रयोग निपुण, दक्ष आदि अर्थों में किया जाता है । इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि इस प्रकार के प्रयोग इतने रूढ़ हो

गए हैं कि अब उनका वाच्यार्थ प्रायशः लुप्त हो गया है। 'कुशल' शब्द के उच्चारण मात्र से निपुण और दक्ष का भाव प्रकट होता है और यही कारण है कि इस प्रकार के प्रयोगों को अब अभिधा के अन्तर्गत ही माना जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा में मुख्यार्थ किसी विशिष्ट प्रयोजन से लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। इस प्रकार के प्रयोग में वक्ता अथवा कवि एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराना चाहता है और इसी कारण इस लक्षणा को प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के महाकवि निराला की कविता की निम्न पंक्ति देखिए—

'चल चरणों का व्याकुल पनघट'

इस पंक्ति में कवि ने पनघट को व्याकुल कहा है जो कि एक असंगत अर्थ होगा। वस्तुतः पनघट व्याकुल नहीं है, अपितु गोपियां व्याकुल हैं। इसी प्रकार चल अर्थात् चंचल चरण नहीं है, बल्कि गोपियां हैं और जो पनघट है वह भी चरणों का नहीं अपितु चल (चंचल) गोपियों का है। इस पूरी पंक्ति में कवि ने निम्न लक्ष्यार्थ भरने का सफल प्रयत्न किया है—चंचल और व्याकुल हृदय वाली गोपियों का पनघट। इस प्रयोग में कवि ने गोपियों की व्याकुलता को अभिव्यक्ति दी है और इस कारण इसे प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा के पुनः दो भेद किये गये हैं—प्रयोजनवती गौणी और प्रयोजनवती शुद्धा। इसी प्रकार रूढ़ा लक्षणा के भी दो भेद किये जाते हैं—रूढ़ा गौणी और शुद्धा गौणी। यह भेद विभाजन वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के परस्पर सम्बन्ध को लेकर किया गया है। गौणी वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में गुणों आदि के आधार पर सादृश्य-सम्बन्ध हो। जहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में गुणों के सादृश्य सम्बन्ध से इधर कोई सम्बन्ध हो वहाँ शुद्धा होती है। प्रयोजनवती गौणी के उदाहरणस्वरूप एक वाक्य लिया जा सकता है—बलराम शेर है। इस वाक्य में वक्ता ने बलराम नामक व्यक्ति के पराक्रम और शूरवीरता का भाव प्रकट करते हुए शेर का लाक्षणिक प्रयोग किया है। शेर एक वीर और साहसी पशु होता है और इस प्रकार बलराम और शेर के वीरता, पराक्रम, साहस आदि गुणों में साहश्य सम्बन्ध है और इस कारण यहाँ प्रयोजनवती गौणी लक्षणा कही जायेरी। प्रयोजनवती गौणी के पुनः तीन और उपभेद किये गये हैं—प्रयोजनवती निरारोपा गौणी, प्रयोजनवती सारोपा गौणी तथा प्रयोजनवती साध्यवसाना गौणी। प्रयोजनवती निरारोपा गौणी में उपमेय-उपमान-रूप का आरोपण नहीं होता। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए—'रेखा ने अँगड़ाई ली।' इस वाक्य में रेखा के नींद से उठकर जाग्रत हो जाने का भाव विशेष रूप से व्यक्त किया गया है। जाग्रत होने और अँगड़ाई लेने में एक प्रकार का साहश्य सम्बन्ध है, अतः इसे गौणी का भेद कहा गया है। उपमेय और उपमान का आरोपण न होने के कारण इसे निरारोपा कहा गया है। जहाँ उपमेय-उपमान का आरोपण होता है वहाँ प्रयोजनवती सारोपा गौणी

होती है। इस प्रकार का प्रयोग अधिकतर रूपक अलंकार के रूप में होता है। उदाहरण के लिए, एक वाक्य लीजिए—'मोहन गधा है।' यहाँ रूपक अलंकार है अर्थात् उपमेय-उपमान का आरोपण है, अतः यहाँ प्रयोजनवती सारोपा गौणी होगी। प्रयोजनवती साध्यवसाना गौणी में उपमेय व्यक्ति का लोप हो जाता है और उपमान से ही अर्थ-बोधन होता है। इसका प्रयोग रूपकातिशयोक्ति अलंकार के रूप में किया जाता है। उदाहरण के लिए मन्द-बुद्धि और मूर्ख मोहन को यदि कोई कहे 'ओ गधे, कुछ बुद्धिसंगत बात करो' तो इस वाक्य में मोहन का लोप हो गया है और उसकी मूर्खता के लिए उपमान अर्थात् केवल गधे का प्रयोग किया गया है। यहाँ प्रजोजन-वती साध्यवसाना गौणी होगी।

प्रयोजनवती शुद्धा में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के मध्य सादृश्य सम्बन्ध न होकर कोई इतर सम्बन्ध होता है। प्रयोजनवती शुद्धा के पुनः तीन उपभेद किये गये हैं—निरारोपा प्रयोजनवती शुद्धा, सारोपा प्रयोजनवती शुद्धा और साध्यवसाना प्रयोजनवती शुद्धा। निरारोपा प्रयोजनवती शुद्धा में उपमेय-उपमान का आरोपण न होकर केवल लाक्षणिक प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, एक वाक्य लीजिए—''मेरा घर गंगा पर है'—इस वाक्य में गंगा का वाच्यार्थ गंगा नामक जल-धारा से है किन्तु जल-धारा के बीच घर का होना सम्भव नहीं है। स्वभावतः यह प्रयोग केवल घर और गंगा के सामीप्य दर्शाने के प्रयोजन से किया गया है। तथापि लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ का समीप्य सम्बन्ध सुस्पष्ट है। सारोपा प्रयोजनवती शुद्धा में उपमेय-उपमान-रूप का आरोपण होता है। उदाहरण के लिए, एक वाक्य है—'वायु ही जीवन है।' इस वाक्य का वाच्यार्थ है—वायु ही जीवन अथवा जीवन की शक्ति होती है। लक्ष्यार्थ हुआ—वायु ही जीवन-शक्ति का कारण अथवा आधार है। वायु और जीवन के मध्य इस कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर इस वाक्य में सारोपा प्रयोजनवती शुद्धा की स्थिति हो सकी है। वायु में जीवन का आरोपण किये जाने के कारण इसे सारोपा कहा गया है। साध्यवसाना प्रयोजनवती शुद्धा में उपमेय का लोप हो जाता है और उपमान से ही कार्य चलाया जाता है।

इसी आधार पर रूढ़ा गौणी और शुद्धा गौणी के भेद किये गये हैं। रूढ़ा गौणी के उदाहरण के रूप में एक वाक्य उद्धृत किया जा सकता है—'मोहन चौकन्ना है।' 'चौकन्ना' शब्द का वाच्यार्थ होता है—चार कानों वाला किन्तु मोहन के चार कानों की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः प्रस्तुत प्रसंग में वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ लेना होगा। इस वाक्य में चौकन्ना का आशय सावधान तथा सतर्क आदि से है और चौकन्ना का यह प्रयोग वस्तुतः रूढ़ हो चुका है। गौणी इसलिए कहा गया है क्योंकि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य सम्बन्ध की स्थिति बनी हुई है। शुद्धा गौणी में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के मध्य सादृश्य सम्बन्ध के स्थान पर इतर सम्बन्ध होता है। उदाहरण के रूप में एक वाक्य लीजिए—'एक सवारी और'—इस वाक्य

में सवारी शब्द रूढ़ा के साथ ही शुद्धा भी है। सवारी के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य सम्बन्ध के स्थान पर आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध है।

लक्षणा के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त विद्वानों ने लक्षणा के और भी कई भेद गिनाये हैं—अजहत्स्वार्था, जहत्स्वार्था तथा विपरीत लक्षणा। अजहत्स्वार्था का दूसरा नाम उपादान लक्षणा होता है। अजहत्स्वार्था में मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता, बल्कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति के साथ ही मुख्यार्थ भी जुड़ा रहता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए—'आम तो आम ही है।' यहाँ 'आम' शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है, पहला प्रयोग तो वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ का बोध कराता है और दूसरा प्रयोग लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। दूसरे प्रयोग में लक्ष्यार्थ के साथ ही मुख्यार्थ भी ग्रहण किया गया है। इस सबके अतिरिक्त आम की सरसता और स्वादुता का भाव भी व्यक्त किया गया है, अतः यह प्रयोजनवती भी है। इसके विपरीत जहत्स्वार्था में लाक्षणिक शब्द अपने मुख्यार्थ को सर्वथा त्याग देता है। इस प्रकार की लक्षणा को लक्षणलक्षणा भी कहा जाता है। उदाहरण के रूप में एक वाक्य लीजिए—'घर गंगा पर है।' इस वाक्य में गंगा के वाच्यार्थ 'जल-प्रवाह' का सर्वथा त्याग हो जाता है और उसके लक्ष्यार्थ अर्थात् गंगा के तट की प्रतीति होती है। लक्षणा का एक महत्त्वपूर्ण भेद विपरीत लक्षणा है। इस प्रकार की लक्षणा में वाच्यार्थ से एक दम उल्टे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। उदाहरण के रूप में, यदि किसी अत्यन्त दुर्बल और क्षीणकाय व्यक्ति को 'कागजी पहलवान' का नाम दे दिया जाये तो यहाँ विपरीत लक्षणा होगी। इस वाक्य में दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं—एक तो दुबले-पतले व्यक्ति को व्यंग्य रूप में पहलवान कहना और दूसरे उस पहलवान को भी कागजी कहना। पहली तो व्यंग्यार्थ है और दूसरी विपरीत लक्षणा। लक्षणा शब्द-शक्ति के विभिन्न भेदों-उपभेदों को समझने में पृष्ठ 300 पर दी हुई तालिका सहायक होगी—

लक्षणा
रूढ़ा लक्षणा (16 भेद)
प्रयोजनवती लक्षणा (64) भेद
गौणी
शुद्धा
प्रयोजनवती गौणी
प्रयोजनवती शुद्धा
निरारोपा
सारोपा
साध्यवसाना
निरारोपा
सारोपा
साध्यवसाना
निरारोपा
सारोपा
साध्यवसाना
निरारोपा
सारोसा
साध्यवसाना
जहत्स्वार्था
अजहत्स्वार्था
विपरीत लक्षणा।
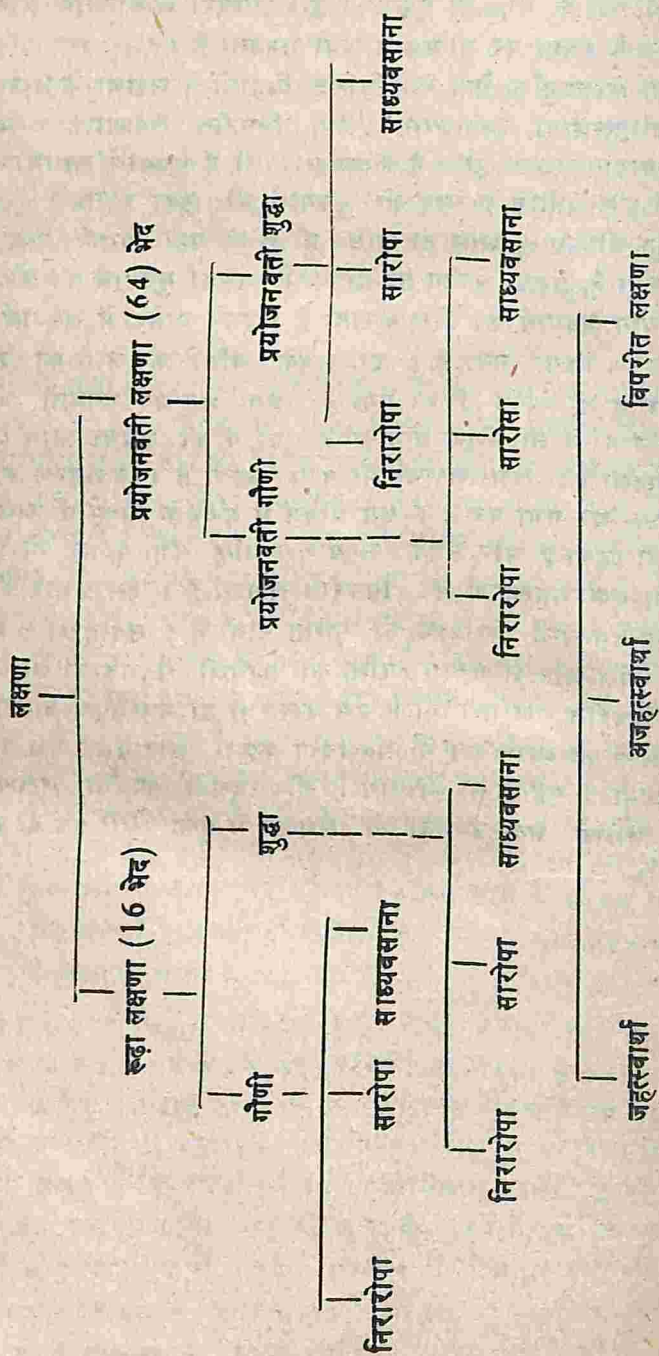
विद्वानों ने लक्षणा के लगभग 80 भेद-उपभेद किये हैं किन्तु यहाँ केवल अपेक्षतया महत्त्वपूर्ण भेदों की ही चर्चा की गयी है।

व्यंजना शब्द-शक्ति—व्यंजना शब्द-शक्ति का अर्थ-व्यापार उस बिन्दु से आरम्भ होता है जहाँ अभिधा और लक्षणा शब्द-शक्तियों का कार्य समाप्त हो जाता है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना-अपना अर्थ-बोधन करके शान्त हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोधन होता है उसे व्यंजना शब्द-शक्ति कहते हैं।" पहले ही कहा जा चुका है कि अभिधा में केवल अभिधेयार्थ का ही बोध होता है। व्यंजना शब्द-शक्ति का आरम्भ वहाँ से होता है जहाँ अभिधा और लक्षणा शब्द-शक्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। मान लीजिए, किसी कारखाने में काम करने वाले कर्मचारी कहते हैं कि 'शाम हो गयी' तो इस वाक्य का एक अर्थ यह भी निकलता है कि छुट्टी का समय हो गया, घर चला जाए। यह अर्थ निश्चित रूप से अभिधार्थ के अतिरिक्त एक नया अर्थ है। 'शाम हो गयी है, से छुट्टी होने कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है और इस प्रकार यहाँ लक्षणा भी नहीं है। निस्सन्देह इस वाक्य से अभिधेयार्थ के अनन्तर एक अन्य अर्थ का भी बोध होता है जिसका मूलाधार वस्तुतः यही अभिधेयार्थ होता है। इस नए अर्थ-बोध की शक्ति को व्यंजना शब्द-शक्ति कहा जाता है। व्यंजना शब्द का अर्थ भी प्राकट्य होता है। जब कोई वस्तु अथवा भाव छिपा हो और यदि उस छिपाव अथवा आवरण को हटाकर मूल-वस्तु अथवा भाव को प्रकट किया जाये तो इस अर्थ-व्यापार को व्यंजना कहा जायेगा। काव्य में जिस व्यंजना का प्रयोग होता है, उसका प्रयोजन भी प्रकारान्तर से छिपे हुए भावों, विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करना है। सामाजिक परम्पराओं से आबद्ध होने के कारण कोई भी कवि कई बातें नहीं कह सकता किन्तु फिर भी यदि वह उन बातों को कहना ही चाहता है तो उन्हें शालीनता और मर्यादा के ऐसे आवरण में ढककर कहता कि समझने वाला उन्हें समझ भी जाए और किसी को कोई आपत्ति भी न हो। उदाहरण के लिए तुलसीकृत रामायण में से पुष्पक-वाटिका का प्रसंग लिया जा सकता है। पुष्पक-वाटिका में सीता अपनी सखियों के साथ पूजन के लिए आयी है और वहीं राम और लक्ष्मण भी विद्यमान हैं। राम की सुन्दर छवि को निहार कर सीता मंत्रमुग्ध हो गयीं और समय का ध्यान जाता रहा। तभी एक सखी ने कहा, 'पुनि आउब एहि बेरिआ काली। अस कहि मन बिहसी एक आली।' अर्थात् (अब देर हो गयी है) कल इसी समय फिर आयेंगी, यह कहकर एक सखी मन में हँसी। इस वाक्य में प्रत्यक्षतः ऐसे कहीं नहीं कहा गया है कि देर हो गयी है। तथापि सीता इस वाक्य की गहराई को समझ गयीं—'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलम्बु मातु भय मानी।' अर्थात् सखी की गहरी बात सुनकर सीता सकुचा गयीं और देर हुई जानकर उन्हें माता का भय लगा। प्रस्तुत प्रसंग में कवि तुलसीदास ने राम के अद्वितीय रूप के प्रति सीता के अत्यधिक आकर्षण और मंत्रमुग्ध हो जाने की बात को मर्यादा और शील के बन्धनों में बाँधकर कह दिया है। इसी प्रकार की

अभिव्यक्ति में व्यंजना शब्द-शक्ति का परिचय मिलता है। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि व्यंजना में वास्तविक अर्थ-चमत्कार कई अन्य बातों पर निर्भर करता है जैसे कि प्रसंग, वक्ता की मन:स्थिति, वातावरण आदि। प्रसंग और वक्ता की मन:स्थिति, वातावरण आदि के अनुसार एक ही वाक्य से भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। व्यंजना केवल शब्द-व्यापार नहीं है। कई बार तो प्रकरण अथवा प्रसंग के अज्ञात रहने से सीधे सरल वाक्य भी किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं करा पाते। 'शाम हो गयी'—यह एक सीधा और तथ्यात्मक वाक्य है, किन्तु वातावरण, प्रसंग, वक्ता की मन:स्थिति आदि के कारण इसी सीधे से वाक्य के नए-नए अर्थ निकल पड़ते हैं। प्रकरण, वातावरण तथा वक्ता की मन:स्थिति के आधार पर इस वाक्य का अर्थ निम्न अर्थों में से कुछ भी हो सकता है—

(क) शाम हो गयी है, खाना खा लिया जाये (अर्थात् खाने का समय हो गया है।)

(ख) शाम हो गयी है प्रिय-मिलन होगा (अर्थात् शाम का समय प्रिय से मिलन का समय है।)

(ग) शाम हो गयी है, घर चला जाये (अर्थात् घर जाने का सयय हो गया है।)

इसी प्रकार इस छोटे से वाक्य के अन्य अर्थ निकाले जा सकते हैं। तथापि इसका यह अर्थ भी नहीं लगाया जाना चाहिए कि प्रकरण, वातावरण आदि ही प्रमुख होते हैं और शब्दों की अपनी कोई महत्ता ही नहीं होती। यह निर्विवाद है कि शब्दों के उच्चारण, प्रयोग के बिना प्रकरण आदि सभी तत्त्व मिलकर भी किसी प्रकार अर्थ-बोधन नहीं कर सकेंगे।

व्यंजना शब्द-शक्ति की सहायता के लिए अभिधा और लक्षणा शब्द-शक्तियाँ भी होती हैं अर्थात् व्यंजना शब्द-शक्ति का चमत्कार भी अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा रखता है। व्यंजना शब्द-शक्ति के दो महत्त्वपूर्ण अवयव होते हैं—व्यंजक शब्द और व्यंग्यार्थ। जिन शब्दों से व्यंजना शक्ति व्यंग्यार्थ का बोधन कराती है उन्हें व्यंजक शब्द कहते हैं। व्यंजना-शक्ति से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंग्यार्थ कहा जाता है।

विद्वानों ने व्यंजना शब्द-शक्ति के दो मुख्य भेद माने हैं—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द को हटाकर उसके स्थान पर कोई अन्य समानार्थी शब्द नहीं रखा जा सकता। शाब्दी व्यंजना के पुन: दो उपभेद किये गये हैं—अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना। अभिधामूला व्यंजना के अधीन किसी अनेकार्थी शब्द के ऐसे अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है जो निम्न पन्द्रह कारणों से अवाच्य घोषित कर दिया गया हो—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य देश, काल, व्यक्ति,

स्वर, अभिनय आदि। अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण के रूप में एक कवि की निम्न दो पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

'मुखर मनोहर श्याम रंग, बरसत मुद अनुरूप
झूमत मतवारी झमकि बनमाली रस रूप।'

इन पक्तियों में वनमाली अर्थात् मेघों का प्रसंग है और यह भी ठीक है कि प्रस्तुत प्रसंग में वनमाली का यह अर्थ संयोगादि कारणों के आधार पर ही निर्णीत है किन्तु अभिधामूला व्यंजना द्वारा यहाँ वनमाली का अर्थ श्रीकृष्ण भी होता है। अन्यथा भी मेघ और श्रीकृष्ण में उपमेय-उपमान का भाव प्रतिफलित होता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि अभिधामूला व्यंजना और श्लेष अलंकार—दोनों में कवि को दो-दो अर्थ अभीष्ट होते हैं। अन्तर केवल यह है कि श्लेष अलंकार में दोनों अर्थ वाच्यार्थ रूप में होते हैं और साथ ही प्रस्तुत भी होते हैं जबकि अभिधामूला व्यंजना में एक ही अर्थ प्रस्तुत होता है और दूसरा अप्रस्तुत।

लक्षणामूला व्यंजना—उस शक्ति को कहते हैं जिसके माध्यम से उस प्रयोजन का उद्घाटन होता है जिसके लिए लक्षणा का प्रयोग किया गया हो। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि जिस शक्ति से वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ रूपी प्रयोजन का पता चलता है उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं। लक्षणामूला व्यंजना के उदाहरण के रूप में एक कवि की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'बैठि रहि हम हूँ हिय हारि,
कहा लगि टारिये हाथ न गाजै।'

इन पंक्तियों में एक विरहिणी नायिका के उद्गार देखे जा सकते हैं। यहाँ प्रयुक्त 'टारियै हाथ न गाजै' का वाच्यार्थ है हाथों पर ही वज्र को रोकना। इस पंक्ति का लक्ष्यार्थ है—विरहजन्य वेदना को सहना और व्यंग्यार्थ है विरह का आधिक्य।

आर्थी व्यजना कतिपय कारणों से अन्य अर्थ का बोध कराती है और इन कारणों में मुख्य हैं—वक्ता, श्रोता, काकु, वाक्य, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा, अन्यसन्निधि आदि। शास्त्रकारों ने इस प्रकार के कारणों की संख्या दस बताई है और तदनुसार आर्थी व्यंजना के भी दस भेद किये गये हैं। उदाहरण के रूप में तीन-चार कारणों का उल्लेख नीचे किया गया है—

(क) बौद्धव्य (श्रोता) वैशिस्ट्य आर्थी व्यंजना—

'खो के आत्मगौरव स्वतन्त्रता भी, जीते हैं
मृत्यु सुखदायक है वीरो इस जीने से।'

इन पंक्तियों में श्रोताओं की विलासिता को लेकर व्यंग्य किया गया है।

(ख) वक्तृ (वक्ता) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

'निरखि सेज रंग-रंग भरी लगी उसास लैन।
कछु न चैन चित्त में रह्यो चढ़त चाँदनी रैन।'

इन पंक्तियों में वक्ता (जो कि नायिका की एक सखी है) चाँदनी रात में नायिका की विरहजन्य पीड़ा का वर्णन कर रहा है। व्यंग्य रूप में वक्ता नायक की निष्ठुरता का ही वर्णन कर रहा है।

(ग) प्रस्ताव (प्रकरण) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

'स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम का प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में
क्षात्र धर्म के नाते
सखी वे मुझसे कह कर जाते।'

इन पंक्तियों में यशोधरा अपनी सखी को सम्बोधित करके कह रही हैं। प्रकरण यशोधरा और गौतम बुद्ध का है जिसके आधार पर व्यंग्यार्थ है कि यदि वे (यहाँ गौतम) कहकर जाते तो मुझे यह कठिन समय काटने में कोई कठिनाई नहीं होती।

(घ) अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

'निश्चल विसिनि पत्र पै बलाक यहि भाँति।
मरकत भाजन पै मनो अमल संख सुभ कान्ति।'

इन पंक्तियों में नायिका अपने नायक से कहती है कि "कमलिनी के पत्ते पर बैठा हुआ बगुला इस प्रकार भला लग रहा है मानो मरकत मणि की स्वच्छ, निर्मल थाली में कोई शंख रखा हो।" इन पंक्तियों का यह अर्थ केवल वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ है कि यह स्थान अत्यन्त निर्जन है। क्योंकि बगुला निश्शंक बैठा हुआ है। इस व्यंग्यार्थ के बोध में बगुले का निश्शंक रूप में बैठना महत्त्वपूर्ण है और यही कारण है कि यहाँ अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना है।

अभिधा और व्यंजना शब्द-शक्तियों में अन्तर—भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अभिधा और व्यंजना के अन्तर को लेकर सविस्तार विवेचन किया है। इन दोनों शब्द-शक्तियों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर तो यही होता है कि अभियाधेयार्थ अथवा वाच्यार्थ निमित्त होता हैं जबकि व्यंग्यार्थ नैमित्तिक होता है। व्यंग्यार्थ का मूलाधार वाच्यार्थ ही होता है। दूसरा भेद काल-भेद होता है—वाच्यार्थ पहले प्रस्तुत होता है, व्यंग्यार्थ बाद में। अभिधेयार्थ के प्रकट हो जाने पर ही व्यंग्यार्थ का जन्म होता है। अभिधा और व्यंजना का तीसरा भेद उनके विस्तार को लेकर किया जाता है। अभिधेयार्थ पूरे वाक्य अथवा पद से ही प्रकट हो सकता है जबकि व्यंग्यार्थ केवल एक वर्ण, शब्द अथवा पदांश से भी और कई स्थितियों में तो केवल शारीरिक चेष्टाओं तक से प्रकट हो सकता है। चौथी बात यह है कि वाच्यार्थ केवल तथ्यात्मक बोध ही कराता है जबकि व्यंग्यार्थ भावों को भी जाग्रत करता है। वाच्यार्थ का क्षेत्र विशुद्ध रूप से बौद्धिक होता है जबकि व्यंग्यार्थ का क्षेत्र अपरिमित होता है। इस सम्बन्ध में पाँचवीं बात यह है कि वाक्यार्थ एक ही होता है जबकि व्यंग्यार्थ परिस्थिति और

प्रकरण के अनुसार कई हो सकते हैं। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए—'संध्या हो गयी।' इस वाक्य का वाक्यार्थ केवल यही होगा कि सूर्य अस्त हो गया किन्तु इसके व्यंग्यार्थ परिस्थिति और प्रकरण के अनुसार अनेक हो सकते हैं—कामगरों के लिए यह वाक्य छुट्टी करने का परिचायक होगा तो युद्ध भूमि में कहा गया यह वाक्य आक्रमण के लिए उपयुक्त समय का द्योतक होगा। यदि वासक सज्जा से यह वाक्य कहा जायेगा तो इसका अर्थ होगा कि नायक आने वाला है। इसी प्रकार मन्दिर के किसी पुजारी के अनुसार यह वाक्य संध्या समय की आरती गाने का संकेत देगा। इस सम्बन्ध में अन्तिम भेद विषय को लेकर किया जाता है। वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों, श्रोताओं के लिए एक-सा होगा किन्तु व्यंग्यार्थ प्रत्येक श्रोता के लिए अपने-अपने ढंग का होगा।

लक्षणा और व्यंजना में अन्तर—यद्यपि लक्षणा और व्यंजना—इन दोनों शब्द-शक्तियों में अत्यधिक साम्य होता है, तथापि ये दोनों ही नितान्त पृथक् शब्द-शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार लक्षणा के अन्तर्गत प्रकरण के अनुसार कई लक्ष्यार्थ प्रकट होते हैं उसी प्रकार परिस्थिति और प्रकरण के अनुसार कई व्यंग्यार्थ भी होते हैं। प्रकरण का महत्त्व केवल व्यंजना में ही नहीं, लक्षणा में भी होता है। तथापि यह स्मरणीय है कि लक्षणा अनेकार्थी होते हुए भी व्यंजना की भाँति अनेकार्थी नहीं होती। लक्षणा की अनेकार्थता अभिधेयार्थ की भाँति ही होती है। व्यंजना की भाँति लक्षणा के अर्थ अनेक और अपरिमित नहीं होते। लक्ष्यार्थ का बोध व्यक्ति व्यक्ति के साथ नहीं बदलता, ऐसा तो केवल व्यंग्यार्थ में ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्व-पूर्ण बात यह भी है कि लक्ष्यार्थ किसी-न-किसी रूप में वाच्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ से सम्बद्ध अवश्य होता है जबकि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बद्ध और असम्बद्ध—दोनों प्रकार का हो सकता है। लक्ष्यार्थ केवल एक ही बार प्रकट होता है जबकि व्यंग्यार्थ हर बार नए-नए रूप में निकाला जा सकता है। लक्षणा केवल वहीं हो सकती है जहाँ शब्द हों किन्तु व्यंजना का चमत्कार शब्दों के अभाव में भी देखा जा सकता है। केवल शारीरिक चेष्टाएँ ही व्यंग्यार्थ का बोध करा सकती हैं।

व्यंजना शब्द-शक्ति का विरोध—भारतीय काव्यशास्त्रियों ने एकमत होकर व्यंजना शब्द-शक्ति का ही अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। व्यंजना के अस्तित्व को ही नकारने वाले काव्यशास्त्रियों की मान्यताएँ मुख्यतः इस प्रकार हैं—(क) अभिधा में ही व्यंजना का अन्तर्भाव हो सकता है। (ख) लक्षणा का भी इतना विस्तार किया जा सकता है कि उसमें व्यंजना की विशेषताएँ भी समाविष्ट की जा सकें। (ग) तात्पर्य वृत्ति में व्यंजना-गतार्थ हो जाती है। (घ) व्यंजना का अन्तर्भाव अलंकारों में हो जाता है। (ङ) व्यंजना का अन्तर्भाव अनुमान में भी हो जाता है। तथा (च) अखण्ड स्फोटवाद में व्यंजना का अन्तर्भाव हो जाता है। इन सभी मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन अग्रानुसार है—

(क) अभिधा में व्यंजना का अन्तर्भाव—अभिधा शब्द-शक्ति के पक्षधरों की मान्यता यह है कि अभिधा का अपना क्षेत्र इतना विस्तृत और व्यापक होता है कि उसमें व्यंग्यार्थ भी सहज ही सिमट आता है। मीमांसकों की धारणा यही रही है और कदाचित् इसी कारण वे व्यंजना शब्द-शक्ति का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। काव्यशास्त्रियों के इस वर्ग में दो प्रकार के मीमांसक आते हैं--कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद के अनुयायी और प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद के अनुयायी। कुमारिल भट्ट के मतानुसार प्रत्येक शब्द का एक संकेतित अर्थ होता है जिसे अभिधेयार्थ कहा जा सकता है और यह अभिधेयार्थ ही प्रस्तुत होता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि अभिहितान्वयवादी यह मानने हैं कि किसी पद अथवा वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द का दूसरे शब्दों के साथ क्या सम्बन्ध है—इस प्रश्न पर अभिधा मौन रहती है। इस अन्वयार्थ के लिए तात्पर्यवृत्ति का आश्रय लेना होता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य है—'लेखनी लाओ।' इस वाक्य में लेखनी शब्द से लेखनी के पदार्थ-रूप की प्रतीति होती है और लाओ से कर्मत्वरूप का उद्घाटन होता है। निस्सन्देह 'लाओ के कर्मत्वरूप की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से होती है। इसके विपरीत प्रभाकर के अनुसार शब्द का शक्ति-ग्रहण समूचे पद अथवा वाक्य में निहित होता हैं। दूसरे शब्दों में, अभिधेयार्थ में ही अन्वयांश का समावेश रहता है और इस कारण तात्पर्यवृत्ति जैसी एक नई वृत्ति की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। नैय्यायिकों और मीमांसकों के अनुसार व्यंग्यार्थ का बोध भी अभिधा से ही होता है। अभिधा की सर्वोच्चता स्थापित करते हुए इस वर्ग के काव्यशास्त्री कहते हैं कि "जिस प्रकार धनुर्धर के द्वारा छोड़ा हुआ वाण शरीर का वेध भी कर देता है, घाव भी कर देता है और प्राण भी ले लेता है, वाण ये सब कार्य एक ही व्यापार से किया करना है। उसी प्रकार शब्द भी एक ही व्यापार (अभिधा) से ही अर्थों को प्रकट कर देता है।" नव्यनैय्यायिकों के अनुसार अन्वयार्थ की प्रतीति संसर्ग मर्यादा से होती है अतः इस वर्ग के काव्यशास्त्रियों के अनुसार व्यंजना शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। अभिधा का व्यापार ही इतना व्यापक है कि उसमें व्यंजना का गतार्थ हो जाता हैं।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि मीमांसकवर्ग जाति में ही शक्ति स्वीकार करते हैं अर्थात् लेखनी लाओ—इस वाक्य में लेखनी की समग्र जाति के लाने का भाव है जो कि असम्भव होता हैं। इस वाक्य के अनुसार तो एक ही लेखनी लायी जायेगी, अतः स्पष्ट है कि जाति से कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। व्यवहार में जाति के नाम पर व्यक्ति का आरोपण कर लिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि अभिधा शक्ति से व्यक्ति की भी प्रतीति नहीं होती और व्यक्ति की प्रतीति के लिए तात्पर्य शक्ति की सत्ता स्वीकार करनी होती है, ऐसी स्थिति में अभिधेयार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से नैय्यायिकों का तर्क भी खरा नहीं उतरता। उनके मतानुसार वाक्यार्थ की प्रतीति प्रकरण, अर्यादा आदि से अथवा आकांक्षा आदि से होती है किन्तु जब केवल अभिधा शब्द-शक्ति वाक्यार्थ की ही

प्रतीति कराने के लिए सक्षम नहीं होती, तब वाक्यार्थ के बाद निकलने वाले व्यंग्यार्थ का बोध भला किस प्रकार सम्भव हो सकता है।

अभिधा में ही व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव मानने वाले काव्यशास्त्रियों की महत्त्व-पूर्ण उक्तियाँ इस प्रकार हैं। विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार 'सो यमिषोरिव दीर्घतरो व्यापारः' अर्थात् प्रयुक्त शब्द उसी प्रकार सभी अर्थों का बोध कराता चलता है जिस प्रकार एक छोड़ा हुआ बाण शरीर को भी भेदता है, घाव भी करता है और मारता भी है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि अभिधा केवल संकेतित अर्थ का बोध कराती है अतः असंकेतित अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ में उसका प्रसार किस प्रकार हो सकता है। काव्यशास्त्रियों के दूसरे वर्ग के अनुसार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् जिसके लिए शब्द का प्रयोग किया गया है, वही शब्द का अर्थ होता है। यह कथन भी केवल अभिधा में विधेय का निर्देशन करता है, व्यंग्यार्थ का समावेश नहीं करता। इस सम्बन्ध में वाक्य रचना पर विचार किया जाना आवश्यक है। वाक्य का जो अंश ज्ञात होता है उसे उद्देश्य कहा जाता है और जो अश अज्ञात होता है उसे विधेय की कोटि में रखा जाता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य है—'नीली लेखनी लाओ'—इस वाक्य में तीन विधेय सम्भव हो सकते हैं—नीलापन, लेखनी और लाना। यदि यह वाक्य नितान्त नया है तो ये तीनों ही विधेय होंगे और यदि नीलापन ज्ञात है तो लेखनी और लाना तो विधेय होंगे और नीलापन उद्देश्य होगा। उसी प्रकार यदि केवल लेखनी ही ज्ञात है तो नीलापन और लाना विधेय होंगे और उद्देश्य लेखनी होगी। अतः स्पष्ट है कि इसका व्यंग्यार्थपरक लगना उयुयुक्त नहीं होगा। विद्वानों के एक अन्य वर्ग के अनुसार, "नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना कर ली जाती है।" दूसरे शब्दों में, इस मत के अनुसार यह मान लिया जाता है कि यदि शब्द से व्यंग्यार्थ का बोध हो जाता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि शब्द में व्यंग्यार्थ-बोधन की दक्षता विश्रमान है। वस्तुस्थिति यह है कि शब्द से अर्थ की उत्पत्ति नहीं होती, केवल उसका प्रकाशन होता है। शब्द से केवल अभिधेयार्थ की प्राप्ति होती है, व्यंग्यार्थ तो निकालना पड़ता है।

(ख) लक्षणा में व्यंजना का अन्तर्भाव—लक्षणा और व्यंजना में पर्याप्त साम्य है क्योंकि व्यंजना की भाँति ही लक्षणा में भी प्रकरण, वातावरण आदि की अपेक्षा रहती है और नाना अर्थों की प्रतीति होती है; व्यंजना की भाँति ही लक्षणा का मूलाधार भी अभिधा शब्द-शक्ति ही होती है। लक्षणा में भी मुख्यार्थ बाधक होता है और लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी व्यंग्यार्थ की भाँति ही शब्द और अर्थ दोनों से होती है। तथापि लक्षणा और व्यंजना दो पृथक् शब्द-शक्तियाँ हैं और आगे विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि तत्त्वतः दोनों ही पृथक् शब्द-शक्तियाँ हैं। लक्षणा में व्यंजना के अन्त-र्भाव की तीन सम्भावनाएँ हो सकती हैं—(1) दोनों मे अभेद की स्थिति है, (2) लक्षणा व्यंजना शब्द-शक्ति का ही लक्षण है, (3) लक्षणा सत्तामात्र से ही व्यंजना का उपलक्षण होती है। पहली सम्भावना तो इस आधार पर निर्मूल सिद्ध होती है कि

दोनों ही शब्द-शक्तियों के स्थान और नियम आदि पृथक्-पृथक् हैं। जहाँ तक लक्षणा के व्यंजना के एक लक्षण होने का प्रश्न है, यह स्मरणीय है कि लक्षणा की एक अनिवार्य शर्त यह है कि उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति अथवा असंभाव्यता का दोष नहीं होना चाहिए। जब हम यह कहते हैं कि लक्षणा व्यंजना का लक्षण होती है तो हमारा आशय यह होता है कि व्यंजना में लक्षणा अनिवार्यतः होनी चाहिए। तथापि निरूढ़ा लक्षणा में केवल लक्षणा ही होती है, व्यंजना नहीं होती और इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में केवल व्यंजना होती है, लक्षणा होती ही नहीं। अतः इन दोनों स्थितियों में क्रमशः अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष हो जायेंगे। इस प्रकार लक्षणा को व्यंजना के लक्षण के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरी सम्भावना यह रह जाती है कि लक्षणा को व्यंजना का उपलक्षण मान लिया जाये। उपलक्षण कहने का आशय यही होता है कि समूह में से किसी एक के निर्देश से पूरे समूह का अर्थ प्रकट हो। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि पूरी कक्षा को पाठ पढ़ाने के लिए बुलाया जाता है और उस कक्षा में मोहन भी है, तो यह कहने के स्थान पर कि 'पूरी कक्षा को बुलाया जाये' कभी-कभी यही कह दिया जाता है 'मोहन को बुलाया जाए।' इस प्रकार लक्षणा को एक उपलक्षण-रूप में स्वीकार किया जा सकता है किन्तु फिर भी मोहन और कक्षा की दो पृथक् सत्ताएँ स्वतःसिद्ध हैं अतः यह सम्भावना भी निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

(ग) **तात्पर्यवृत्ति**—धनंजय आदि काव्यशास्त्रियों ने व्यंग्यार्थ के बोध के लिए तात्पर्यवृत्ति की कल्पना की है और उनके मतानुसार तात्पर्यवृत्ति में ही व्यंजना का अन्तर्भाव हो जाता है। अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए धनंजय आदि कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति कोई भी वाक्य किसी अर्थ विशेष की प्रतीति के लिए कहता अथवा बोलता है और उसका एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि उसके उस वाक्य से वांछित अर्थ का बोध हो सके। इस प्रकार वाक्यार्थ की पूर्ति तभी हो सकती है जबकि उससे वांछित अभिप्राय स्पष्ट हो सके। इन काव्यशास्त्रियों के अनुसार जिसे हम व्यंग्यार्थ कहते हैं, वह तो वस्तुतः वाक्य में दिया हुआ तात्पर्य होता है जो कि मूलतः वक्ता का होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई पढ़ाई का चोर विद्यार्थी कहता है कि 'घण्टी बज गयी' तो उसका तात्पर्य यही है कि पढ़ाई से मुक्ति मिल गयी, छुट्टी हो गयी। यही तात्पर्य इस वाक्य का व्यंग्यार्थ कहा जा सकता है। इसी आधार पर इन काव्यशास्त्रियों के मतानुसार व्यंग्यार्थ नाम का कोई अर्थ नहीं होता, वह तो केवल तात्पर्यवृत्ति होती है जिससे वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्दों, वाक्यों से नहीं, कायिक चेष्टाओं आदि से भी हो सकती है। दूसरी बात यह भी है कि धनंजय आदि द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवृत्ति और व्यंजना शब्द-शक्ति में केवल नाम का ही भेद है, तत्त्वतः दोनों एक ही बात हैं।

(घ) **अलंकारों में व्यंजना का अन्तर्भाव**—अनेक काव्यशास्त्रियों ने अलंकारों

को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करके अलंकारों में हो समूची व्यंजना शब्द-शक्ति के अन्तर्भाव की बात आग्रहपूर्वक कही है। इन काव्यशास्त्रियों में भामह, दण्डी आदि अलंकारवादियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन काव्यशास्त्रियों के मतानुसार काव्य का समस्त सौन्दर्य अलंकारों में ही छिपी होती है और व्यंजना शब्द-शक्ति का अन्तर्भाव इन्हीं अलंकारों में हो जाता है। अलंकारवादियों के इस सिद्धान्त के विरोध में ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंजना शब्द-शक्ति की पृथक् सत्ता स्थापित करते हुए यह सिद्ध किया है कि अलंकारों में व्यंजना का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन के अनुसार ध्वनि और अलंकार में बहुत अन्तर होता है। अलंकार का मूलाधार शब्दार्थ है तो ध्वनि का आधार व्यंग्य-व्यजक भाव होता है। अन्यथा भी विभिन्न प्रकार के आभूषण आत्मा की ही शोभा बढ़ाते हैं, निष्प्राण शरीर पर अलंकार भी श्रीहीन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, आभूषण अथवा अलंकार आत्मा के उपस्कारक हो सकते हैं, स्वयं आत्मा का स्थान नहीं ले सकते। काव्य की आत्मा व्यंजना और रसनिष्पत्ति होती है, अलंकार नहीं होते। निस्सन्देह अलंकारों में व्यंग्यार्थ छिपा रहता है और इस प्रकार सभी अलंकारों में व्यंजना शक्ति की स्थिति स्वीकार की जा सकती है किन्तु अलंकारों को ही व्यंजना नहीं कहा जा सकता। एक विद्वान् आलोचक के मतानुसार, "रूपक इत्यादि में उपमा व्यंग्य होती है। रसवदादि में रस व्यंग्य होता है और पर्यायोक्ति इत्यादि में वस्तु व्यंग्य होती है। किन्तु इस सबका आधार व्यंजना है। आधार का अन्तर्भाव कभी मुख्य वस्तु में नहीं होता।"

(ङ) अनुमानवाद—महिमभट्ट के अनुसार—

'अनुमाने अन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्यमहिमा परां वाचम्॥'

अर्थात् व्यंजना का समूचा व्यापार (ध्वनि) का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ का सृजन किया गया है। उनके मतानुसार व्यंग्यार्थ का मूलाधार मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ ही होता है और यदि ऐसा न हो तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध हो सकता है। अनुमानवाद के दो मुख्य तत्त्व हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्ति का आशय हेतु और साध्य के नित्य साहचर्य से होता है जैसे कि जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि है। इस वाक्य से धुआँ तो हेतु है और अग्नि साध्य है और इन दोनों के नित्य साहचर्य को व्याप्ति कहा जाता है। पक्ष धर्म में हेतु और साध्य का नित्य साहचर्य न होकर संदिग्धता का भाव होता हैं जैसे कि 'वह पर्वत अग्निमय है।' इस वाक्य में 'पर्वत' शब्द पक्षधर्म है। अनुमान की प्रक्रिया के पाँच मुख्य पक्ष होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। अनुमानवाद के प्रसंग में व्यंजनावादियों का एक उदाहरण-वाक्य उल्लेख्य है—'कुलटा नारी गोदावरी के तीर पर आए धार्मिक व्यक्ति को कहती है कि "अब इस कुंज में निर्भय होकर घूमा करो क्योंकि यहाँ के वासी सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है जिससे तुम डरा करते थे।" इस वाक्य के वाच्यार्थ से तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह कुलटा

नारी धार्मिक व्यक्ति को कुंज में भ्रमण करने का निमन्त्रण दे रही है किन्तु व्यंग्यार्थ-रूप में यह एक निषेध-वाक्य होगा। महिमभट्ट के मतानुसार यह निषेध-वाक्य भी अनुमानगम्य है व्यंजनागम्य नहीं। महिमभट्ट के अनुसार, इस वाक्य का अर्थ होगा कि "यहाँ शेर का वास है अतः यहाँ मत घूमो।" और यह अर्थ अनुमान पर ही आधृत है। इसी प्रकार महिमभट्ट रसादि को भी अनुमानगम्य स्वीकार करते हैं। इस धारणा के विरोध में ध्वनिवादियों का कहना है कि—यह निषेधार्थ अनुमान पर आधृत नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान प्रत्येक स्थिति में निश्चित ही होता है जबकि व्यंग्यार्थ में पक्षान्तर बना ही रहता है। उपर्युक्त उदाहरण में हेतु नहीं हेत्वाभास है क्योंकि यह कोई अकाट्य नियम नहीं है कि भीरु का भ्रमण भय के कारणों के अभाव में ही होगा। गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य मानने वाला अथवा परम अनुरागी प्रेमी अपनी प्रेयसी के मिलन के लिए भय के कारणों के रहते हुए भी अवश्य जाता है। स्पष्टतः यहाँ हेतु अनिश्चित है, शेर का होना एक हेतु होते हुए भी स्वयंसिद्ध हेतु नहीं है। इस प्रकार व्यंजनावादियों ने अनुमानवाद को निर्मूल सिद्ध करके व्यंजना शक्ति की सफल स्थापना की है।

15
काव्य-रूप

वाणी के लिखित रूप वाङ्मय शब्द का प्रयोग किया जाता है और हिन्दी का 'साहित्य' शब्द आधुनिक अर्थों में वाङ्मय का पर्यायवाची शब्द माना जाने लगा है। अतः वाङ्मय एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा रूप में प्रयुक्त होने लगा। वाङ्मय के अन्तर्गत दो मुख्य भेद किये गये--ज्ञान का साहित्य और शक्ति का साहित्य। ज्ञान के साहित्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के विज्ञान, शास्त्र आदि परिगणित किये जाते हैं जैसे कि भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि। स्पष्टतः इस प्रकार के साहित्य का सम्बन्ध विशुद्ध रूप से बौद्धिक ज्ञान के साथ होता है और मानवीय भावों को उसमें कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। इसके विपरीत शक्ति का साहित्य मनुष्य के भावों का साहित्य होता है, उसके अन्तर्मन की उपलब्धियों का लेखा-जोखा होता है। कतिपय विद्वानों ने भावों के इस साहित्य को शक्ति साहित्य भी कहा है क्योंकि "इसमें भावानुभूतियों को आन्दोलित करने की ऐसी शक्ति निहित रहती है जो हमारी प्रवृत्तियों का अपेक्षाकृत अधिक शक्ति से प्रभावित करती है। इसमें हृदय-पक्ष प्रधान रहता है। यह बात नहीं कि इस भावप्रधान साहित्य से ज्ञान-वृद्धि होती ही न हो या इसमें बुद्धितत्त्व का सर्वथा अभाव हो, अपितु प्रधानता भावानुभूति की ही होती है और विचार और ज्ञान की बातें भी अनुभूति (भावानुभूति) का रूप धारण करके प्रकट होती हैं, इसी से इसे भावप्रधान साहित्य कहा गया है।" प्रस्तुत संदर्भ में साहित्य का आशय इसी भावप्रधान साहित्य से हैं।

इस भावप्रधान साहित्य के पुनः दो भेद किये गये हैं—एक तो सर्जनात्मक साहित्य और दूसरा आलोचनात्मक साहित्य। सर्जनात्मक साहित्य के अन्तर्गत काव्य, नाटक, कहानी आदि साहित्यिक विधाएँ आती हैं और आलोचनात्मक साहित्य में लक्षण ग्रन्थ अथवा विभिन्न साहित्य कृतियों के गुण-दोष-विवेचन सम्बन्धी आलोचनात्मक ग्रन्थ आते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से साहित्य के गुण-दोष-विवेचन सम्बन्धी कृतियों को साहित्यालोचन की श्रेणी में रखा जा सकता है। गोचरता के आधार पर प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने साहित्य अथवा काव्य को दो स्थूल श्रेणियों में

विभाजित किया है—श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत केवल वही काव्य रूप आते हैं जो पाठ्य होते हैं और दृश्य काव्य में ऐसे नाटक आदि आते हैं जो अभिनेय होते हैं। श्रव्य अथवा पाठ्य काव्य के गद्य-पद्य प्रयोग के आधार पर पुनः तीन भेद किये गये हैं—गद्य, पद्य तथा चम्पू (मिश्र)। अभिनेय अथवा दृश्य काव्य के कई भेद किये जाते हैं—यथा नाटक, एकांकी, रूपक, सिने-चित्र, रेडियो नाटक, झलकी आदि। गद्य-साहित्य में ऐसा सभी भावप्रधान साहित्य आ जाता है जिसकी रचना गद्य में की गयी हो। इस प्रकार की साहित्यिक विधाओं में नाटक, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, जीवनी, संस्मरण, रिपोर्ताज, पत्र-पत्रिकाएँ आदि आती हैं। जहाँ तक पद्य-साहित्य का सम्बन्ध है, प्रबन्धकर्त्ता के आधार पर उसके दो मुख्य भेद किये जाते हैं—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य के पुनः तीन उपभेद किये जाते हैं—महाकाव्य, खण्ड काव्य और एकार्थ काव्य। इसी प्रकार मुक्तक काव्य के भी तीन भेद किये गये हैं—गीत, छंद और गीति। यह तो काव्य-रूपों का सामान्य विवेचन हुआ। कई अन्य दृष्टियों से भी काव्य-रूपों के कई विभाजन आधुनिक युग में प्रचलित हो गये हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। कई विद्वानों ने जीवन-दृष्टि के आधार पर भी काव्य-रूपों के भेद किये हैं। जीवन-दृष्टि से आशय इस बात से है कि जीवन के प्रति लेखक की सामान्य दृष्टि कैसी रही है अर्थात् वह यथार्थवादी रहा है अथवा आदर्शवादी और इसी आधार पर साहित्य के दो भेद किये गये हैं—यथार्थवादी साहित्य और आदर्शवादी साहित्य। इसी प्रकार मनःप्रवृत्ति के आधार पर साहित्य के दो स्थूल भेद किये गये हैं—विषयीगत और विषयगत। कई विद्वानों ने व्यंग्यार्थ के आधार पर भी काव्य का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है और इस आधार पर तीन प्रकार के काव्य बताये हैं—ध्वनि-काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य और चित्र-काव्य। इन्हीं तीन भेदों को क्रमशः उत्तम मध्यम और अधम काव्य भी कहते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-रूपों के इस वर्गीकरण की एक सुदीर्घ परम्परा रही है और उपर्युक्त काव्य-रूप वस्तुतः उसी सुदीर्घ परम्परा की चरम परिणति कहे जा सकते हैं। काव्य-रूपों का विवेचन करने से पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र की इस परम्परा का संक्षिप्त परिचय दिया जाना आवश्यक है। काव्य के वर्गीकरण अथवा भेद-निरूपण की दिशा में सबसे पहले भामह ने विचार किया है और उन्होंने माध्यम, भाषा, विषय और स्वरूप इन चार दृष्टियों से काव्य-रूपों का निर्णय किया है। माध्यम का आशय पद्य अथवा गद्य प्रयोग से है और इस दृष्टि से दो प्रकार के काव्य बताये गये हैं—पद्य प्रधान काव्य और गद्य प्रधान काव्य। भाषा की दृष्टि से भामह ने तीन प्रकार के काव्यों का वर्णन किया है—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी भामह ने चार प्रकार के काव्य-रूपों का वर्णन किया है—ख्यात वृत्त, कल्पित वस्तु, कलाश्रित और शास्त्राश्रित। स्वरूप की दृष्टि से भामह ने पाँच प्रकार के काव्य-रूपों का उल्लेख किया है यथा—सर्गबद्ध अथवा महाकाव्य,

अभिनेय अथवा नाट्य काव्य, आख्यायिका, कथा और मुक्तक काव्य। भामह के पश्चात् दण्डी ने भी इस दिशा में मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है और उन्होंने काव्य-रूप-वर्गीकरण के लिए केवल दो ही आधार रखे· स्वरूप और भाषा। स्वरूप की दृष्टि से दण्डी ने तीन प्रकार के काव्य-रूपों का वर्णन किया है—पद्य, गद्य और मिश्र अथवा चम्पू। दण्डी के मतानुसार पद्य और गद्य अपने आप में एक स्वतन्त्र काव्य-रूप होते हैं, उनका नामकरण किसी भी ढंग से किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, पद्य काव्य सर्गबद्ध काव्य होता है और इसी प्रकार गद्य-काव्य एक ही प्रकार का होता है, भले ही उसे कथा, निबन्ध, उपन्यास आदि के भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया जाये। मिश्र काव्य के अन्तर्गत नाटक आदि आते हैं। वस्तुतः दण्डी के काव्य-रूप-विवेचन का यह आधार उनकी संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति का परिचायक है। भाषा की दृष्टि से दण्डी ने चार प्रकार के काव्य-रूपों का वर्णन किया है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र।

दण्डी के पश्चात् वामन ने काव्य-वर्गीकरण का आधार माध्यम को मान्यता दी और इस दृष्टि से दो प्रकार के काव्य-रूपों का वर्णन किया – गद्य और पद्य। वामन के मतानुसार पद्य की एक अन्यतम विशेषता उसकी संगीतमयता होती है। गद्य की रचना अपेक्षतया अधिक दुष्कर होती है। दो शब्दों में, कहा जा सकता है कि "पद्य में कवि अल्प प्रयास से ही सफलता प्राप्त कर सकता है किन्तु गद्य में उसे अधिक साधना की अपेक्षा होती है।" वामन ने गद्य काव्य के तीन उपभेद और किये हैं—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिका। वृत्तगन्धि यद्यपि गद्य ही होता है, किन्तु उसमें पद्यात्मकता भासित होती है। चूर्ण काव्य की भाषा में दीर्घ समासों का प्रयोग नहीं किया जाता और ललित पदावली की प्रमुखता रहती है। जिस गद्यात्मक रचना में दीर्घसमासयुक्त शब्दों की बहुलता होती है और उद्धत पदावली का प्रयोग किया जाता है उसे उत्कलिका कहते हैं। वामन ने विषय की दृष्टि से भी गद्य और पद्य काव्य के दो-दो उपभेद और किये हैं—अनिबद्ध और निबद्ध। अनिबद्ध पद्य का आशय मुक्तक काव्य से होता है और निबद्ध पद्य का अर्थ प्रबन्ध काव्य से होता है। दोनों प्रकार के काव्य अपने-अपने क्षेत्र में अपनी विशिष्ट महत्ता के धनी होते हैं।

वामन के पश्चात् रुद्रट ने भी काव्य-रूपों का निर्धारण किया है। सर्वप्रथम उन्होंने सामान्य काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध काव्य के भेदों का वर्णन किया है। रुद्रट के मतानुसार प्रबन्ध काव्य, काव्यकथा की दृष्टि से दो प्रकार का होता है—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य। उत्पाद्य काव्य का नायक, कथावस्तु आदि कवि की अपनी कल्पना होती है। जबकि अनुत्पाद्य काव्य की कथावस्तु, नायक घटनाक्रम आदि इतिहास-प्रसिद्ध होती है और ऐसे काव्य में कवि की कल्पना के अधिक चमत्कार के लिए अवकाश नहीं होता। रुद्रट ने आकार की दृष्टि से भी काव्य के दो भेद किये हैं—लघुकाव्य और महाकाव्य। इस प्रकार रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत 12 उपभेदों का वर्णन किया है। ध्वन्यालोककार ने विषय-औचित्य के आधार पर काव्य-रूप-निर्णय प्रस्तुत

किया है तथापि आनन्दवर्द्धन ने काव्य-रूपों का निर्धारण केवल प्रासंगिक रूप से ही किया है, अतः उनका काव्य-रूप-निर्णय बहुत महत्त्वपूर्ण और मौलिक नहीं बन पड़ा है।

आचार्य विश्वनाथ ने गोचरता के आधार पर काव्य के दो मुख्य भेद किये हैं—दृश्य और श्रव्य। विश्वनाथ ने दृश्य काव्य के अन्तर्गत दस प्रकार के रूपकों और अठारह प्रकार के उपरूपकों का वर्णन किया है। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत दो उपभेद और किये गये हैं—पद्य और गद्य। पद्य काव्य के पुनः दो भेद किये गये हैं—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद किये गये हैं—महाकाव्य और खण्ड काव्य। गद्य काव्य के अन्तर्गत चार प्रकार के गद्य काव्य का वर्णन किया गया है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिका प्राय और चूर्णक। गद्य काव्य के ही दो भेद और किये गये हैं—कथा और आख्यायिका। गद्य-पद्य मिश्रित काव्य के दो भेद किये गये हैं—चम्पू और विरुद। विश्वनाथ ने करम्भक काव्य का भी उल्लेख किया है जिसकी रचना अनेक भाषाओं से की जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मुख्यतः छः प्रकार के काव्य-रूप उभरते हैं—दृश्य काव्य, महाकाव्य, अन्य प्रबन्ध काव्य, मुक्तक काव्य, गद्य काव्य और चम्पू काव्य। इन काव्य-रूपों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) **दृश्य काव्य**—दृश्य काव्य ऐसे काव्य को कहते हैं जिसका आनन्द 'दृष्टि से' लिया जाता है। कदाचित् इसी कारण इसे रूपक का भी नाम दिया जाता है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से दस प्रकार के रूपक और अठारह प्रकार के उपरूपक होते हैं। दस प्रकार के रूपक इस प्रकार हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। रूपकों के इन दस प्रकारों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—(1) **नाटक**—ऐसे रूपक को कहते हैं जिसका कथानक सुप्रसिद्ध हो और जिसमें पाँचों नाट्य-सन्धियों का निर्वाह हुआ हो। इसका नायक धीरोदात्त तथा दिव्यादिव्य गुणों का धनी होना चाहिए। सर्गों की संख्या पाँच से दस तक होनी चाहिए। विवाह, मृत्यु, स्नान, सुरत, शयन, उबटन आदि दृश्यों का प्रदर्शन वर्जित माना गया है। शृंगार, वीर तथा शान्त रसों में से कोई एक रस अंगी रस के रूप में तथा अन्य रस इस प्रधान रस के उपकारक रूप में होने चाहिए। (2) **प्रकरण**—इस प्रकार के रूपक की कथावस्तु कवि की अपनी कल्पना की परिचायक होती है और इसका नायक ब्राह्मण, अमात्य अथवा वणिक में से कोई भी हो सकता है। इसका अंगी रस शृंगार होता है और नायिका कुलवती नारी अथवा वेश्या में से कोई भी हो सकती है। (3) **भाण**—भाण में एक अंक और एक ही पात्र होता है और वह पात्र पण्डित, धूर्त अथवा निपुण व्यक्ति में से कोई भी हो सकता है। भाण में मुख और निर्वहण नामक दो ही सन्धियाँ होती हैं। इसका नायक स्वयं अपने पराक्रम का वर्णन करता है। (4) **व्यायोग**—व्यायोग की कथावस्तु सुप्रसिद्ध होती है किन्तु इसके पात्रों में से नारी पात्रों की संख्या अपेक्ष-

तया अधिक होती है। व्यायोग केवल एक ही अंक में समाप्य होता है और इसमें श्रृंगार, हास्य और शान्त रस के अतिरिक्त कोई अन्य रह अंग रस के रूप में प्रतिष्ठित होता है। (5) **समवकार**—समवकार की कथावस्तु देवासुर की सुप्रसिद्ध कथावस्तु होती है। इसमें तीन अंक होते हैं और विमर्श सन्धि वर्जित होती है। पहले अंक में ही दो सन्धियाँ होती हैं। (6) **डिम**—डिम चार अंकों में समाप्य होता है और इसकी कथावस्तु माया इन्द्रजाल से युक्त होती है। इस प्रकार के रूपक में श्रृंगार, हास्य और शान्त रस से भिन्न अन्य रसों की स्थिति होती है। इसके पात्रों में भूत-प्रेतादि भी हो सकते हैं। (7) **ईहामृग**—यह रूपक चार अंकों में समाप्य होता है और इसमें तीन ही नाट्य सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख और निर्वहण। ईहामृग की कथावस्तु प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध मिश्रित होती है और इसमें प्रायः किसी दिव्य नारी पात्र का अपहरण दर्शाया जाता है। (8) **अंक**—इस रूपक का अंगी रस करुण होता है और इसका नायक सामान्य व्यक्ति होता है। युद्ध तथा निर्वेदयुक्त वचनों की प्रमुखता होती है। (9, **वीथी**—इस रूपक में केवल एक ही अंक होता है और प्रायः श्रृंगार रस की बहुलता होती है। वीथी में मुख और निर्वहण—दो सन्धियाँ होती हैं और आकाश-भाषित का बहुधा प्रयोग किया जाता है। (10) **प्रहसन**—प्रहसन का अंगी रस हास्य होता है। इसमें भाण-रूपक की भाँति ही नाट्य-सन्धियों की योजना रहती है।

इन दस रूपकों के अतिरिक्त 18 उपरूपकों का भी वर्णन किया गया है। इनमें से 9 उपरूपक तो बहुत कुछ एकांकी के ही रूप कहला सकते हैं। इस प्रकार 18 उपरूपकों में से 9 उपरूपक तो एकांकी के ही नौ प्रकार होते हैं - यथा गोष्ठी, नाट्यरासक उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, श्रीगदित, विलासिका हल्लीस, भाणिका और रासक। प्रस्थान नामक उपरूपक में दो अंक होते हैं। छः उपरूपकों में चार अंक होते हैं यथा—नाटिका, सट्टक, संलापक, शिल्पक, दुर्मल्लिका और प्रकरणिका। त्रोटक में 7, 8 अथवा 9 अंक तक होते हैं।

(ख) **महाकाव्य**—भारतीय काव्यशास्त्रियों में सर्वप्रथम भामह ने महाकाव्य की विशेषताओं का वर्णन किया है। भामह ने महाकाव्य की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा है, "वह (महाकाव्य) लम्बे कथानक वाला, महान् चरित्रों पर आश्रित, नाटकीय पंच सन्धियों से युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैली में लिखित तथा जीवन के विविध रूपों और कार्यों का वर्णन करने वाला सर्गबद्ध सुखान्त काव्य ही महाकाव्य होता है।" भामह के पश्चात् दण्डी ने महाकाव्य का विवेचन किया और उनके विवेचना की विशेषता यह है कि उन्होंने महाकाव्य के स्थूल एवं बाह्य लक्षणों पर अधिक बल दिया। दण्डी के अनुसार महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण अथवा आशीर्वादात्मक पद से होना चाहिए और उसका कथानक इतिहासप्रसिद्ध अथवा कवि कल्पित हो सकता है। महाकाव्य का नायक चतुर और उदात्त होना चाहिए और महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति होना चाहिए। दण्डी के अनुसार

महाकाव्य अलंकारयुक्त आकार में बड़ा, सर्गबद्ध और पंचसन्धियों से युक्त होता चाहिए। साथ ही, महाकाव्य में भावों और रस का भी आद्योपान्त उत्कर्ष दर्शाया जाना चाहिए। दण्डी के अनुसार महाकाव्य में कतिपय प्रसंगों का वर्णनों अवश्य होना चाहिए जैसे कि सूर्योदय, उद्यान, पर्वत, ऋतु, युद्ध, विवाह, विप्रलम्भ, रसोत्सव, मधुपान, जलक्रीड़ा, चन्द्रमा, मंच, दूत, अभियान आदि। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि दण्डी ने महाकाव्य की इतनी सारी विशेषताओं का वर्णन करने के उपरान्त यह भी कह दिया है कि यदि किसी महाकाव्य में उक्त विशेषताओं में से दो एक विशेषताओं का अभाव है तो इससे उसके महाकाव्य में कोई अन्तर नहीं आता। महाकाव्यत्व परखने की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कसौटी यह है कि उसमें जिन विशेषताओं का निर्वाह हुआ है, वे काव्यरसज्ञों को आनन्दलाभ पहुँचाने में सक्षम हों। दण्डी की परिभाषा परवर्ती काव्यशास्त्रियों में बहुत मान्य सिद्ध हुई है और आचार्य विश्वनाथ तथा हेमचन्द्र आदि ने तो दण्डी द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य की परिभाषा को ही किंचित विस्तार दे दिया है और कतिपय नयी विशेषताएँ जोड़कर महाकाव्य की नयी परिभाषाएँ प्रस्तुत कर दीं। विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य की परिभाषाओं का समाहार करके अपनी ओर से नयी परिभाषा प्रस्तुत की। विश्वनाथ ने भी महाकाव्य के बाह्य तत्त्वों पर अधिक बल दिया। उनकी मौलिकता केवल यही थी कि उन्होंने महाकाव्य के नायक में लिए कुलीन क्षत्रिय अथवा देवता होना आवश्यक बताया और साथ ही महाकाव्य के सर्गों की न्यूनतम संख्या आदि निर्धारित कर दी। सर्गों की संख्या आठ से अधिक भी हो सकती थी। विश्वनाथ के पश्चात् रुद्रट ने महाकाव्य की विशेषताओं का वर्णन करते हुए अपनी मौलिकता का भरा-पूरा परिचय दिया। रुद्रट ने पद्यबद्ध कथा के दो प्रकार के भेद किये—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य तथा महद् काव्य और लघु काव्य। रुद्रट के अनुसार महत्प्रबन्ध ही महाकाव्य की श्रेणी में आ सकता है और उसका कथानक उत्पाद्य अथवा अनुत्पाद्य किसी भी प्रकार का हो सकता है। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य में अवान्तर कथाओं की सफल योजना होनी चाहिए और जीवन के विविध रूप-रंगों का सफल चित्रण होना चाहिए। महाकाव्य का नायक-द्विज-कुलोत्पन्न, महान् पराक्रमी, सर्वगुणसम्पन्न, नीतिकुशल राजा होना चाहिए और अन्त में उसी की विजय चित्रित की जानी चाहिए। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य में प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन किया जाता है। उत्पाद्य महाकाव्य की कथावस्तु पूर्णतः कवि की अपनी कल्पना-शक्ति की परिचायक होती है। उत्पाद्य महाकाव्य के आरम्भ में "श्रेष्ठ नगरी वर्णन, नायक का वंश वर्णन, सर्वगुणसम्पन्न रक्तप्रकृति नायक वर्णन, शरद इत्यादि किसी काल की उपस्थिति, कुलीन, दानी इत्यादि शत्रुओं में से किसी एक के उत्कर्ष का वर्णन, दूत इत्यादि से उसकी चेष्टा का श्रवण, मन्त्रणा दूत-प्रेषण, युद्ध के लिए प्रस्थान, मार्ग में नागरिकों का क्षोभ, जनपद, पर्वत, नदी इत्यादि का वर्णन, स्कन्धावार में निवेश, क्रीड़ा, सूर्यास्त, संध्या,

समाज-गोष्ठी, पानसुख, श्रृंगार इत्यादि का वर्णन, फिर शत्रु पक्ष की तैयारी, व्यूह-रचनापूर्वक युद्ध और कठिनाई के साथ नायक पक्ष की विजय प्राप्ति—यही कथानक का क्रम होना चाहिए।" इसके अतिरिक्त रुद्रट ने सर्गबद्धता के प्रति आग्रह व्यक्त करते हुए भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित पाँचों नाट्य-सन्धियों के सफल निर्वहण की बात भी कही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य की निम्न विशेषताएँ निर्धारित की जा सकती हैं—

(अ) प्रबन्ध-विधान—प्रबन्ध-विधान का आशय महाकाव्य के बाह्य स्वरूप से होता है। महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण, नमस्कारात्मक अथवा आशीर्वादात्मक वन्दना से होना चाहिए। किसी देवी-देवता की स्तुति अथवा मंगल कामना के रूप में भी महाकाव्य का आरम्भ हो सकता है। महाकाव्य की दूसरी प्रबन्धगत विशेषता यह है कि वह सर्गों में बँधा होना चाहिए और सर्गों की संख्या कम से कम आठ होनी चाहिए। यथासम्भव एक सर्ग में एक ही प्रकार के छंद का प्रयोग होना चाहिए, तथापि सर्गान्त में दूसरे छंद का प्रयोग किया जा सकता है। सर्गों का आकार यथा-सम्भव सन्तुलित होना चाहिए और प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग के कथाक्रम का संकेत होना चाहिए ताकि कथावस्तु के क्रम का निर्वहण हो सके। महाकाव्य का नामकरण नायक, कथावस्तु अथवा किसी अन्य नाम पर किया जा सकता है किन्तु सर्गों का नामकरण उनमें निबद्ध कथाक्रम के आधार पर होना चाहिए। महाकाव्य की कथावस्तु में सभी नाट्य-सन्धियों का निर्वाह होना चाहिए।

(ब) नायक—महाकाव्य का नायक देवता अथवा उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय तथा धीरोदात्त गुणों से युक्त होना चाहिए।

(स) रस—महाकाव्य में श्रृंगार, वीर तथा शान्त—इन तीन रसों में से कोई एक अंगी रस में तथा अन्य रस अंगी रस के उपकारक रसों के रूप में होने चाहिए। महाकाव्य की सफलता इसी बात में निहित है कि अंगी रस चरमोत्कर्ष स्थिति को प्राप्त हो और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्य अंगभूत रसों की अपेक्षा तो रहती ही है।

(द) कथावस्तु—महाकाव्य की कथावस्तु इतिहासप्रसिद्ध अथवा कवि-कल्पित—किसी भी प्रकार की हो सकती है। कथावस्तु का आधार निस्सन्देह इतना विराट् होना चाहिए कि उसमें जीवन अपनी समग्रता के साथ सिमट सके। जीवन का सांगोपांग वर्णन ही महाकाव्य की सफलता की एकमात्र कसौटी है। इस प्रकार महाकाव्य अपने पूरे युग-जीवन का सफलता प्रतिनिधित्व करता है, जीवन के सभी सम्भव रूप-रंग उसमें सहज ही समा जाते हैं।

महाकाव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र की भाँति ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी पर्याप्त विवेचन किया गया है और इस दृष्टि से अरस्तू पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय जगत् के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। अरस्तू के समय यूनान में मुख्यतः

तीन प्रकार के काव्य प्रचलित थे—महाकाव्य, गीतिकाव्य और दुःखान्त नाट्य काव्य। अरस्तू ने काव्य के इन तीनों रूपों पर विस्तार से विचार किया है। महाकाव्य की परिभाषा देते हुए अरस्तू कहते हैं कि "महाकाव्य वह काव्य-रूप है जिससे कथात्मक अनुकरण होता है जो षटपदी छंद में लिखा जाता है, जिसका कथानक दुःखान्त नाटक के समान अन्वितियुक्त होता है और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटना का वर्णन करने वाला होता है और कथानक का आदि, मध्य और अन्तयुक्त जीवन का विकास दिखाया जाता है जिससे वह जीवित प्राणी की तरह पूर्ण इकाई प्रतीत होता है। महाकाव्य में समुचित आनन्द प्रदान करने की क्षमता होती है।" महाकाव्य की कथावस्तु विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक नहीं होती क्योंकि महाकाव्य का रचयिता इतिहासप्रसिद्ध कथा को भी ऐसी कुशलता के साथ प्रस्तुत करता है कि उसके भीतर सम्बन्धयुक्त अन्विति बनी रहती है, एक प्रकार का तारतम्य बना रहता है जबकि इतिहास में केवल घटनाओं का जमघट ही होता है। इस सम्बन्ध में अरस्तू यह मानते हैं कि जीवन के बहुविध पक्षों के उद्घाटन के लिए मुख्य कथा के साथ-साथ अवान्तर कथाओं की योजना भी की जा सकती है जिसके प्रत्यक्षतः दो लाभ होंगे—एक तो कुतूहल बना रहेगा, दूसरे अवान्तर कथाओं के माध्यम से जीवन का अधिकतम अंश चित्रित हो सकेगा। अरस्तु ने महाकाव्य की कथावस्तु के रूप-गठन पर विचार करने के साथ-साथ कल्पना और सम्भावनाओं आदि पर भी विस्तार से विचार किया है। उन्होंने महाकाव्य में अलौकिक घटनाओं तथा अतिप्राकृत कार्यों के समावेश की भी बात कही है। अरस्तू की इस मान्यता का आधार वस्तुतः प्रारम्भिक महाकाव्य रहे होंगे जिनमें रोमांसिक तत्त्व अनिवार्यतः निहित होते थे। रोमांसिक तत्त्वों की सृष्टि के लिए स्वभावतः कवि को अतिप्राकृत और अलौकिक घटनाओं की योजना करनी होती थी। यूरोप के मध्ययुगीन महाकाव्य प्रायः इसी श्रेणी के होते थे। तथापि पुनर्जागरण युग में वहाँ की परिस्थितियाँ बदल गयीं और फिर महाकाव्य का उदात्त काव्य रूप एक बार फिर प्रतिष्ठित हो गया। इस दृष्टि से दांते, स्पेन्सर, टैसो, मिल्टन आदि पाश्चात्य विद्वान् एवं लेखक का अभूतपूर्व योगदान रहा है। इसी समय रोमांसिक तत्त्वों से युक्त महाकाव्यों को महाकाव्य न मानने की प्रवृत्ति भी उभरने लगी थी और महाकाव्य को शास्त्रीय सिद्धान्तों की परिधि में बाँधने का निष्ठापूर्ण प्रयास किया जाने लगा था। इस सारी स्थिति का परिणाम यह हुआ कि 17 वीं, 18 वीं शताब्दी में महाकाव्य की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हो गयी और उसे रोमांसिक काव्य से भिन्न माना जाने लगा। इस प्रकार महाकाव्य को उसकी खोई हुई गरिमा पुनः प्राप्त हो गयी और उसमें उदात्तता, गम्भीरता अन्विति आदि के सिद्धान्तों के प्रति अत्यधिक आग्रह व्यक्त किया जाने लगा।

आधुनिक युग के पाश्चात्य विचारकों, लेखकों ने महाकाव्य को एक व्यापक आधार प्रदान किया। डब्ल्यू० पी० कर नामक पाश्चात्य विद्वान् के अनुसार महाकाव्य में जीवन के बहुविध रूपों का चित्रण होता है और उसके चरित्रों की योजना अपने आप में पूर्ण और स्पष्ट होती है। महाकाव्य के चरित्र अपनी पूरी समग्रता के

साथ जीते हैं अतः स्वभावतः उनके माध्यम से जीवन अपनी सम्पूर्णता के साथ सहज ही सिमट आता है। इस प्रकार कर के मत से महाकाव्य की सफलता इसी एक बात पर निर्भर करती है कि उसका कवि जीवन के विस्तृत चित्र को कितनी कुशलता के साथ सँजो पाया है। इस सम्बन्ध में एबर क्रोम्बी नामक एक अन्य पाश्चात्य आलोचक का विवेचन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। एबर क्रोम्बी के अनुसार केवल आकार में बृहत् होने से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन सकता। महाकाव्योचित शैली में लिखा गया काव्य ही महाकाव्य कहलाने का अधिकारी होता है। महाकाव्योचित शैली से उनका आशय ऐसी शैली से है जिसमें कवि की कल्पना, उसका जीवन-दर्शन उसकी विचारधारा तथा इन सभी की अभिव्यक्ति समाविष्ट होती है। क्रोम्बी के मतानुसार महाकाव्य की एक अन्य विशेषता एक महत् उद्देश्य की भी होती है और वही उद्देश्य उसकी गति को अनुप्राणित करता रहता है। सी० एम० बावरा नामक एक अन्य अंग्रेजी विद्वान् ने महाकाव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "महाकाव्य बृहदाकार कथात्मक काव्य-रूप है जिसमें महत्त्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रों के क्रियाशील और भयंकर कार्यों से भरे जीवन की कथा होती है। उसके पढ़ने में हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि घटनाएँ और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महत्ता, गौरव और उपलब्धियों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं।" इसके पश्चात् स्वच्छन्दवाद के आरम्भ के साथ ही वाल्टेयर ने महाकाव्य को अत्यन्त विस्तृत आधार प्रदान किया और उन्होंने महाकाव्य की एकमात्र कसौटी सहृदय समाज की मान्यता को माना। वाल्टेयर के अनुसार महाकाव्य की विशेषताओं को संकीर्ण शास्त्रीय मानदण्डों में नहीं बाँधा जा सकता। समाज की स्वीकृति ही किसी भी काव्य को महाकाव्य बना सकती है। मैकनील-डिक्सन ने भी महाकाव्य के स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। उनके मतानुसार यद्यपि महाकाव्य का एक सुनिश्चित स्वरूप होता है तथापि संकीर्ण शास्त्रीय मानदण्डों के बल पर किसी भी महाकाव्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार महाकाव्य की एक ऐसी सर्वमान्य परिभाषा सहज ही उभर आयी जिसमें सभी प्रकार के महाकाव्यों का मूल्यांकन सम्भव हो गया। यह परिभाषा पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय, विशेष रूप से आधुनिक साहित्यिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती थी और इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी व्यापकता, समाहार-क्षमता थी। इस सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार, "महाकाव्य वह छंदोबद्ध कथात्मक काव्य-रूप है, जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमें यथार्थ कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसा चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवन-वृत्त का पूर्ण या आंशिक रूप में वर्णन हो जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व कर

सके, जिसमें किसी महत्प्रेरणा से अनुप्राणित होकर किसी बहुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गम्भीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या घटनाओं का आशय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष या युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त हो कि युग-युगान्तर तक महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान कर सके।" इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के अनुसार महाकाव्य की आठ विशेषताएँ होती हैं—(1) महत् उद्देश्य, महत्प्रेरणा तथा महती काव्यप्रतिभा; (2) गुरुत्व, गम्भीरता, महत्ता; (3) महत् कार्य और युग जीवन का समग्र चित्रण; (4) सुसम्बद्ध जीवन कथानक; (5) महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्रों की योजना; (6) गरिमापूर्ण उदात्त शैली का प्रयोग; (7) तीव्र प्रतिभावान्वित और गम्भीर रस योजना तथा (8) अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों से महाकाव्य की विशेषताएँ उभर आती हैं और इन विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर महाकाव्य की निम्न विशेषताएँ निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती हैं। ये विशेषताएँ ऐसी हैं जो कि अधिकांश महाकाव्यों पर कम-अधिक मात्रा में खरी उतरती हैं—

(क) महाकाव्य में एक महत् उद्देश्य और महत्प्रेरणा का निर्वाह होना चाहिए।

(ख) महाकाव्य का नायक तथा अन्य पात्र महत्त्वपूर्ण होने चाहिए।

(ग) महाकाव्य का कथानक सुसम्बद्ध और जीवन्त होना चाहिए जिसमें युग-जीवन का सफल प्रतिनिधित्व हो सके।

(घ) महाकाव्य की शैली उदात्त और गरिमामयी होनी चाहिए।

(ङ) महाकाव्य में गम्भीर रस-व्यंजना और तीव्र प्रभावोत्पादकता होनी चाहिए।

(च) महाकाव्य की सम्पूर्ण योजना सशक्त और प्राणवान् होनी चाहिए।

(ग) अन्य प्रबन्ध काव्य—प्रबन्ध काव्य का ही एक अन्य रूप खण्ड काव्य होता है जिसमें जीवन के खण्ड चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। भामह और दण्डी आदि ने सर्गबद्ध काव्य का प्रयोग केवल महाकाव्यों के लिए ही किया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने महाकाव्य और खण्ड काव्य की पृथक् सत्ता स्वीकार ही नहीं की। सबसे पहले रुद्रट ने महत् और लघु—दो प्रकार के काव्यों का वर्णन किया है। रुद्रट के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य का स्वरूप निर्धारण करने के पश्चात् खण्ड काव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। विश्वनाथ के अनुसार, "भाषाविभाषा-नियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम्। एकार्थं प्रवणैः पद्यैः सन्धि-सामग्र्यवर्जितम्। खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च" अर्थात् किसी भाषा या उपभाषा में सर्गबद्ध एवं एक

कथा का निरूपक पद्य ग्रन्थ जिसमें सभी सन्धियाँ न हों, काव्य कहलाता है और काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य होता।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि खण्ड काव्य महाकाव्य की शैली पर ही लिखा गया अपेक्षतया लघु काव्य होता है। खण्ड काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने खण्ड काव्य की निम्न विशेषताएँ निर्धारित की हैं—

(क) खण्ड काव्य की रचना महाकाव्य की शैली के अनुरूप ही की जाती है।

(ख) खण्ड काव्य में पूर्ण जीवन न ग्रहण करके केवल खण्ड जीवन का ही चित्रण किया जाता है।

(ग) खण्ड काव्य में खण्ड जीवन का चित्रण भी इतनी कुशलता के साथ किया जाता है कि वह अपने आप में पूर्ण दिखायी देता है।

इन विशेषताओं के आधार पर सामान्यतः 8 या 8 से अधिक सर्गों वाले प्रबन्ध काव्यों को महाकाव्य और उससे कम सर्गों वाले प्रबन्ध काव्यों को खण्ड काव्य मान लिया जाता है। तथापि, जैसा कि पहले भी निवेदन किया जा चुका है कि ये सारी विशेषताएँ वैज्ञानिक सिद्धान्तों की तरह नहीं होतीं। महाकाव्य की कसौटी तो पीछे महाकाव्य सम्बन्धी विवेचन में स्पष्ट की जा चुकी है। जिन प्रबन्ध काव्यों में महाकाव्य सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषताओं का सफल निर्वाह नहीं होता, उन्हें काव्य-शास्त्रियों ने दो स्थूल वर्गों में विभाजित किया है—एकार्थ काव्य और खण्ड काव्य। एकार्थ काव्य ऐसे प्रबन्ध काव्यों को कहते हैं जिसमें किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण तो होता है किन्तु युगजीवन का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता और साथ ही महाकाव्य की विशेषताओं का भी निर्वाह नहीं हो पाता। इसके विपरीत खण्ड काव्य ऐसे प्रबन्ध काव्यों को कहते हैं जिसमें जीवन का खण्ड चित्र ही उभर पाता है और जो कथा तथा उद्देश्य की लघुता के कारण महाकाव्य जैसे बृहदाकार नहीं बन पाते। इस प्रकार के खण्ड काव्य को रुद्रट ने लघु काव्य कहा है। तथापि लघु काव्य अथवा खण्ड काव्य की जो विशेषताएँ रुद्रट ने निर्धारित की हैं वे आधुनिक खण्ड काव्यों पर चरितार्थ नहीं हो पातीं। रुद्रट ने खण्ड काव्य की विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

(क) खण्ड काव्य में चतुर्वर्गफल में से किसी एक फल की उपलब्धि को ही उद्देश्य मान लिया जाता है।

(ख) खण्ड काव्य में अनेक रसों की स्थिति होती है किन्तु वे सभी रस असमग्र रूप में स्थित होते हैं अथवा कोई एक ही रस समग्र रूप में स्थित होता है।

जब खण्ड काव्य सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषताएँ आधुनिक खण्ड काव्यों पर चरितार्थ की जाती हैं तो निस्सन्देह अनेक खण्ड काव्य उपर्युक्त विशेषताओं की परिधि के भीतर नहीं आ पायेंगे। आजकल के खण्ड काव्यों में रस-दृष्टि की महत्ता अधिक नहीं रह गयी है और चरित्रांकन के प्रति अधिक आग्रह स्पष्ट होता जा रहा है। अतः खण्ड काव्य के वास्तविक रूप के निर्धारण के लिए महाकाव्यात्मक उपन्यास (एपिक

नावेल), सामान्य उपन्यास और कहानी का अन्तर समझ लेना वांछनीय है। वस्तुतः महाकाव्य, एकार्थ काव्य और खण्ड काव्य में ठीक वही अन्तर है जो कि महाकाव्यात्मक सामान्य उपन्यास और आख्यायिका में है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "सीमित दृष्टिपथ से जीवन का जितना दृश्य दिखायी पड़ता है उसी का चित्रण खण्ड काव्य और कहानी दोनों में होता है। ऐसे जीवन दृश्य में महाकाव्य और महाकाव्यात्मक उपन्यास जैसी व्यापकता, ऊँचाई और गहराई नहीं होती और न उसमें एकार्थ काव्य तथा सामान्य उपन्यास की तरह फैलाव, उतार-चढ़ाव और मोड़ ही होता है, किन्तु उसमें अन्विति और कसाव अधिक होता है। इसी तरह खण्ड काव्य और कहानी में प्रासंगिक और अवान्तर कथाएँ नहीं होतीं और न कथा में अनावश्यक स्फीति ही होती है।"

(घ) **मुक्तक काव्य**—मुक्तक ऐसी पद्यात्मक रचना को कहते हैं जो केवल एक ही पद में समाप्य हो, अपने आप में पूर्ण हो तथा सर्वथा अन्य-निरपेक्ष हो। मुक्तक को वास्तविक गौरव ध्वन्यालोककार ने ही दिया है। ध्वन्यालोक के अनुसार जिस काव्य में पूर्वापर-प्रसंग की चिन्ता न करते हुए रसानुभूति की सफल सृष्टि हो जाती है वह मुक्तक कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने मुक्तक शब्द का यथावत् प्रयोग न करके मुक्तकादि का स्वरूप-निर्धारण किया है। हेमचन्द्र ने मुक्तादि की केवल एक ही विशेषता बतायी है और वह है अनिबद्धता अर्थात् जो काव्य अनिबद्ध हो, वही मुक्तादि की श्रेणी में आता है। हेमचन्द्र के पश्चात् दण्डी ने भी इस पर विस्तार से विचार किया है किन्तु उन्होंने मुक्तक अथवा मुक्तादि शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने काव्य के केवल दो ही भेद किये हैं—सर्गबन्ध अथवा प्रबन्ध काव्य जिसके अन्तर्गत महाकाव्य, खण्ड काव्य आदि आते हैं और अनिबद्ध अथवा सर्गबन्ध काव्य के लघु रूप प्रतीत होने वाले काव्य।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अनिबद्ध अथवा मुक्तक काव्य के अनेक भेदों-उपभेदों का वर्णन किया है। दण्डी ने केवल तीन मुख्य प्रकार के मुक्तकों की चर्चा की है—मुक्तक, कुलककोश तथा संघात। ध्वन्यालोककार ने छः प्रकार के मुक्तकों का उल्लेख किया है—मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कुलक तथा पर्यायबन्ध। अग्निपुराणकार ने केवल पाँच भेदों का ही वर्णन किया है—मुक्तक, विशेषक, कलापक, कुलक तथा पर्यायबन्ध। आचार्य हेमचन्द्र ने नौ प्रकार के मुक्तक माने हैं—मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, कोश, प्रघट्टक, विकीर्णक तथा संघात्। आचार्य विश्वनाथ ने सात प्रकार के मुक्तकों का वर्णन किया है—मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक, कोश और व्रज्या। वस्तुतः मुक्तकों का यह भेद-निरूपण श्लोक संख्या, विषय आदि के आधार पर किया गया है। इन भेदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(1) **मुक्तक**—अपने आप में सर्वथा पूर्ण अर्थ का प्रतिपादक तथा सहृदयों को चमत्कृत करने वाला और एक ही श्लोक में समाप्य काव्य मुक्तक कहलाता है।

(2) **युग्मक अथवा सन्दानितक**—इस प्रकार के मुक्तक में दो श्लोक होते हैं।

(3) **विशेषक**—तीन श्लोकों वाली रचना को विशेषक कहते हैं।

(4) **कलापक**—इस प्रकार के मुक्तक में चार श्लोक होते हैं।

(5) **कुलक**—पाँच श्लोकों वाली रचना को कुलक कहते हैं। हेमचन्द्र ने पाँच से चौदह श्लोकों तक की रचना को कुलक कहा है।

(6) **कोश**—कोश ऐसे श्लोकों के संग्रह को कहते हैं जो परस्पर असम्बद्ध हो। हेमचन्द्र के अनुसार किसी एक कवि की सूक्तियों के संग्रह को भी कोश कह सकते हैं।

(7) **प्रघट्टक**—किसी एक कवि द्वारा रचित श्लोकों के समूह को प्रघट्टक कहते हैं। विहारी सतसई आदि ग्रन्थ प्रघट्टक के अन्तर्गत आते हैं।

(8) **विकर्णक**—विकर्णक मुक्तकों के ऐसे संग्रह को कहते हैं जिनकी रचना अनेक कवियों ने की हो। वस्तुतः विकर्णक भी एक प्रकार का कोश ही है।

(9) **पर्यायबन्ध**—इसे संघात् भी कहते हैं। पर्ययबन्ध ऐसे मुक्तकों के संग्रह को कहते हैं जिसमें एक कवि द्वारा एक ही विषय पर रचित मुक्तक संग्रहीत हों।

तथापि मुक्तकों के ये विभिन्न भेद-उपभेद आदि हिन्दी के आधुनिक मुक्तकों में नहीं मिलते। संस्कृत में भी मुक्तकों के ऐसे अनेक प्रकार और भेद मिलते हैं जिनका निरूपण उपर्युक्त नौ भेदों में नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त फारसी, अंग्रेजी भाषा आदि के सम्पर्क के कारण हिन्दी में अनेक प्रकार के नए मुक्तक प्रचलित हो गये हैं और मुक्तकों का उपर्युक्त परम्परागत भेद-निरूपण सारहीन-सा हो गया है। इस प्रकार हिन्दी की मुक्तक परम्परा का अवलोकन करने पर मुक्तकों के निम्न भेद किये जा सकते हैं—

(1) **संख्यावाचक**—मुक्तक (एक ही छंद होता है), कुलक (पाँच, आठ अथवा दस छंद तक होते हैं), कोश (बीसी, चौबीसी, बावनी, सत्तरी, बहोत्तरी, शतक अथवा सप्तशती आदि)।

(2) **वर्णमालाश्रित**—मातृका, कक्क, ककहरा, बारहखड़ी।

(3) **छंदाश्रित**—चौपाई, दोहा, दोहावली, छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त, कवितावली, अमृतध्वनि आदि।

(4) **रागाश्रित**—रास, लावणी, गरबा, पद, कजरी, धमाल, गीता, गीतावली आदि।

(5) **ऋतु तथा उत्सवाश्रित**—फाग, होली, चर्च्चरी, चौमासा, बारहमासा, षड्ऋतु, मंगल, सोहर, गारी, ब्याहलो, बधावा आदि।

(6) **पूजाश्रित तथा धर्माश्रित**—स्तोत्र, स्तुति, विनय, स्तवन, महिमा, पूजा, प्रभाती, साँझी, भजन, निर्गुन, विनती, रमैनी, साखी, सबद, उलटबाँसी आदि।

(7) **लोकाश्रित**—मुकरी, पहेली, कहावत, ढकोसला आदि।

(8) **फारसी काव्य-रूप**—गजल, रुबाइयाँ, चौपदे आदि।

(9) **अंग्रेजी काव्य-रूप**—द्विपदी (कप्लेट), चतुर्दशपदी (सानेट), सम्बोध-गीति (ओड), शोकगीति (एलिजी), गीत (सौंग), गीति (लिरिक)।

(10) **साहित्यशास्त्राश्रित**—छंद, रस, ध्वनि, नायक-नायिका भेद के लक्षण और उदाहरण के छंद।

(11) **फुटकर काव्य-रूप**—दूतकाव्य, अष्टयाम, गोष्ठी, संवाद, नखशिख आदि ।

(ङ) **गद्य काव्य**—संस्कृत काव्यशास्त्र में गद्य काव्य के अन्तर्गत केवल कथा, वृत्त तथा आख्यायिका आदि का ही वर्णन किया गया है । तथापि गद्य काव्य एक बहुत व्यापक अवधारणा होती है और इसके अन्तर्गत कई अन्य प्रकार के साहित्य रूप आ सकते हैं । गद्य काव्य का स्वरूप-निर्धारण करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि गद्य काव्य के व्यापक अर्थ के अतिरिक्त उसका एक विशिष्ट अर्थ भी आजकल प्रचलित हो गया है । विशिष्ट अर्थ में गद्य काव्य ऐसी रचना को कहते हैं जिसमें पद्य की-सी संवेदनशीलता और रसात्मकता स्थित हो । स्वभावतः गद्य काव्य सामान्य गद्य की अपेक्षा अधिक लयपूर्ण, अलंकारयुक्त और सधा हुआ होता है । गद्य काव्यात्मकता की शैली का प्रयोग कथा, कहानी, निबन्धों आदि में भी हो सकता है । संस्कृत काव्यशास्त्र में चूर्णक और वृत्तगद्य शैलियों का प्रयोग इसी प्रकार के गद्य काव्यों के लिए निर्धारित किया गया है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गद्य काव्य एक साहित्य-रूप के अतिरिक्त एक विशिष्ट प्रकार की शैली भी है ।

गद्य काव्य के सम्बन्ध में संस्कृत काव्यशास्त्र में भी विस्तार से विचार किया गया है । भामह के अनुसार गद्य काव्य के केवल दो भेद ही होते हैं—कथा और आख्यायिका । भामह ने पुनः कथा और आख्यायिका का अन्तर स्पष्ट किया है । आख्यायिका की रचना केवल संस्कृत में की जाती है और वह विभिन्न उच्छ्वासों में बँटी होती है । आख्यायिका में नायक स्वयं ही अपनी कथा कहता है, कई स्थलों पर भावी कथा का संकेत भी देता है । आख्यायिका का नायक वक्त्र और अपवक्त्र छंदों का भी प्रयोग करता है । इसके विपरीत कथा की रचना संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत अथवा अपभ्रंश में भी हो सकती है । कथा का नायक स्वयं कथा-वर्णन नहीं करता और उसमें न उच्छ्वासों की योजना होती है न अपवक्त्र छंदों का प्रयोग । दण्डी ने इस विभाजन का खण्डन किया है तथापि परवर्ती काव्यशास्त्रियों में भामह का मत ही समादृत हुआ ।

(च) **चम्पू काव्य**—चम्पू काव्य संस्कृत काव्य की एक अलग विधा है । इसे गद्य काव्य एवं पद्य काव्य में नहीं रखा जा सकता क्योंकि इसमें गद्य और पद्य दोनों का समान रूप से प्रयोग होता है; लेकिन दृश्य काव्यों में भी नहीं रखा जा सकता । इसमें नाटक के लिये अपेक्षित अभिनेयता आदि कोई भी बात नहीं होती ।

काव्य-रूपों का उपर्युक्त वर्गीकरण वस्तुतः मनुष्य की विश्लेषणात्मक बुद्धि का ही परिचायक है । साहित्य की व्यापक अवधारणा को वैज्ञानिक नियमों की भाँति कठोर काव्य-रूपों में खण्डशः विभाजित नहीं किया जा सकता । यही नहीं, साहित्योत्कर्ष में भी उपर्युक्त विभाजन का कोई भी योगदान नहीं हो सकता । दो शब्दों में, कहा जा सकता है कि काव्य-रूपों का उपर्युक्त विभाजन केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रखता है, साहित्य के बनने-बिगड़ने में उसका कोई योगदान नहीं हो सकता । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निस्सन्देह इस प्रकार के वर्गीकरण की उपादेयता हो सकती है ।

16
नाट्य-सिद्धान्त

भारत में नाटकों और नाट्यशास्त्र की परम्परा लगभग ढाई हजार वर्ष पुरानी है। भरत से पहले भी नाट्य-सिद्धान्तों के विवेचन के सूत्र मिलते हैं। भारत में नाटकों की प्राचीन परम्परा का उल्लेख अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। नाटक के विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि "हमारे यहाँ संस्कृत साहित्य में नाटकों की समृद्ध परम्परा ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही प्रचलित हो चुकी थी। 'नाट्यशास्त्र' जैसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि 'काव्येषु नाट्यं रम्यं' की प्राचीन धारणा अत्यन्त प्राचीन काल से व्यावहारिक सत्य बनी हुई थी। हमारे यहाँ रंगशालाओं का समुचित विकास ईसा से बहुत पहले ही हो चुका था और अभिनय, नृत्य, संगीत, वास्तु, चित्रकला आदि विभिन्न कलाओं से पूर्ण नाटक लोकरंजन का प्रमुख लोकप्रिय साधन था।" कदाचित् इसलिए नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि नाटक को पंचम वेद मानने हैं। जनजीवन में नाटक की महत्ता इसलिए भी अधिक है क्योंकि नाटक में अनेक कलाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। नाटक ही साहित्य की एक मात्र ऐसी विधा है जिसमें नाट्य कला के अतिरिक्त अभिनेयता, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, भाषण, संवाद-योजना—आदि अनेक कलाओं का अन्तर्भाव हो जाता है।

काव्यशास्त्रियों ने गोचरता के आधार पर काव्य के दो भेद स्वीकार किये हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य का आनन्द श्रवण करके लिया जाता है और दृश्य काव्य का सुख आँखों से प्राप्त होता है। प्रदर्शन की प्रधानता के कारण दृश्य काव्य की स्थिति अन्य प्रकार के काव्यों से सर्वथा भिन्न है। प्रभाव और रसास्वाद की दृष्टि से दृश्य काव्य निसन्देह श्रव्य काव्य से कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। श्रव्य काव्य का आनन्द समाज का केवल वही सीमिस वर्ग उठा सकता है जो शैक्षिक दृष्टि से सम्पन्न हो किन्तु दृश्य काव्य का सुख सर्वसाधारण वर्ग उठा सकता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के आचाचार्य भरतमुनि ने दृश्य काव्य के लिए 'नाट्य'

का प्रयोग किया है। नाटक की व्यापकता का उल्लेख करते हुए भरतमुनि कहते हैं कि—

'न सयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यत्र दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।'

अर्थात् ऐसा कोई भी योग, कर्म, शास्त्र, कला-शिल्प आदि नहीं होगा जो नाटक में न पाया जाता हो। भरतमुनि द्वारा विरचित नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में माना जाता है और उसका जो वर्तमान रूप है, वह तीसरी शताब्दी ई० तक विकसित हुआ रूप है। नाट्यशास्त्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, हर्ष, कीर्तिधर, अभिनवगुप्त, नामदेव आदि टीकाकारों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोष, गान और रंग अर्थात् रंगमंचीय साज-सज्जा आदि विषयों पर विस्तार से विचार हुआ है। भरत के नाट्यशास्त्र में वस्तुतः नाट्य-प्रयोग का शास्त्रीय विवेचन हुआ है और कदाचित् इसी कारण इसमें अभिनय, संगीत और रंगमंचीय साज-सज्जा पर मौलिक चिन्तन का परिचय दिया गया है। तथापि भरत का नाट्यशास्त्र अत्यधिक विशालकाय और तकनीकी है और इस कारण सामान्य पाठक वर्ग के लिये वह विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हो सका। भरत के पश्चात् कई नाट्यशास्त्रियों ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' का आश्रय लेकर नाट्यतत्त्वों का विस्तार से विश्लेषण किया है। इस दृष्टि से अग्नि-पुराणकार, भोज तथा श्रृंगारप्रकाशकार आदि उल्लेख्य हैं।

10 वीं शताब्दी के अन्त में धनंजय ने दशरूपक नामक ग्रन्थ में विभिन्न नाट्यांगों का विवेचन किया है। इस नाट्यग्रन्थ में धनंजय ने ग्यारह प्रकार के रूपकों का वर्णन किया है। दशरूपक में चार 'प्रकाश' हैं जिनमें क्रमशः कथावस्तु, नायक-नायिका, पात्र तथा भाषादि, रूपक की विभिन्न विधाओं और रस एवं भावादि का विवेचन किया गया है। धनंजय के पश्चात् सागरनन्दी नामक नाट्यशास्त्री ने नाटक लक्षण रत्नकोश' में नाटक के विभिन्न तत्त्वों पर विचार किया है। इसी क्रम में रामचन्द्र गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण', शारदातनय का 'भावप्रकाशन' बहुत महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं। चौदहवीं शताब्दी में 'दशरूपक' का आश्रय लेकर और कई ग्रन्थों की रचना हुई।

नाट्य के भेद—भारतीय काव्यशास्त्रियों ने नाट्य के दो भेद किये हैं—रूपक तथा उपरूपक। रूपक और उपरूपकों में मूल अन्तर यही है कि रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में नृत्य आदि के प्रति अधिक आग्रह रहता है। शास्त्रकारों ने रूपक के तेरह भेदों का वर्णन किया है, यथा नाटक, प्रकरण, नाटिका, तोटक, प्रकरणिका, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। इन सभी प्रकार के रूपकों का संक्षिप्त परिचय अग्रानुसार है :

(क) **नाटक**—रूपक के दस भेदों में नाटक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद माना जाता है। नाटक की विशेषताओं का वर्णन करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि उसमें प्रख्यात राजा के चरित्र का वर्णन होता है और चतुर्वर्ग फलों में से एक अथवा एकाधिक फलों की प्राप्ति का दिग्दर्शन कराया जाता है। कथावस्तु, नायक तथा रस सम्बन्धी अधिकांश सिद्धान्त नाटक को लक्ष्य मानकर ही निर्धारित किये गये हैं। नाटक में पाँचों सन्धियों की स्थिति होती है और अंगी रस के रूप में शृंगार अथवा वीर रस में से कोई एक रस होता है। नाटक में पाँच से दस अंक हो सकते हैं। नायक के सहायकों की संख्या 4–5 तक हो सकती है। नाटक के अंक प्रारम्भ में छोटे, बीच में बड़े और अन्त में पुनः छोटे होने चाहिए। 'उत्तररामचरित' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' उत्कृष्ट श्रेणी के नाटक माने जाते हैं। नाटक के लक्षण प्रस्तुत करते हुए भरतमुनि कहते हैं कि—

> **'पंचसंधि चतुर्वृत्ति चतुः षटयंगसंयुतम्,**
> **षट्त्रिंशल्लक्षणों पेतंमलंकारोपशोभितम् ।**
> **महारसं महाभोगमुदात्त रचनान्तिम्,**
> **महापुरुष संचारं साध्वाचारं जनप्रियत्,**
> **सुश्लिष्टसन्धियोष्च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्,**
> **मृदुशब्दाति पातचं कविः कुर्यात्तु नाटकम् ।'**

(ख) **प्रकरण**—प्रकरण भी 'नाटक' से बहुत मिलता-जुलता हुआ रूपक-प्रकार है। प्रकरण की कथावस्तु कविकल्पित तथा सर्वथा लौकिक होती है और इसका नायक कहीं ब्राह्मण, कहीं अमात्य तथा कहीं वणिक होता है। नायक स्वभाव से धीरशान्त प्रकृति का होता है और प्रकरण में अलौकिक अथवा दिव्य पात्रों का आश्रय नहीं लिया जाता। प्रकरण का अंगी रस शृंगार रस होता है। प्रकरण की नायिका कुलीन कन्या अथवा वेश्या होती है। प्रकरण के शेष लक्षण अधिकांशतः नाटक की भाँति हैं। प्रकरण के उदाहरण के रूप में 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण का उल्लेख किया जा सकता है।

(ग) **तोटक**—तोटक वस्तुतः नाटक का ही एक उपभेद है और नाटक से इसकी भिन्नता केवल इसी बात में है कि तोटक में दिव्य और सामान्य पात्रों का मिलन होता है। इस दृष्टि से महाकवि कालिदास द्वारा विरचित 'विक्रमोर्वशी' उल्लेख्य है जिसमें दिव्य पात्र के रूप में उर्वशी और सामान्य मानव पात्र के रूप में विक्रम का चित्रण किया गया है।

(घ) **नाटिका**—नाटिका रूपक का ऐसा रूप है जिसे नाटक और प्रकरण का मिश्रित रूप कहा जा सकता है। नाटिका का नायक राजा होता है और उसकी कथावस्तु कविकल्पित तथा लौकिक होती है। नाटिका की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें नारी-पात्रों की अधिकता होती है और अंगी रस रूप शृंगार रस की

स्थापना होती है। नाटिका में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है और अनिवार्यतः चार अंक होते हैं। नाटिका के उदाहरण के रूप में हर्ष रचित 'रत्नावली' तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विरचित 'चन्द्रावली' उल्लेखनीय हैं।

(ङ) **प्रकरणिका**—प्रकरणिका के अधिकांश लक्षण नाटक की भाँति होते हैं। प्रकरणिका का नायक प्रकरण की भाँति ही वणिक, ब्राह्मण अथवा सचिव होता है जो कि स्वभाव से धीरशान्त होता है।

(च) **भाण**—भाण नामक रूपक में दुष्ट और भ्रष्ट पात्रों का चित्रण रहता है और उसमें श्रृंगार, वीर अथवा हास्य रस की प्रधानता रहती है। भाण की कथा-वस्तु कविकल्पित होती है। इसका नायक अपनी अथवा वेश्या आदि के अनुभवों का वर्णन 'आकाशभाषित' पद्धति से करता है। भाण में भारती वृत्ति की प्रमुखता रहती है। भाण में केवल मुख और निर्वहण—दो ही सन्धियों की योजना होती है। भाण का कथानक एक ही अंक में समाप्य होता है। भारतेन्दु विरचित 'विषस्य विषमौ-षधम्' एक उत्कृष्ट कोटि का भाण माना जाता है।

(छ) **व्यायोग**—व्यायोग की कथावस्तु प्रख्यात होती है और नारी पात्रों की संख्या अत्यल्प होती है। इसके पात्र सामान्य मनुष्य होते हैं और इसमें एक ही दिन की घटना का वर्णन होता है। व्यायोग में वीर रस की प्रधानता होती है और यह एक ही अंक में समाप्य होता है। इस रूपक-प्रकार में गर्भ तथा विमर्श सन्धियों का अभाव होता है। व्यायोग के उदाहरण के रूप में 'सौगन्धिकाहरण' तथा 'किराता-र्जुनीय का उल्लेख किया जा सकता है।

(ज) **समवकार**—समवकार की कथावस्तु देवताओं और असुरों से सम्बन्धित और प्रख्यात होती है। विमर्श के अतिरिक्त सभी सन्धियों का निर्वाह किया जाता है। समवकार के नायक धीरोदात्त होते हैं और नायकों की संख्या बारह तक हो सकती है। सभी नायकों को पृथक् फल की उपलब्धि होती है। समवकार तीन अंकों में समाप्य होता है और इसमें वीर अथवा रौद्र रस की प्रमुखता होती है। समवकार की कथा 36 घड़ी की होती है और इसमें बिन्दु तथा प्रवेशक का अभाव होता है। 'समुद्रमंथन' एक श्रेष्ठ कोटि का समवकार माना जाता है।

(झ) **डिम**—डिम की कथावस्तु प्रख्यात और पौराणिक होती है और इसमें रौद्र रस की प्रमुखता होती है। इसके नायक देवता, गन्धर्व तथा राक्षस—सभी हो सकते हैं। डिम के नायकों की संख्या 16 तक हो सकती है। डिम में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग वर्जित है। यह रूपक-प्रकार चार अंकों में समाप्य होता है। भरतमुनि का 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक डिम के अन्तर्गत ही आता है।

(ञ) **ईहामृग**—ईहामृग की कथावस्तु प्रख्यात तथा कल्पित का मिश्रित रूप होती है और यह चार अंकों में समाप्य होता है। ईहामृग में श्रृंगार रस की प्रधानता होती है और नायक तथा प्रतिनायक में युद्ध की तैयारी तो हो जाती है किन्तु युद्ध

वस्तुत: होता नहीं है। इस रूपक में मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियों का निर्वाह होता है और उसका विषय अलभ्य कामनी की इच्छा होती है। ईहामृग के नायक को नायिका की प्राप्ति नहीं हो पाती और अन्तत: वह मृत्यु के पंजे से सुरक्षित लौट आता है। इस रूपक का नाम ईहामृग इसीलिए रखा गया है क्योंकि इसका नायक मृग की तरह अलभ्य नायिका की ईहा अर्थात् कामना करता है। 'कुंडशेखरविजय' और 'रुक्मिणीहरण' नामक रचनाएँ ईहामृग की श्रेणी में आती हैं।

(ट) अंक—अंक की कथावस्तु प्रख्यात होती है किन्तु नाटककार अथवा कवि अपनी कल्पना के बल पर उसका विस्तार कर देता है। इसका नायक सामान्य मनुष्य होता है और इसकी समूची कथा एक ही अंक में समाप्य होती है। अंक में करुण रस की प्रधानता होती है और विशेषत: नारी पात्रों के शोकपूर्ण प्रसंगों का वर्णन होता है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियों का निर्वाह होता है और भारती वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। अंक के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में 'शर्मिष्ठाययाति' नामक रचना उल्लेख्य है।

(ठ) वीथी—वीथी भी एक ही अंक में समाप्य होता है और इसकी कथावस्तु कल्पित होती है। भाण के अधिकांश लक्षण वीथी में भी पाये जाते हैं। इसका नायक किसी भी प्रकार का हो सकता है और पात्रों की संख्या भी कम होती है। वीथी में शृंगार रस की प्रमुखता रहती है और आद्योपान्त विनोद और आश्चर्यमिश्रित वातावरण बना रहता है। वीथी में सभी प्रकार की अर्थप्रवृत्तियों का विधान होता है। वीथी के उदाहरण के रूप में 'बकुलवीथिका' नामक रचना उल्लेख्य है।

(ड) प्रहसन—प्रहसन की अन्यतम विशेषता यह होती है कि उसमें हास्य रस की प्रधानता रहती है। प्रहसन की कथावस्तु कल्पित होती है और प्राय: एक अथवा दो अंकों में समाप्य होती है। इसका नायक तपस्वी, संन्यासी आदि होता है। प्रहसन का अन्त उपदेशात्मक होता है। प्रहसन में मुख और निर्वहण सन्धियों का निर्वाह होता है और भारती वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। 'अंधेर नगरी' तथा 'हास्यचूड़ामणि' श्रेष्ठ कोटि के प्रहसन माने जाते हैं।

इन 13 रूपकों के अतिरिक्त विद्वानों ने 15 उपरूपकों का वर्णन भी किया है। ये 15 उपरूपक हैं—सट्टक, गोष्ठी, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेषण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, हल्लीश तथा भाणी। कई विद्वानों के अनुसार नाटिका, तोटक और प्रकरणिका वस्तुत: उपरूपक ही होते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय साहित्य में रूपकों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है और अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विद्वानों ने रूपकों के अनेक भेद-उपभेदों का वर्णन किया है।

नाटक के तत्त्व

भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने नाटक के मुख्यतः तीन तत्त्व स्वीकार किये हैं—'वस्तुनेता रसस्तेषाभेदकः' अर्थात् नाटक के मुख्यतः तीन तत्त्व होते हैं—वस्तु, नेता और रस। भारतीय नाट्यशास्त्र में इन तीनों तत्त्वों पर विस्तार से विचार किया गया है। वस्तु का आशय कथावस्तु मे है और नेता के अन्तर्गत नायक, प्रतिनायक, नायिका, अन्य पात्रों आदि पर विचार किया गया है। इन तीनों तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्नानुसार है—

(1) वस्तु—भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने कई दृष्टियों से कथावस्तु का भेद-निरूपण किया है। इस सम्बन्ध में सबसे पहली दृष्टिस्रोत सम्बन्धी है। स्रोत को लेकर कथावस्तु तीन प्रकार की बतायी गयी है—प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्रित। प्रख्यात का आशय ऐसी कथावस्तु से है जो इतिहास अथवा पुराणों से सम्बन्धित हो अथवा अन्यथा जनमानस में सुप्रसिद्ध हो। उत्पाद्य कथावस्तु को कविकल्पित भी कहा जा सकता है। इस प्रकार की कथावस्तु में कवि अपनी कल्पना का आश्रय लेकर कथा-वस्तु का निर्माण करता है। प्रख्यात और उत्पाद्य के मिश्रित रूप को मिश्रित कथा-वस्तु कहा जाता है।

कथावस्तु के भेद-निरूपण का एक अन्य आधार फल प्राप्ति भी है। भारतीय मनीषियों ने चार प्रकार के फलों का उल्लेख किया है—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष और निस्सन्देह नाटक का लक्ष्य भी एक अथवा एकाधिक फलों की प्राप्ति होता है। फल को शास्त्रीय भाषा में अधिकार कहा जाता है, अतः इसी आधार पर दो प्रकार की कथाओं का अर्थात् आधिकारिक और प्रासंगिक कथा का विधान किया गया है। आधिकारिक कथा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नायक से होता है क्योंकि फल अथवा अधिकार की प्राप्ति भी अन्ततः नायक को ही होती है। इस आधिकारिक कथा को गति और प्रवाह देने के लिए प्रासंगिक कथाओं की योजना की जाती है। प्रासंगिक कथाएँ, मूल अथवा आधिकारिक कथा को प्राणवान् बनाये रखती हैं। इन प्रासंगिक कथाओं के भी पुनः दो भेद किये गये हैं—प्रकरी और पताका। प्रकरी ऐसी प्रासंगिक कथाओं को कहते हैं जो नाटक में बहुत दूर तक चलती हैं। स्वभावतः प्रकरी कथा आकार में बड़ी और अधिक विस्तृत होती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी प्रासंगिक कथाएँ भी होती हैं जो आकार में छोटी होती हैं और प्रसंग विशेष तक पहुँचकर तथा मूल कथा की सहायता करके समाप्त हो जाती हैं। प्रकरी और पताका का भेद-निरूपण करते हुए एक विद्वान् आलोचक कहते हैं कि "प्रकरी एकदेशस्थ" (स्थल विशेष तक परिसीमित) अथवा अनुबन्धरहित है और प्रकरी-नायक सर्वथा निःस्वार्थ होता है। सानुबन्ध पताका आयाम अपेक्षाकृत विस्तृत होता है और मुख्य नायक के फल योग में सहायक होने के साथ ही वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि भी करता है।

कई विद्वानों ने प्रकरी और पताका प्रासंगिक कथाओं के नामकरण का रहस्य खोजने का भी सफल प्रयत्न किया है। 'प्रकरी' शब्द प्रकार से बना है जिसका प्रयोग

तीन अर्थों में किया जा सकता है—सहायता, अनुबन्धहीनता और गुलदस्ता। तनिक गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकरी कथा के नाम का औचित्य इन तीनों अर्थों में स्वतः स्पष्ट है। प्रकरी कथा नायक को फल प्राप्ति में सहायता पहुँचाती है और प्रकृति से अनुबन्धविहीन होती ही है। तीसरी बात यह कि प्रकरी एक पुष्प-प्रकर की भाँति शोभापूर्ण होती है। पताका का कोषार्थ झण्डा होता है और झण्डे की उपादेयता यह होती है कि वह एक स्थल पर स्थिर होकर भी सारी सेना, शासन आदि का परिचायक होता है। ठीक इसी प्रकार नाटक में भी प्रकरी किसी विशेष स्थल पर रहते हुए भी समूचे नाटक को आच्छादित किये रहती है। पताका का नायक मूल कथा के नायक का सहयोगी होता है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकरी और पताका कथाओं के नामकरण का औचित्य स्पष्ट हो जाता है।

नाट्यशास्त्रियों ने आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं के अतिरिक्त पताका-स्थानक नामक कथा का भी वर्णन किया गया है। पताकास्थानक कथा का आशय ऐसी प्रासंगिक कथा से है जो कि पताका के तुल्य हो, उसका स्थान ले सकती हो। पताकास्थानक कथा का विवेचन करते हुए नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि "पताका-स्थानक नाटक का वह कथा भाग है जहाँ पूर्वनिश्चित फल या उसकी प्राप्ति के उपाय से भिन्न फल या उपाय की प्राप्ति प्रधान प्रयोजन की सिद्धि में उपकारिणी होती है।" कथा का यह भाग नाटक के मूल इतिवृत्त की सौन्दर्य-वृद्धि करता है और स्वभावतः प्रमाता को भी विशिष्ट रसानुभूति होती है। एक उदाहरण से स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। 'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य का स्वगत कथन इस प्रकार है—

"अपि नाम दुरात्मकराक्षसो गृह्येत' अर्थात् दुष्ट राक्षस पकड़ में आ सकेगा ? (तभी सिद्धार्थक प्रवेश करते हैं और चाणक्य के उपर्युक्त कथन से अनभिज्ञ होते हुए कहते हैं) "अय्य गार्हतो" अर्थात् आर्य, ग्रहण कर लिया गया।

सिद्धार्थक के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह निकलता है कि चाणक्य का कथन ग्रहण कर लिया गया अर्थात् सुन लिया गया किन्तु जिस स्थिति में उन्होंने 'आर्य, ग्रहण कर लिया गया' वाक्य कहा है, उससे यह अर्थ प्रतीति भी होती है कि राक्षस पकड़ में आ गया। यही अर्थ मुद्राराक्षस के मूल प्रयोजन का उपकारक भी है।

अभिनेयता के आधार पर भी कथावस्तु के भेद किये गये हैं। यह तो निर्विवाद है कि किसी भी नाटक की पूर्ण कथावस्तु को केवल अभिनय के माध्यम से ही प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अधिकांशतः कथावस्तु का वही अंश अभिनीत किया जाता है जो कि सरस और उचित हो और नीरस तथा अनुचित कथा-प्रसंगों को अन्य माध्यमों से वर्णित किया जाता है अथवा उन्हें छोड़ दिया जाता है; किन्तु ऐसा उसी स्थिति में सम्भव होता है जबकि उन्हें छोड़ देने से मूल कथा के प्रवाह में कोई व्यवधान न पड़ता हो। जिन कथा-अंशों का चित्रण अभिनय के माध्यम से किया जाता है उन्हें 'दृश्य' कहते हैं और जिन प्रसंगों का वर्णन अन्य माध्यमों से किया जाता है उन्हें

'सूच्य' कहते हैं। कतिपय विद्वानों ने कथावस्तु के दो अन्य भेदों का भी वर्णन किया है—उह्य तथा उपेक्ष्य। उह्य ऐसे कथा-प्रसंगों को कहते हैं जिनके अभाव में दृश्य अथवा सूच्य कथा-प्रसंगों का निर्वाह नहीं हो पाता और जिसकी कल्पना प्रेक्षक अपनी ऊहा के बल पर ही कर लेता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी नाटक के नायक को किसी दूसरे देश जाने की सूचना प्राप्त होती है तो उसकी यात्रा को अभिनय के माध्यम से प्रदर्शित करना आवश्यक नहीं है। ऐसे प्रसंग को प्रेक्षक अपनी ऊहा के बल पर ही समझ लेगा। उपेक्ष्य ऐसे कथा-प्रसंगों को कहते हैं जिन्हें उपयोगिता, नैतिकता तथा औचित्य आदि कारणों से अभिनीत नहीं किया जाना चाहिए। स्नान, शयन आदि कथा-प्रसंग इसी कोटि में आते हैं।

इतिवृत्त के सूचक के रूप में प्रयुक्त कथा-प्रसंगों को अर्थोपक्षेपक कहा जाता है। घटित अथवा भावी घटनाओं का संकेत देने के लिए अर्थोपक्षेपक विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि का प्रयोग विशेष रूप से ऐसे कथा-प्रसंगों की सूचना देने के लिए किया जाता है जिन्हें अभिनीत करना शास्त्रीय दृष्टि से वर्जित होता है। इस प्रकार के प्रसंगों में सम्भोग, मृत्यु, विप्लव, दूर की यात्रा आदि जैसे प्रसंगों की गणना की जाती है। नाट्यशास्त्रियों ने अर्थोपक्षेपकों के पाँच भेदों का वर्णन किया है—विष्कम्भक, प्रवेशक, अंकमुख, अंकावतार तथा चूलिका। इन पाँचों प्रकार के अर्थोपक्षेपकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—(क) **विष्कम्भक**—मध्यम तथा नीच-मध्यम पात्रों द्वारा घटित अथवा भावी घटनाओं की सूचना देने के लिए प्रयुक्त अर्थ-प्रेक्षकों को विष्कम्भक कहते हैं। (ख) **प्रवेशक**—प्रवेशक का प्रयोग केवल नीच पात्रों द्वारा किया जाता है और कदाचित् इसी कारण इस प्रकार के अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग पहले अंक से पूर्व नहीं किया जा सकता। (ग) **अंकमुख**—अंकमुख ऐसे अर्थोपक्षेपकों को कहते हैं जिनका प्रयोग आगामी अंक के आरम्भ के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए किया जाता है। (घ) **अंकावतार**—समाप्त होने वाले अंक में परवर्ती अंक की सूचना देने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले अर्थोपक्षेपकों को अंकावतार कहते हैं। (ङ) **चूलिका**—जब नेपथ्य से ही पात्रों द्वारा कथा की सूचना दी जाती है तो चूलिका अर्थोपक्षेपक का प्रयोग किया जाता है।

कथावस्तु के प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि समूची कथा को रंगमंच पर अभिनीत नहीं किया जाता। अभिनय के आधार पर कथावस्तु के चार भेद किये गये हैं—सर्वश्राव्य, अश्राव्य, नियतश्राव्य तथा आकाशभाषित। सर्वश्राव्य ऐसे कथा-प्रसंगों को कहते हैं जिन्हें अभिनय के समय सभी को सुनाये जाने योग्य समझा जाता है। अश्राव्य ऐसे कथा-प्रसंगों को कहते हैं जिन्हें किसी को भी सुनने योग्य नहीं समझा जाता। ऐसे कथा-प्रसंगों को स्वगत कथन भी कहते हैं। नियतश्राव्य ऐसे कथा-प्रसंगों को कहते हैं जो किन्हीं विशिष्ट पात्रों को सुनाये जाने योग्य होते हैं। आकाशभाषित कथा-प्रसंगों में पात्र स्वयं ही प्रश्न और उत्तरों का कथन करता रहता है।

नाटक की कथावस्तु को प्रवाहमान और प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से विद्वानों ने कथावस्तु के तीन और विभाजनों का वर्णन किया है—अर्थप्रकृति, कार्यावस्था और सन्धियाँ। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध वस्तु के तत्त्वों के साथ, ' ार्यावस्था का सम्बन्ध नाटक के कार्य-व्यापार के साथ और सन्धियों का सम्बन्ध रूपक-रचना के विभागों के साथ बिठाया जा सकता है। अर्थप्रकृतियों का आधार फल-सिद्धि अथवा फल-प्राप्ति होता है। इस दृष्टि से वस्तु के पाँच प्रयोजनों का वर्णन किया गया है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। फल का प्रथम हेतु अथवा कारण 'बीज' कहलाता है। नाटक के आरम्भ में इसका रूप बहुत छोटा होता है किन्तु नाटक की वस्तु के विस्तार के साथ-साथ यह बीज ही बड़ी कथा का रूप धारण कर लेता है। अन्य अर्थ प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों का मूल कारण यही बीज होता है अतः स्वभावतः इसका महत्त्व सर्वोपरि होता है। बिन्दु का प्रयोग रूपक के कार्य की किंचित अवरुद्ध गति को पुनः सक्रिय बनाने के लिए किया जाता है। होता यह है कि आरम्भ में बीजन्यास के पश्चात् मूल कथा और अन्य कथाओं में सम्बन्ध क्षीण से क्षीणतर होता जाता है और इसी क्षयमाण सम्बन्ध को पुनर्जीवित करने के लिए बिन्दु का प्रयोग होता है। एक उदाहरण से बिन्दु का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। अथाह जलसागर में तेल की बूँद की तरह ही यह बिन्दु होता है। पताका और प्रकरी का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। पाँचवीं अर्थ प्रकृति 'कार्य' कहलाती है जिसका आशय ऐसे उपायों से होता है जिनके कारण आरम्भ में आरोपित बीज अपने चरम उद्देश्य अर्थात् फल को प्राप्त होता है।

नाटक में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'फल' होता है। नाटक की कथावस्तु के 'कार्य' को ही वस्तुतः 'फल' कहते हैं। इस कार्य की भी पाँच अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। जिन्हें शास्त्रीय भाषा में कार्यावस्था कहा गया है। ये पाँच कार्यावस्थाएँ हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। उस कार्यावस्था को आरम्भ कहते हैं जिसमें नाटक की कथावस्तु के फल की प्राप्ति की उत्सुकता बनी रहती है। 'आरम्भावस्था' में नायक द्वारा फल की अभिलाषा व्यक्त की जाती है, उसकी प्राप्ति के लिए उपायों के प्रयोग की उत्सुकता बनी रहती है और तदनुसार कार्यारम्भ किया जाता है। 'आरम्भ' के पश्चात् 'यत्न' नामक कार्यावस्था का क्षेत्र आरम्भ होता है। फल की प्राप्ति के लिए अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण ढंग से उपायों का नियोजन करना फल-प्राप्ति के मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं के प्रस्तुत होने पर और अधिक उत्साह के साथ उपायों को कार्यान्वित करना 'यत्न' कार्यावस्था के अन्तर्गत आता है। तीसरी कार्यावस्था प्राप्त्याशा कहलाती है जिसमें फल-प्राप्ति में उपस्थित हुई बाधा दूर हो जाती है और चरम फल की प्राप्ति की सम्भावना सुस्पष्ट हो जाती है। तथापि 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था में आशंकाओं की स्थिति भी बनी रहती है। चौथी कार्यावस्था नियताप्ति कहलाती है। 'नियताप्ति' में ऐसी कार्यावस्था होती है जिसमें फल-प्राप्ति हो जाती है और फल-प्राप्ति निश्चयात्मक हो जाती है। अन्तिम कार्या-

वस्था फलागम कहलाती है जिसमें चरम फल की प्राप्ति हो जाती है। यही पाँचवीं कार्यावस्था कहलाती है।

उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच कार्यावस्थाओं को एक-दूसरे के साथ जोड़ने का कार्य सन्धियाँ करती हैं। विद्वानों ने पाँच प्रकार की सन्धियों का वर्णन किया है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण। इन पाँचों सन्धियों का संक्षिप्त परिचय देने से पूर्व सन्धियों के स्वरूप-विवेचन के सम्बन्ध में दो शब्द कहने आवश्यक हैं। धनंजय तथा धनिक ने सन्धि के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रामक अवधारणा प्रस्तुत कर दी। धनंजय के अनुसार पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच कार्यावस्थाओं के क्रमशः संयोग से पाँच सन्धियों का जन्म होता है। इस आधार पर उनकी मान्यता को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

बीज (अर्थप्रकृति) और आरम्भ (कार्यावस्था) के संयोग से मुख सन्धि।
बिन्दु (अर्थप्रकृति) और यत्न (कार्यावस्था) के संयोग से प्रतिमुख सन्धि।
पताका (अर्थप्रकृति) और प्राप्त्याशा (कार्यावस्था) के संयोग से गर्भ सन्धि।
प्रकरी (अर्थप्रकृति) और नियताप्ति (कार्यावस्था) के संयोग से विमर्श सन्धि।
कार्य (अर्थप्रकृति) और फलागम (कार्यावस्था) के संयोग से निर्वहण सन्धि।

कालान्तर में विद्वानों ने धनंजय द्वारा प्रस्तुत इस सन्धि-विधान को दोषपूर्ण और तर्कहीन सिद्ध किया। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये गये। पहला तर्क तो यह है कि पताका और प्रकरी की स्थिति अनिवार्य नहीं होती और यदि किसी कथावस्तु में इन दोनों अर्थप्रकृतियों का अभाव हुआ तो गर्भ और विमर्श सन्धियों की स्थिति का क्रम बिगड़ जायेगा। दूसरे, पताका और प्रकरी का कोई नियत क्रम भी नहीं होता, अर्थात् इन दोनों अर्थप्रकृतियों में से कोई भी पहले अथवा बाद में हो सकती है और ऐसी स्थिति में सन्धियों के उपर्युक्त क्रम का निर्वाह सम्भव नहीं होगा। तीसरी बात यह है कि सन्धि कोई ऐसा बिन्दु अथवा स्थल नहीं है जिससे पूर्व अथवा बाद में सन्धि की स्थिति ही न रहती हो। वास्तविकता यह है कि सन्धि का विस्तार एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक चलता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—

(क) **अर्थप्रकृतियाँ**—नाटक के अन्त में फल-प्राप्ति के निमित्त कतिपय अनिवार्य और वैकल्पिक उपायों की योजना की जाती है। अनिवार्य उपायों के रूप में आधिकारिक (बीज, बिन्दु, कार्य) और वैकल्पिक उपायों के रूप में प्रासंगिक (पताका, प्रकरी) का विनियोजन किया जाता है। यही अर्थप्रकृतियाँ कहलाती हैं।

(ख) **कार्यावस्थाएँ**—फल-प्राप्ति के लिए नायक और उसके सहायक पात्रादि विभिन्न प्रकार के मानसिक, वाचिक और कायिक प्रयत्न करते हैं। नाटककार तद-

नुसार उसके कार्य-व्यापार के क्रम की योजना बनाता है जिन्हें कार्यावस्थाएँ कहा जाता है।

(ग) सन्धि—नाटक अथवा रूपक के इतिवृत्त का सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। समूचे नाटक की कथावस्तु के गठन को दृष्टिगत रखते हुए जो वस्तु-विभाग किया गया है, वह 'सन्धि' कहलाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्धि का आशय अर्थप्रकृति और कार्यावस्था की सन्धि से नहीं है। अभिनवगुप्त के अनुसार, "सन्धि रूपक के प्रधान कथानक का एक स्थल से दूसरे स्थल तक फैला हुआ वह भाग है जिसमें 'बीज' के विकास क्रम के अवस्थान विशेष और किसी कार्यावस्था के उपयोगी वृत्तांश की निबन्धना की गयी हो।" वस्तुतः सन्धि को सन्धि इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह सन्धि अथवा सन्धियों अथवा अपने ही विभिन्न अंगों से जुड़ी हुई होती है। नाटक की कथावस्तु की प्रत्येक सन्धि की परिधि में 'बीज' का एक निश्चित विस्तार और साथ ही एक 'कार्यावस्था' का प्रसार समाविष्ट होता है। कदाचित् इसी कारण भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में सन्धियों के स्वरूप का विवेचन करते हुए बीज का उल्लेख अनिवार्यतः किया है। पाँचों सन्धियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(i) मुख सन्धि—रूपक के वस्तुविन्यास में मुख की तरह सर्वप्रथम दीखने के कारण इसे मुख सन्धि का नाम दिया गया है। मुख सन्धि कथानक का वह अंश होता है जिसमें बीज का जन्म और प्रारम्भ (कार्यावस्था) के उपयुक्त वृत्त की रसमय अभिव्यक्ति हो।

(ii) प्रतिमुख सन्धि—प्रतिमुख सन्धि कथा का वह भाग है जिसमें (मुख सन्धि में आरोपित) बीज का सशक्त प्रकाशन और 'यत्न' (कार्यावस्था) के उपयुक्त वृत्त का नियोजन किया जाये। इस सन्धि के नामकरण का आधार यह है कि यह सन्धि मुख सन्धि के सामने अथवा आगे अवस्थित होती है।

(iii) गर्भ सन्धि—जिस प्रकार पृथ्वी में गूढ़ रूप से आरोपित बीज अंकुर रूप में फूटता है और फल की स्थिति की ओर उन्मुख होता है उसी प्रकार नाटक की कथावस्तु में गर्भ सन्धि में स्थित कथा-भाग नायक की फल प्राप्ति का संकेत देता है। इस प्रकार गर्भ सन्धि में दो बातें हुईं—नाटक के अन्त में फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति की खोज के माध्यम से 'बीज' की फलोन्मुखता का निदर्शन और 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था का नियोजन।

(iv) विमर्श सन्धि—विमर्श सन्धि का आशय कथा के ऐसे भाग से है जिसमें फलोन्मुख बीज के विकास को अवरुद्ध करने वाले कारणों से उत्पन्न विमर्श की स्थिति और नियताप्ति नामक कार्यावस्था का नियोजन होता है। विमर्श सन्धि को लेकर विद्वानों ने दो आपत्तियाँ प्रकट की हैं—पहली तो यह कि नियताप्ति और विमर्श दोनों परस्पर विरोधी होते हैं अतः इनका एक साथ नियोजन सम्भव नहीं हो सकता।

दूसरी आपत्ति यह है कि गर्भ सन्धि के अन्तर्गत फल-प्राप्ति की सम्भावना प्रतीत हो जाने पर विमर्श की सन्देहपूर्ण स्थिति अनुचित हो तथापि सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ये आपत्तियाँ अर्थपूर्ण नहीं दीखतीं। प्राप्त्याशा तथा गर्भ सन्धि में से जिस फल-प्राप्ति की सम्भावना स्पष्टतः दीखती है, वह अप्रत्याशित विघ्नों आदि के कारण अवरुद्ध भी तो हो सकती है। विघ्नों आदि के निराकरण के पश्चात् ही सफलता निश्चित हो पाती है। फलागम की प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार होते हैं—सम्भावना-संशय-तर्क-निर्णय अथवा नियताप्ति।

(v) **निर्वहण सन्धि**—निर्वहण सन्धि का आशय नाटक की विषय-वस्तु के सम्यक् समापन से होता है। उपर्युक्त अर्थप्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएँ तथा सन्धियाँ कथा के जिस भाग में फल-प्राप्ति की स्थिति को पहुँचती हैं, उसे 'निर्वहण' सन्धि कहते हैं।

विद्वानों ने इन पाँच सन्धियों के अतिरिक्त चौंसठ संध्यंगों का वर्णन भी किया है। इन संध्यंगों का प्रयोग निश्चित प्रयोजनों के लिए किया जाता है। नाट्यशास्त्रियों ने संध्यंगों के छः प्रयोजनों का वर्णन किया है जो कि इस प्रकार हैं—अभीष्ट कथा-वस्तु की रसपूर्ण योजना, कथावस्तु का अविच्छेद-मनोरंजकता का सफल निर्वाह, गोपनीय अंशों का गोपन, जो प्रसंग प्रकाशन के योग्य हों, उनका प्रकाशन तथा अपूर्वता का समावेश। ये सारे प्रयोजन अन्ततः नाट्य रस के उत्कर्ष से सम्बद्ध हैं। इन प्रयोजनों से नाटक की कथावस्तु में प्रवाह और पूर्वापर सम्बन्ध बना रहता है जिसके परिणामस्वरूप नाटक में अभीष्ट रस की सिद्धि हो जाती है।

अंक—संस्कृत भाषा में रचित रूपकों की कथावस्तु अंकों में बँटी होती है और अंकों को पुनः दृश्यों में विभाजित नहीं किया जाता रहा है। वस्तुतः संस्कृत के रूपकों में अंकों का प्रयोग दृश्यों के अर्थ में ही किया गया है। रूपक के अंकों की संख्या को लेकर विद्वानों ने सुनिश्चित नियमों का निर्धारण कर दिया है। उदाहरण के लिए, कई प्रकार के रूपक केवल एकांकी ही होते हैं, यथा भाण, व्यायोग, वीथी, तथा अंक। इसी प्रकार प्रहसन में दो अंक की योजना का विधान होता है और समवकार में अंकों की संख्या तीन तक हो सकती है। नाटिका, प्रकरणिका, डिम तथा ईहामृग में चार अंक तक हो सकते हैं। नाटक और प्रकरण में अंकों की संख्या 5 से 10 तक हो सकती है। रूपक के इन अंकों की विशेषताओं के सम्बन्ध में भारतीय नाट्यशास्त्र में पर्याप्त विचार किया गया है और निम्नलिखित चार विशेषताएँ निर्धारित की गयी हैं—

(1) एक अंक में यथासम्भव एक ही दिन में घटित कथावस्तु का नियोजन होना चाहिए।
(2) अंक में नायक का चरित्र सुस्पष्ट और प्रत्यक्ष होना चाहिए।
(3) जहाँ तक सम्भव हो एक अंक में एक ही कार्यावस्था का आरम्भ और समापन प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

(4) अंक में 'बिन्दु' की योजना अपेक्षित है जिससे कि पूर्ववर्ती और आगामी अंक की कथा में तारतम्य बना रहे।

(5) यथासम्भव पात्रों का जमघट लगने नहीं देना चाहिए और अंक के अन्त में तो उनकी संख्या न्यूनातिन्यून कर देनी चाहिए।

(6) अंक में घटना-बाहुल्य की स्थिति से भी बचना चाहिए।

(7) अंक में यथोचित रस-भाव की योजना की जानी चाहिए।

(2) **नायक**—नाटक का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नायक होता है। नायक का व्युत्पत्यार्थ होता है—आगे बढ़ाने वाला, ले जाने वाला आदि। नाटक में कथावस्तु को फलागम की स्थिति तक पहुँचाने वाले पात्र को नायक कहते हैं। प्रत्येक नाटक की रचना के पीछे कोई न कोई उद्देश्य होता है और उसकी कथावस्तु उसी उद्देश्य पर परिसमाप्त हो जाती है। भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने नायक, नायिका आदि के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। नायक में प्रधानतः दो प्रकार के गुणों की स्थिति मानी गई है—सामान्य गुण और विशिष्ट गुण। सामान्य गुणों में ऐसे गुणों का समावेश होता है जो कि सभी नायकों में सामान्यतः पाए जाते हैं। इन सामान्य गुणों में धैर्य, विनय, माधुर्य, कुलीनता, बुद्धिमत्ता, प्रियवादिता, शुचिता, कला-प्रेम, आत्म-सम्मान, वीरता, धर्मपरायणता, तेजस्विता, दृढ़ता, यौवन, दक्षता और शास्त्रनिष्ठा आदि की गणना की जाती है। ये सामान्य गुण तो प्रायः सभी नायकों में देखे जा सकते हैं और इन्हीं गुणों के बल पर नाटक का नायक सामाजिक के लिए सत्प्रेरणा जाग्रत करता है। 'नायक' नाटक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र होता है और स्वभावतः उसके चरित्र के उतार-चढ़ाव के प्रति प्रेक्षक अत्यन्त सचेत रहता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि साहित्य के प्रयोजनों की चर्चा करते समय भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने 'कांतासंमितउपदेश' के प्रति विशेष आग्रह व्यक्त किया है। नाटक भी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है अतः उसका भी एक प्रयोजन 'कांतासंमितउपदेश' देना होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव हो सकती है जबकि नायक में आदर्श चरित्र के दर्शन हों। आदर्श गुणों से युक्त नायक ही प्रेक्षकों को सत्कार्य की ओर प्रवृत्त कर सकता है।

विशिष्ट गुणों का आधार नायक की प्रकृति अथवा स्वभाव होता है। शास्त्र-कारों ने स्वभाव के आधार पर चार प्रकार के नायकों की परिकल्पना की है—उदात्त, ललित, शान्त और उद्धत। इन चारों गुणों के साथ ही धीरता भी एक अनि-वार्य गुण माना गया है और इस आधार पर चार प्रकार के नायक माने गए हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत। इन चारों प्रकार के नायकों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) **धीरोदात्त**—धीरोदात्त नायक शक्तिसम्पन्न, ऊर्जस्वी और हर्ष-शोक में

एक-सी गति वाला होता है। वह आत्मश्लाघा में विश्वास नहीं रखता और अत्यन्त विनम्र तथा दृढ़व्रत होता है। (क्षत्रिय) राजा, सेनापति, मन्त्री आदि की गणना इसी श्रेणी के नायकों में की जाती है। श्रीराम, युधिष्ठिर आदि धीरोदात्त नायकों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

(ख) **धीरललित**--धीरललित नायक कलाप्रेमी, स्वभाव से मृदु, निश्चिन्त और सुकुमार होता है। धीरललित नायक के उदाहरण के रूप में 'रत्नावली' का वत्सराज उल्लेख्य है।

(ग) **धीरशान्त**—धीरशान्त नायक में उपर्युक्त सामान्य गुणों के अतिरिक्त शान्त-प्रकृति और प्रसन्न-स्वभाव भी होता है। धीरशान्त नायक में अहंकार नहीं होता, वह कृपालु, विनयशील और नीतिपालक भी होता है। धीरशान्त नायकों में 'मालतीमाधव' का माधव और 'मृच्छकटिक' का चारुदत्त का उल्लेख किया जा सकता है।

(घ) **धीरोद्धत**—धीरोद्धत नायक मायावी, अहंकारी, प्रचण्ड, आत्मश्लाघी और अत्यन्त चंचल प्रकृति का होता है। इस श्रेणी के नायकों में परशुराम तथा भीमसेन आदि की गणना की जाती है।

नायकों के वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी है—प्रेम अथवा शृंगार। यह तो निर्विवाद है कि विश्व का श्रेष्ठतम साहित्य प्रत्यक्षत: अथवा परोक्षत: मनुष्य की प्रेम-वृत्ति से सम्बद्ध होता है और नाटक भी इस नियम का अपवाद नहीं है। अत: मनुष्य की प्रेम-वृत्ति के आधार पर रचित नाटकों के नायकों के वर्गीकरण का एक आधार शृंगार भी माना गया है। इस दृष्टि से चार प्रकार के नायकों का वर्णन मिलता है—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। अनुकूल नायक वह होता है जो एक ही नायिका से प्रेम करता है और उसके प्रति निरन्तर निष्ठावान रहता है। दक्षिण नायक दूसरी नायिका से प्रेम-सम्बन्ध बनाए रखता है और साथ ही जेठी नायिका के प्रति भी प्रेम-प्रदर्शन करता है। जो नायक छिपकर अन्य नायिका से प्रेम-सम्बन्ध जोड़ता है उसे शठ नायक कहते हैं। धृष्ट नायक वह होता है जिसका अन्य नायिका-प्रेम शारीरिक लक्षणों से उजागर हो गया हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नायक 'नाटक' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र होता है और नाटक की मूल कथावस्तु के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। प्रकरी और पताका गौण होती हैं अत: उनके नायक भी स्वभावत: गौण होते हैं और उनमें मुख्य नायक की तुलना में कम गुण होते हैं।

प्रतिनायक—मुख्य नायक के विरोधी पात्र को प्रतिनायक कहा जाता है जो कि स्वभाव से लोभी, पापी, दुष्कर्मी, व्यसनी, क्रूर और धीरोद्धत होता है। प्रतिनायक की परिकल्पना के पीछे नाटककार का एकमात्र उद्देश्य यह होता है कि असत् पर सत् की विजय का दिग्दर्शन कराया जाए और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह

प्रतिनायक का ऐसा चरित्रांकन करता है जो कि मुख्य शीर्षक के समक्ष अत्यन्त लघु, हीन, और नगण्य दीखता है। प्रतिनायकों के रूप में रावण, दुर्योधन आदि की परिकल्पना अत्यन्त सार्थक सिद्ध हुई है।

नायिका—नायक की प्रिया अथवा पत्नी को नायिका कहते हैं तथापि आधुनिक नाट्यशास्त्रियों के अनुसार यह कोई नियम नहीं है। आधुनिक नाट्यशास्त्रियों के मत से जो नारी-पात्र मुख्य कथा के विकास में प्रधान योगदान दे, वह नायिका होती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि यद्यपि नाटक में नायक की तरह ही नायिका की परिकल्पना भी महत्त्वपूर्ण होती है तथापि यह आवश्यक नहीं है कि नाटक में नायिका की योजना की ही जाए। दूसरे शब्दों में, नाटक की सम्पूर्ण योजना में नायक की स्थिति तो अनिवार्य है, नायिका की नहीं अर्थात् नाटक की स्थिति नायिका के अभाव में भी सम्भव होती है। नायिकाओं में भी नायक की भाँति ही आदर्श गुणों की स्थिति आवश्यक बताई गई है। भरतमुनि ने चार प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है—दिव्या, नृपतिनि, कुलस्त्री तथा गणिका। भरतमुनि का नायिका सम्बन्धी विवेचन परवर्ती नाट्यशास्त्रियों में अधिक समादृत नहीं हो सका। धनंजय ने तीन प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है—स्वकीया, परकीया और सामान्या। नायिकाओं का यह भेद-निरूपण सर्वमान्य सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि धनंजय द्वारा प्रस्तुत नायिका-भेद का आधार नायक-नायिका सम्बन्ध रहा है। इसी दृष्टि से नायिका की आठ अवस्थाओं की परिकल्पना की गई है—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया, और अभिसारिका। तथापि नायिका के मुख्य तीन भेद ही सर्वमान्य हैं— स्वकीया, परकीया और सामान्या।

नायिका में भी आदर्श गुणों की स्थिति आवश्यक मानी गई है। विद्वानों ने नायिका में असंख्य गुणों की स्थिति का वर्णन किया है किन्तु लगभग बीस गुण विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। शास्त्रीय भाषा में इन गुणों को अलंकार कहा जाता है। ये अलंकार अथवा गुण इस प्रकार हैं—अंगज, स्वभावज, और अयत्नज। अंगज के अन्तर्गत भाव, हाव और हेला आदि अलंकार आते हैं। स्वभावज के अधीन विभ्रम, विलास, विच्छिति, लीला, बिव्वोक, विहृत, ललित, कुट्टमित, मोट्टायित, किलकिंचित आदि गुणों की गणना की जाती हैं और अयत्नज अलंकारों में शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, धैर्य और प्रगल्भता आदि गुण आते हैं।

जाति के आधार पर नायिकाओं के चार भेदों का वर्णन किया गया है—दिव्या, कुलजा, क्षत्रिया तथा गणिका। दिव्या तथा क्षत्रिया नायिका धीरा, ललिता और उदात्त हो सकती हैं। कुलजा नायिका ब्राह्मण और वैश्य परिवार से सम्बद्ध होती हैं और वह प्रकृति से उदात्त होती है। गणिका साधारण स्त्री अथवा सामान्य होती है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के असंख्य भेद मिलते हैं और इसका

स्पष्ट कारण यह है कि प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने नायिका के भेद-निरूपण में अत्यधिक रुचि का निदर्शन किया है। नायिका-भेद-निरूपण का आधार केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ही नहीं अपितु कामशास्त्रीय ग्रन्थ भी रहे हैं। कई काव्यशास्त्रियों ने तो केवल नायक-नायिका भेद-निरूपण ही किया है और काव्यशास्त्रीय चिन्तन में उनका योगदान केवल यहीं तक सीमित है। इस दृष्टि से भानुमिश्र द्वारा रचित 'रसमंजरी' तथा रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। परिणामतः नायिकाओं के भेदों की संख्या सहस्रों तक पहुँच गई है। रुद्रट ने 384 प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है और भोजराज ने 143 प्रकार की नायिकाओं की परिकल्पना की है। विश्वनाथ ने पुनः 384 प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है जबकि भानुमिश्र ने 354 प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है। रूपगोस्वामी ने पुनः 360 प्रकार की नायिकाओं का विवेचन किया है। इस प्रकार नायिका-विवेचन का प्रसंग बहुत विस्तृत है अतः विस्तार-भय के कारण केवल मुख्य नायिका-भेदों का ही वर्णन कर दिया गया है।

अन्य पात्र—नाट्यशास्त्र में नायक, प्रतिनायक तथा नायिका के अतिरिक्त कई अन्य पात्रों की भी परिकल्पना की गई है। 'अन्य पात्र' कहलाने वाले सारे पात्र नायक और नायिका को सहयोग देते हैं। शास्त्रकारों ने अन्य पात्रों के अन्तर्गत पीठमर्द, विदूषक, विट, मन्त्री, सेनापति आदि का वर्णन किया है। पीठमर्द पताका का नायक होता है जो कि पताका कथा-भाग का निर्वहण करता है। संस्कृत नाटकों में विदूषक की कल्पना प्रायः की जाती रही है। विदूषक की योजना नायक के स्वभाव के अनुरूप की जाती है क्योंकि वह केवल प्रेक्षकों का मनोरंजन ही नहीं करता है अपितु नायक का अन्तरंग सहचर भी होता है। उसकी वेश-भूषा तथा हाव-भाव हास्योत्पादक होते हैं। विट ऐसे पात्र को कहते हैं जो किसी एक विद्या में निपुण हो। विट पात्रों की योजना बहुत कम नाटकों में की गई है। नायक की भाँति ही नायिका की सहायिकाएँ भी होती हैं जैसे कि सखी, परिप्राविजका, दासी, शिल्पिनी, पड़ेसिन, धाय आदि।

(3) **रस**—नाटक का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस होता है। रस ही नाटक का चरम लक्ष्य है तथा अन्य दो तत्त्व इसी लक्ष्य के उपकारक हैं। इस सम्बन्ध में एक विद्वान आलोचक कहते है कि "नाटकों का मुख्य उद्देश्य है सामाजिकों के हृदय में बीज रूप में स्थित रत्यादि भावों को अंकुरित करना, जिससे श्रृंगारादि रसों में निमग्न सामाजिक साधारणीकरण की अवस्था को प्राप्त कर सकें।" भरतमुनि ने नाटकों के प्रसंग में शान्त रस के अतिरिक्त अन्य आठों रसों का वर्णन किया है। तथापि श्रृंगार रस और वीर रस को ही सर्वाधिक महत्ता प्रदान की है।

रस से सम्बन्धित विवेचन रस-प्रकरण में विस्तार के साथ किया जा चुका है अतः विस्तार-भय के कारण प्रस्तुत प्रसंग में केवल यही जान लेना महत्त्वपूर्ण है कि नाटक में शान्त रस के अतिरिक्त अन्य आठों रसों की योजना अंगी रस-रूप में हो

सकती है। शान्त रस के सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि अभिनवगुप्त की दृष्टि से शान्त रस उतना उपयुक्त नहीं है जितना कि श्रृंगार अथवा वीर रस। कदाचित् इसी कारण नाटकों के प्रसंग में शान्त रस की परिकल्पना नहीं की गई है।

वृत्तियाँ और भाषा—नाटक के प्रसंग में नायक-नायिका के विशिष्ट व्यापार को वृत्ति कहते हैं। शास्त्रकारों ने चार प्रकार की वृत्तियों का वर्णन किया है—कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। साहित्यदर्पणकार के अनुसार—

'श्रृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।'

अर्थात् श्रृंगार रस कैशिकी वृत्ति, वीर, रौद्र एवं वीभत्स में सात्वती वृत्ति का सर्वत्र प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है तथा उग्रतापूर्ण भावों के लिए सात्वती और आरभटी वृत्तियों का प्रयोग किया जाता है। भारती वृत्ति का प्रयोग कोमल और उग्र—दोनों प्रकार के भावों के प्रसंग में किया जाता है। इन चारों वृत्तियों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

(क) कैशिकी—कैशिकी वृत्ति का सम्बन्ध नारी जाति के सामान्य लक्षणों के साथ जोड़ा जा सकता है। नारी जाति की एक अन्यतम विशेषता केशवती होना है। जो स्त्री घने और मनोहर केश राशि की स्वामिनी होती है उसे शास्त्रीय शब्दों में 'केशिका' कहते हैं। कैशिकी वृत्ति के जन्म का रहस्य यही है। कैशिकी वृत्ति की विशेषताएँ इस प्रकार हैं– नारी पात्रों की अधिकता, संगीत-योजना, काम-व्यवहार का समावेश, श्रृंगारिक वेश-भूषा और व्यवहार आदि।

(ख) सात्वती—सात्वती वृत्ति का सम्बन्ध मानव-मन के साथ जोड़ा जाता है। सत्व का अर्थ है मानव-मन। जिस वृत्ति के माध्यम से मानव-मन के विभिन्न रंग रूपों का अभिनय होता है, उसे सात्वती कहते हैं। रौद्र, वीर, शान्त तथा अद्भुत रसों में इसी वृत्ति का प्रयोग किया जाता है।

(ग) आरभटी—आरभटी वृत्ति का प्रयोग अधिकतर रौद्र आदि दीप्त रस के प्रसंगों के लिए किया जाता है। 'आर' शब्द का आशय चाबुक से होता है और चाबुक की भाँति उद्धृत व्यक्ति को आरभट कहा गया है। स्वाभावतः इस वृत्ति के अन्तर्गत प्रपंचतापूर्ण व्यवहार, छलछद्म का निदर्शन और द्वन्द्व युद्ध आदि की योजना होती है।

(घ) भारती—भारती का आशय वाणी से होता है और इसी आधार पर जिस वृत्ति में वाक्यों की अधिकता होती है उसे भारती कहा जाता है। भारती वृत्ति का प्रयोग अधिकतर पुरुष पात्रों द्वारा किया जाता है। नाटक के आमुख में भारती वृत्ति की उपादेयता सुविख्यात है।

भारतीय नाट्यशास्त्रयों ने वृत्तियों के साथ-साथ भाजणों पर भी विस्तार से

विचार किया है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में सुस्पष्ट नियम निर्धारित किए हैं। भाषा सम्बन्धी ये नियम स्वभावतः नाटक के उस युग की उपलब्धियाँ हैं जिसमें केवल संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का ही प्रयोग किया जाता था। भरतमुनि के अनुसार संस्कृत भाषा का प्रयोग क्षत्रिय राजाओं, सेनापतियों, विद्वानों, ब्राह्मणों, आदि द्वारा किया जाना चाहिए। राजपरिवार की कन्याएँ और राजमहिषी आदि भी संस्कृत का ही प्रयोग कर सकती हैं और किन्हीं विशेष प्रसंगों में गणिकाएँ आदि भी संस्कृत का प्रयोग कर सकती हैं। कतिपय विशिष्ट प्रसंगों के वर्णन में नियमतः संस्कृत का प्रयोग किया जाता है जैसे कि युद्ध, संधि, शुभ अथवा अशुभ प्रसंग आदि। प्राकृत का प्रयोग केवल नारी पात्रों तथा अधम पात्रों (पुरुष) द्वारा ही किया जा सकता है। किन्हीं परिस्थितियों में उच्च वर्गीय पात्र भी प्राकृत भाषा का प्रयोग कर सकते हैं।

कथोपकथन—नाटकों की प्रभावोत्पादकता में संवादों का भी भरा-पूरा महत्त्व होता है। संवादों की भाषा पात्रों की प्रकृति और प्रसंग के अनुरूप होनी चाहिए। अत्यन्त बोझिल और जटिल संवाद नाटक की रसात्मकता में बाधक होते हैं। कथोपकथन नाटकों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है क्योंकि नाटक की मूल कथा विभिन्न पात्रों के परस्पर संवादों के बल पर ही गति पाती है।

संकलनत्रय—पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने वस्तु, देश और काल की एकान्विति पर बहुत बल दिया है। इसके विपरीत भारतीय नाट्यशास्त्र में इस प्रकार के संकलन-त्रय के निर्वाह के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता तथापि आधुनिक नाटक-साहित्य के मूल्यांकन के प्रसंग में वस्तु, देश और काल की मर्यादा का बराबर ध्यान रखा जाता है और इसका स्पष्ट कारण यह है कि आधुनिक भारतीय साहित्य पर पिछली एक-दो शताब्दियों में पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। संकलनत्रय के अन्तर्गत नाटक की कथावस्तु, देश, काल में एकान्विति की बात कही जाती है। नाटक की वस्तु का निर्वाह अन्त तक निर्बाध और समान गति से होना चाहिए। देश का आशय यह है कि देश के विभिन्न स्थलों आदि से सम्बन्धित घटनाएँ अथवा कथाएँ ऐसे कौशल के साथ प्रस्तुत की जायें कि उनमें स्थान-विशेष की गन्ध न रह जाए और प्रेक्षक की विचार-शृंखला बनी रहे। काल-संकलन का आशय यह होता है कि नाटक की वर्षों में बिखरी हुई वस्तु ऐसे ढंग से प्रस्तुत की जाए कि प्रेक्षक को समय का अन्तराल तनिक भी न अखरे। डा० दशरथ ओझा के शब्दों में, "नाटककार की कला की विशेषता इसी में है कि वस्तु, देश और काल में यथासम्भव अन्तर कम हो और रंगमंच पर इस कला से अभिनय दिखाया जाए कि दर्शक का ध्यान ही उधर न जाए।"

नाटक के तत्व (पाश्चात्य मत)—भारतीय काव्यशास्त्रियों ने नाटक के तीन ही मुख्य तत्व स्वीकार किए हैं किन्तु पाश्चात्व नाट्यशास्त्रियों के अनुसार नाटक के

छः तत्त्व होते हैं यथा—वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। इन छः तत्त्वों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय मत द्वारा प्रतिपादित तीन तत्त्वों में इन छः तत्त्वों का सहज ही समाहार हो जाता है। वस्तु की सत्ता के सम्बन्ध में तो कोई विवाद्व नहीं हो सकता किन्तु पात्र, संवाद, देशकाल और शैली—इन चार तत्त्वों का समावेश भारतीय मत द्वारा प्रतिपादित 'नेता' तत्त्व में हो जाता है। उद्देश्य का आशय वस्तुतः नाटक के रस से होता है क्योंकि नाटक का चरम उद्देश्य रस-सृष्टि ही तो होता है।

नाटकों के प्रकार—नाटकों के भेद-निरूपण पर भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने विस्तार से विचार किया है और उनके मत से विषय, शैली और रंगमंचीयता—इन तीन दृष्टियों से नाटकों का भेद-निरूपण किया जा सकता है। विषय की दृष्टि से नाटकों को दो मुख्य भेदों में बाँटा गया है—(1) ऐतिहासिक अथवा पौराणिक और (2) सामाजिक। ऐतिहासिक नाटकों के पुनः दो उपभेद किए गए हैं—एक तो ऐसे नाटक जिनकी वस्तु भारतीय वाङ्मय के अठारह पुराणों में से किसी एक अथवा एकाधिक पुराणों से ली गई हो और दूसरे ऐसे नाटक जिनकी वस्तु आधुनिक इतिहास से ली गई हो। संस्कृत भाषा में उपलब्ध अधिकांश नाटक उपर्युक्त पहली श्रेणी में आते हैं जबकि दूसरी श्रेणी के नाटकों में महाराणा प्रताप, नीलदेवी आदि नाटक उल्लेख्य हैं। प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटक भी उपर्युक्त दूसरी श्रेणी में आते हैं।

सामाजिक नाटकों के अन्तर्गत ऐसे नाटक आते हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं का चित्रण किया जाता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु युग के समाज-सुधारक विषयक नाटक विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। भारतेन्दु युग में नाटकों में ही नहीं, समूचे साहित्य में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मोड़ आया और इस युग के नाटक विभिन्न प्रकार की जन-समस्याओं को लेकर सामने आए। इन सामाजिक नाटकों में विधवा विवाह, अनमेल विवाह, बाल-वृद्ध विवाह, अछूतोद्धार, मद्यपान निषेध, वर्णभेद आदि की समस्याओं का सजीव चित्रण किया गया।

रंगमंचीयता की दृष्टि से नाटकों के दो मुख्य भेद किए गए हैं—एक तो अभिनय दृष्टिप्रधान और दूसरा पाठ्य-नाटक। अभिनय दृष्टिप्रधान नाटकों के अन्तर्गत ऐसे नाटक आते हैं जो रंगमंच पर कुशलता के साथ अभिनीत किए जा सकते हैं। इनकी कथावस्तु की सम्पूर्ण योजना ही रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तैयार की जाती है। इस प्रकार के नाटकों में स्वभावतः साहित्यिकता की पुट नहीं के बराबर होती है। इसके विपरीत पाठ्य-नाटक विशुद्ध रूप से साहित्यिक होते हैं और उनका आनन्द केवल पढ़ कर ही लिया जा सकता है। ऐसे नाटकों को रंग-मंच पर अभिनीत करना अत्यन्त दुष्कर कार्य होता है क्योंकि इनकी रचना ही अभि-नेयता से इतर उद्देश्य से की जाती है। तथापि ऐसे नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए नाटक की सम्पूर्ण योजना में किंचित संशोधन कर दिए जाते हैं। संस्कृत

के अधिकांश नाटक और हिन्दी के उच्च कोटि के समझे जाने वाले नाटक इसी श्रेणी में आते हैं। इस दृष्टि से जयशंकर प्रसाद जी के प्रायशः सारे ही नाटक उल्लेख्य हैं क्योंकि उनके नाटक अत्यन्त उच्च स्तर के हैं और उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए विशिष्ट प्रकार के कुशल अभिनेताओं की अपेक्षा रहती है। स्वभावत: ऐसे नाटकों का आनन्दलाभ भी सुविज्ञ और विद्वान पाठक ही उठा सकते हैं।

पूर्वरंग और प्रस्तावना—नाटक के तत्त्वों के विवेचन के प्रसंग में पूर्वरंग और प्रस्तावना पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। 'पूर्वरंग' भारतीय धार्मिक वृत्ति का परिचायक है। नाटक के आरम्भ में प्रस्तुत मांगलिक विधान को पूर्वरंग कहते हैं। पूर्वरंग में नाटककार सभी देवी-देवताओं से नाटक की निर्विघ्न समाप्ति की प्रार्थना करता है। पूर्वरंग के पश्चात् 'प्ररोचना' की योजना होती है जिसमें नाटक की विषय-वस्तु की सूचना दी जाती है।

पूर्वरंग के पश्चात् नाटक के आरम्भ की सूचना दी जाती है और यह कार्य सूत्रधार और उसके सहयोगी पात्रों के मध्य संवादों के माध्यम से सम्पन्न होता है। नाट्यारम्भ सम्बन्धी यह सूचना ही प्रस्तावना कहलाती है। पूर्वरंग और प्रस्तावना की योजना तीन उद्देश्यों से की जाती है—(क) मंगल विधान, (ख) अभिनेय नाटक और प्रतिपाद्य विषय-वस्तु से सम्बन्धित सूचना, (ग) संगीत और संवादों के माध्यम से प्रेक्षकों को मानसिक रूप से रसास्वादन के योग्य बनाना।